Downloaded from https:// www.studiestoday.com

भारत का इतिहास

कक्षा–12

माध्यमिक शिक्षा बोर्ड राजस्थान, अजमेर

राजकीय विद्यालयों में निःशुल्क वितरण हेतु

प्रकाशक

राजस्थान राज्य पाठ्यपुस्तक मण्डल, जयपुर

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

मौर्य साम्राज्य (ई.पू. 323 से 185 ई.पू. तक)

मौर्य साम्राज्य की स्थापना के साथ ही भारतीय इतिहास सुदृढ़ धरा पर अवतरित होता है। विदेशी राज्यों से कूटनीतिक संबंधों की शुरुआत होती है। भारत के राजनीतिक एकीकरण एवं भारत वर्ष की वास्तविक संकल्पना दृष्टिगोचर होती है। मौर्य साम्राज्य के इतिहास के विषय में हमें विभिन्न स्रोतों से जानकारी मिलती है। उनमें से कौटिल्य का अर्थशास्त्र, विशाखदत्त का मुद्राराक्षस, सोमदेव की कथा सरितसागर , क्षेमेन्द्र की वृहत्कथामंजरी, दीपवंश, महावंश टीका, भद्रबाहु के कल्पसूत्र, स्ट्रेबो, प्लूटार्क, जस्टिन आदि यूनानी यात्री, फाह्यान, हेनसांग, इत्सिंग आदि चीनी यात्री, रुद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख एवं अशोक के अभिलेख जो हमें पुरातात्विक खुदाई के दौरान मिले हैं, आदि मुख्य स्रोत हैं।

चन्द्रगुप्त मौर्य ने अपने गुरु विष्णुगुप्त अथवा चाणक्य (कौटिल्य) की सहायता से नंद वंश के अन्तिम शासक घनानंद को हराकर 322 ई.पू. मौर्य साम्राज्य की स्थापना की। चन्द्रगुप्त मौर्य की 'चन्द्रगुप्त' संज्ञा का प्राचीनतम अभिलेखीय साक्ष्य रुद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख से मिलता है।मगध के राजसिंहासन पर बैठकर चन्द्रगुप्त ने एक ऐसे साम्राज्य की नींव डाली जो सम्पूर्ण भारत में फैला था। चन्द्रगुप्त के विषय में प्लूटार्क कहता है कि ''चन्द्रगुप्त ने छः लाख की सेना लेकर सम्पूर्ण भारत पर अधिकार कर लिया।''

चन्द्रगुप्त मौर्य ने उत्तरी–पश्चिमी भारत को सिकन्दर के उत्तराधिकारियों से मुक्त कर, नंद वंश का उन्मूलन कर, सेल्यूकस को पराजित कर संधि के लिए विवश करके जिस साम्राज्य की स्थापना की, उसकी सीमाएं उत्तर–पि

अशोक–(273 ई0 पू0 से 232 ई0 पू0)– बिन्दुसार की मृत्यु की उपरान्त अशोक विशाल मौर्य साम्राज्य की गद्दी पर बैठा। करीब चार वर्ष के सत्ता–संघर्ष के बाद अशोक का विधिवत् राज्याभिषेक करीब 269 ई0 पू0 में हुआ, वैसे तो अशोक 273 ई0 पू0 में ही मगध के राजसिंहासन पर बैठ चुका था। अभिलेखों में अशोक को 'देवानामप्रिय', 'देवनाप्रियदर्शी' एवं राजा के सम्बोधन से सम्बोधित किया गया है। सर्वप्रथम मस्की अभिलेख में 'अशोक' नाम मिलता है। गूर्जरा लेख में भी इसका नाम 'अशोक' ही मिलता है। अपने राज्याभिषेक के सातवें वर्ष में अशोक ने कश्मीर एवं खोतान क्षेत्र के अनेक भागों को विजित कर मौर्य साम्राज्य में मिलाया। अशोक के प्राप्त सभी अभिलेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसका साम्राज्य उ र–पश्चिमी सीमा प्रांत (अफगानिस्तान), दक्षिण में कर्नाटक, पश्चिम में काठियावाड़ एवं पूर्व में बंगाल की खाड़ी तक था। कल्हण की राजतरंगिनी के अनुसार अशोक ने कश्मीर नदी के किनारे 'श्रीनगर' नामक नगर की स्थापना की तथा नेपाल में ललितपत्तन नगर बसाया।

एक युग पुरुष के रूप में अशोक ने मौर्य साम्राज्य को अपनी न

श्रेष्ठ पवित्र नैतिकता : श्रेष्ठ नैतिक, पवित्र आचरण, सदाचार एवं सत्यवादिता पर बल दिया।

विभिन्न वर्गों, जातियों और संस्कृतियों को एक सूत्र में बाँधने तथा अपनी प्रजा के नैतिक उत्थान के लिए अशोक ने जिन आचारों की संहिता प्रस्तुत की, उसे अभिलेखों में 'धम्म' कहा गया है। 'धम्म' के सिद्धान्त हर धार्मिक सम्प्रदाय से संबंध रखने वाले लोगों के लिए स्वीकार्य थे। अशोक के अभिलेखों में उस व्यापक नीति अर्थात् धम्म का उल्लेख किया गया, जो सामान्य व्यवहार को नए ढांचे में ढालने के लिए आवश्यक थी।

'धम्म' के बुनियादी सिद्धान्तों में अशोक ने सर्वाधिक बल सहिष्णुता पर दिया। प्रथम स्वयं व्यक्तियों की सहिष्णुता, द्वितीय विभिन्न विचारों, विश्वासों, धर्मों एवं भाषाओं में सहिष्णुता, इसे अशोक ने 7, 11 व 12वें शिलालेख व दूसरे लघु शिलालेख में उल्लेखित किया। जिसमें माता–पिता की सेवा, गुरुओं का आदर, दासों के साथ उचित व्यवहार, धर्म–सार की वृद्धि, वाक्संयम तथा सम्वाय पर बल दिया। धम्म का दूसरा बुनियादी सिद्धान्त अहिंसा था, जिसका तात्पर्य युद्ध व हिंसा द्वारा विजय प्राप्ति का त्याग और जीव हत्या का विरोध था जो प्रथम व 11वें शिलालेख व पांचवें स्तम्भ लेख में मिलते हैं।

जनकल्याणकारी अवधारणा – धम्म नीति में ऐसे कार्य भी शामिल थे, जो आम नागरिकों के कल्याण से संबंधित थे। जो सातवें स्तम्भ लेख व दूसरे शिलालेख में लिखित है, जिसमें वृक्षारोपण, सराय, सड़कें, सिंचाई, कुओं के निर्माण आदि की व्यवस्था थी।अशोक ने नवें शिलालेख में अंधविश्वासों के फलस्वरूप जो निरर्थक अनुष्ठान और यज्ञ होते थे, ऐसे बाह्याडम्बरों की निंदा की। प्रथम स्तम्भ लेख में धम्म की प्राप्ति के लिए धर्म यात्रा, धर्म मंगल, धर्म दान, शुश्रूषा आदि की व्यवस्था की।

अशोक दूसरे स्तम्भ लेख में धम्म की परिभाषा बताते हुए कहता है "अपासिनवे बहुकयाते दया दाने सचे सोचये माधवे साधवे च" अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति पापों से दूर रहे, कल्याणकारी कार्य करे, दया, दान, सत्य, पवित्रता व मृदुता का अवलम्बन करे। तीसरे स्तम्भ लेख में वह प्रचंडता, निष्ठुरता, क्रोध, घमण्ड एवं ईर्ष्या आदि के निषेध का कहता है, इनके लिए व्यक्ति आत्म निरीक्षण अर्थात् 'निज्झति' करे एवं सबके साथ श्रेष्ठ व्यवहार करे।

धम्म को फ्लीट ने राजधर्म, राधाकुमुद मुखर्जी ने सार्वभौम धर्म एवं भण्डारकार ने उपासक बौद्ध धर्म कहा। यद्यपि अशोक का व्यक्तिगत धर्म बौद्ध था। महावंश व दीपवंश के अनुसार अशोक ने मोगलिपुत्र तिस्स की अध्यक्षता में तृतीय बौद्ध संगीति (सभा) बुलाई और मोगलिपुत्र तिस्स की सहायता से संघ में एकता और अनुशासन लाने का प्रयास किया, इससे उसके बौद्ध होने की पुष्टि होती है। तथापि 'धम्म' में सर्वमान्य आचार तत्वों और नैतिक नियमों का समन्वय था तथा धम्म अत्यन्त ही सरल, सुबोध, पवित्र, नैतिक और व्यावहारिक था। उसका धम्म सर्वमंगलकारी था, जिसका उद्देश्य प्राणिमात्र का उद्धार करना था।

धम्म की नीति की क्रियान्वति– अशोक ने धम्म के प्रतिपादन हेतु व्यावहारिक उपाय किए। इस हेतु अशोक ने न केवल युद्ध की नीति का परित्याग किया, अपितु आम जन के दुःख–दर्द एवं उनकी आवश्यकताओं को समझा। उसने नौकरशाहों को तत्काल न्याय देने तथा लोकहित के कार्य करने हेतु पाबन्द किया।

अशोक ने सार्वजनिक हित के कार्य किए यथ परिवहन, सिंचाई, कुओं, सरायों आदि का निर्माण कराया। इन समस्त सार्वजनिक हित के कार्यों का उद्देश्य धम्म को स्वीकार कराना था। अशोक ने धम्म के उपदेशों को पाषाणों पर उत्कीर्ण कराया तथा ऐसी जगहों पर लगाया जहाँ पर आम जन पढ़ सके, इस तरह अशोक ने धम्म को सार्वजनिक एवं सार्वभौम बना दिया। हिंसा पर प्रतिबंध लगाया तथा पशुबलि को निषेध किया। समान नागरिक आचार संहिता, दण्ड संहिता के सिद्धान्त को जन्म दिया तथा क्रियान्वित किया। जगह–जगह धम्म आयोग भेजे एवं विदेशों में भी धम्म का प्रचार–प्रसार किया। धम्म महामात्रों की नियुक्ति की व उनके दायित्वों का प्रतिपादन किया।

धम्म की नीति का मूल्याँकन – यद्यपि धम्म के मूल सिद्धान्त सहिष्णुता, अहिंसा एवं सदाचार थे, जो कि भारतीय संस्कृति के प्रारम्भ से ही के मूल तत्व रहे हैं तथा वर्तमान में भी उनका महत्त्व यथावत् है। अशोक के बाद के सभी शासकों ने इन सिद्धान्तों को स्वीकार किया, तथापि समग्र रूप से यह नीति अशोक के पश्चात् फलीभूत नहीं हो सकी, इसके अनेक कारण थे। धम्म की नीतियों का अशोक के उत्तराधिकारी उसी रूप में क्रियान्वित नहीं कर सके। धम्म दुर्बल शासकों, राजनीतिक अनिश्चितता व सीमाओं की असुरक्षा के कारण फलीभूत नहीं हो सका, क्योंकि धम्म की नीति का क्रियान्वयन शान्तिकाल में ही संभव है, जब राष्ट्र आन्तरिक व बाहरी रूप से युद्धों से पूर्णतया मुक्त हो। परवर्ती शासक अशोक की दूरदर्शिता को नहीं समझ पाये, धम्म महामात्र अपने असीमित अधिकारों द्वारा जनता के कार्यों में अवांछनीय हस्तक्षेप करने लग गये। सामाजिक तनाव ज्यों के त्यों बने रहे एवं साम्प्रदायिक संघर्ष बराबर चलते रहे, क्योंकि समस्याएं व्यवस्था की जड़ों में निहित थी।

उपर्युक्त कारणों से धम्म की नीति फलीभूत नहीं हो सकी, तथापि अशोक सराहना का पात्र है कि उसने एक पथ प्रदर्शक सिद्धान्त की आवश्यकता को महसूस करते हुए धम्म की नीति का प्रतिपादन किया, जो वर्तमान में भी प्रासंगिक है।

मौर्य प्रशासन–

मौर्य साम्राज्य के प्रशासन की विस्तृत जानकारी इण्डिका, अर्थशास्त्र आदि ग्रंथों एवं तत्कालिक अभिलेखों से प्राप्त होती है। मौर्य प्रशासन के अन्तर्गत भारत में प्रथम बार राजनीतिक एकता देखने को मिली तथा सत्ता का केन्द्रीकरण हुआ। साम्राज्य में प्रशासनिक अधिकारियों की नियुक्तियों से पूर्व उनकी योग्यता एवं चरित्र को परखा जाता था, जिसे 'उपधा

परिक्षण' कहते थे। मौर्य साम्राज्य के प्रशासन का ढांचा निम्नलिखित था–

केन्द्रीय प्रशासन

राजा– राजा शासन प्रणाली का केन्द्र बिन्दु था, महत्त्वपूर्ण एवं नीति संबंधी निर्णय राजा स्वयं लेता था। व्यवस्थापिका, न्यायपालिका व कार्यपालिका की समस्त शक्तियाँ उसमें निहित थी।

मंत्रिपरिषद्– राजा को परामर्श देने के लिए मन्त्रिपरिषद् थी, जिनकी नियुक्ति वंश व योग्यता के आधार पर राजा करता था। अन्तिम निर्णय का अधिकार राजा का था। एक आन्तरिक परिषद् होती थी, जिसे मन्त्रिण् कहा जाता था। जिसके 3–4 सदस्य होते थे। महत्त्वपूर्ण विषयों पर राजा मन्त्रियों से परामर्श करता था।

अधिकारी– शीर्षस्थ राज्याधिकारी जो संख्या में 18 थे। इन्हें 'तीर्थ' कहा जाता था। वे केन्द्रीय विभागों का कार्यभार देखते थे, जिनमें कोषाध्यक्ष, कर्मान्तिक, समाहर्ता, पुरोहित एवं सेनापति प्रमुख थे। इसके अतिरिक्त अर्थशास्त्र में 27 अध्यक्षों का उल्लेख मिलता है, जो राज्य की आर्थिक गतिविधियों का नियमन् करते थे। वे कृषि, व्यापार, वाणिज्य, बांट–माप, कताई–बुनाई, खान, वनों आदि का नियमन एवं नियंत्रण करते थे।

नगर प्रबन्ध– नगर प्रबन्ध हेतु 5–5 सदस्यों की 6 समितियां होती थी, जो विभिन्न कार्यों, उद्योग एवं शिल्प, विदेशियों, जनगणना, वाणिज्य–व्यापार, निर्मित वस्तुओं की देखभाल, बिक्रीकर आदि के नियमन–विपणन एवं रखरखाव का कार्य करती थी। अर्थशास्त्र के अनुसार 'नागरक' नगर प्रशासन का अध्यक्ष, गोप तथा स्थानिक उसके सहायतार्थ कर्मचारी थे।

सेना– सैन्य विभाग का सबसे बड़ा अधिकारी सेनापति होता था। सेना की छः शाखाएँ थी। जो क्रमशः पैदल, अश्व, हाथी, रथ, यातायात एवं नौ सेना में विभक्त थी। 5–5 सदस्यों की समिति इनकी देखरेख करती थी, जबकि कौटिल्य अर्थशास्त्र में चतुरंगबल को सेना का मुख्य अंग बताता है। 'नायक' युद्धक्षेत्र में सेना का नेतृत्व करने वाला अधिकारी होता था।

गुप्तचर व्यवस्था– प्रशासन तन्त्र के साथ–साथ गुप्तचर्या का भी विस्तृत जाल बिछाया गया था, जो मन्त्रियों से लेकर आम जनता की गतिविधियों पर नजर रखते थे। गुप्तचरों को संस्था एवं संचार नाम से पुकारा जाता था।

न्याय– धर्म, व्यवहार, चरित्र एवं राजशासन न्याय संहिता के स्रोत थे। धर्मस्थीय एवं कंटक–शोधक न्यायालय क्रमशः दीवानी तथा फौजदारी मामले सुलझाते थे। न्यायपीठ पद्धति विद्यमान थी, राजा सर्वोच्च न्यायधीश था। राजुक, व्यावहारिक आदि न्यायिक अधिकारी थे। संग्रहण व द्रोणमुख स्थानीय एवं जनपद स्तर के न्यायालय होते थे। दण्ड व्यवस्था अत्यन्त कठोर थी।

राजस्व प्रशासन– समाहर्ता राजस्व विभाग का प्रमुख अधिकारी था। दुर्ग, राष्ट्र, व्रज, सेतु, वन, खाने, आयात–निर्यात आदि राजस्व प्राप्ति के मुख्य स्रोत थे। सन्निधाता राजकीय कोष का मुख्य अधिकारी होता था।

जनोपयोगी कार्य– मौर्य साम्राज्य में जनोपयोगी सेवाओं में सिंचाई, सड़क, सराय, चिकित्सा आदि को महत्त्व दिया गया, जिसकी व्यवस्था प्रशासनिक अधिकारी करते थे।

प्रांतीय शासन – साम्राज्य चार प्रान्तों में विभाजित था। जिनका प्रशासक राजकुमार होता था, जो मंत्रिपरिषद् एवं अमात्यों के माध्यम से शासन संचालित करता था। चार प्रमुख प्रान्त थे–उत्तरापथ,दक्षिणापथ,अवन्तिपथ एवं मध्यप्रान्त। धर्म महामात्र तथा अमात्य प्रान्तीय अधिकारी थे, जो धम्म एवं अन्य कार्य देखते थे। प्रान्तों को आहार या विषय में बाँटा गया था, जो विषयपति के अधीन होते थे।

जनपद व ग्रामीण – जनपद स्तर पर प्रदेष्ट, राजुक व युक्त नाम अधिकारी थे जो भूमि, न्याय व लेखों संबंधी दायित्व वहन करते थे। ग्रामिक, ग्रामीण स्तरीय अधिकारी था। गोप एवं स्थानिक जनपद व गाँवों के बीच मध्यस्थता का कार्य करते थे।

इस प्रकार मौर्यकालीन प्रशासन एक केन्द्रीयकृत व्यवस्था थी। जनमत का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्थाएँ प्रायः नगण्य थी। गुप्तचर सार्वजनिक एवं व्यक्तिगत मामलों में हस्तक्षेप करते थे। नौकरशाही को विस्तृत अधिकार प्राप्त थे।

अशोक के प्रशासनिक सुधार – अशोक ने चन्द्रगुप्त मौर्य की प्रशासनिक व्यवस्था का अनुसरण किया यद्यपि उसने अपनी नीतियों एवं उद्देश्यों के क्रियान्वयन की दृष्टि से कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन एवं सुधार भी किए। अशोक ने प्रजा को अपनी संतान बताया एवं राजा के कर्त्तव्य के रूप में सर्वलोकहित और पराक्रम को रखा, जिसका उल्लेख उसके चौथे स्तम्भ लेख एवं कलिंग पृथक लेख में मिलता है। राजुक, युक्त एवं प्रादेशिक आदि अधिकारियों की नियुक्ति की, जो न्याय भूमि व लेखा संबंधी थे। 13वें वर्ष में अशोक ने धम्म महापात्र पद का सृजन किया, जिनका कार्य विभिन्न सम्प्रदायों में सांमजस्य, अकारण दण्डितों के परिवार को सहायता प्रदान करना था। अशोक ने ऐसी व्यवस्था की, जिसमें हर समय, हर जगह राजा के पास जनता के सुख–दुःख एवं समस्याओं की खबर पहुंचे। इस हेतु अशोक ने प्रतिवेदकों की नियुक्ति की, जिसका उल्लेख छठे शिलालेख में मिलता है।

न्यायिक व्यवस्था में एकरूपता लाने के लिए 26वें वर्ष में राजुकों को न्याय संबंधी मामलों में स्वतन्त्र अधिकार प्रदान किए, जिसका उल्लेख चौथे स्तम्भ लेख में मिलता है। अशोक ने दण्डविधान को उदार बनाया एवं अमानवीय यातनाओं को बंद किया। अभिषेक दिवस पर बन्दियों को मुक्त किया, जिसका उल्लेख पांचवें स्तम्भ लेख में मिलता है। मृत्युदण्ड प्राप्त व्यक्तियों को 3 दिन का समय पश्चाताप हेतु दिया, जिसका उल्लेख चौथे स्तम्भ लेख में मिलता है। अहिंसापरक सुधारों में अशोक ने युद्ध नीति को त्यागा तथा जहाँ तक संभव हो जीव हिंसा न करने की आज्ञा दी तथा समाजों पर प्रतिबंध लगाया। अशोक ने लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा को जन्म दिया तथा प्राणिमात्र के कल्याण के लिए चिकित्सा, सड़कें, कुएं व वृक्षारोपण आदि कार्यों पर बल दिया व ग्रामीण विकास को प्राथमिकता थी। स्त्राध्यक्ष, वृजभूमिक महामात्र, नगर व्यावहारिक, अन्तमहामात्र आदि की नियुक्ति क्रमशः स्त्री, पशु संरक्षण, न्याय व सीमावर्ती क्षेत्रों से संबंधित थी। इन नियुक्तियों के माध्यम से अशोक ने प्रशासन को आम जनता से जोड़ा। धम्म

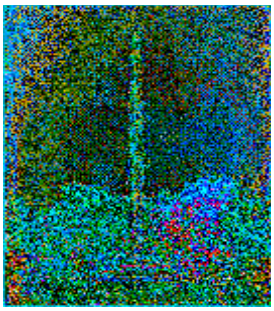
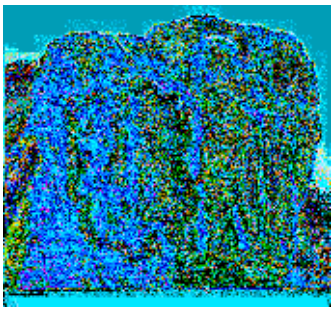

प्रयाग स्तंभ अभिलेख अमरावती मूर्तिशिल्प में अशोक

का आविष्कार करके, राजा, प्रजा एवं नौकरशाही के लिए एक संविदा तैयार की, जिससे अन्तः संबंधों में प्रगाढ़ता आई। अशोक ने वैदेशिक नीति को समसामयिक बनाया। इस प्रकार अशोक ने पूर्व प्रचलित मौर्य प्रशासन को ओर अधिक दक्ष एवं सक्षम बनाया।

गुप्त साम्राज्य की स्थापना, आर्थिक स्थिति, कला, साहित्य एवं विज्ञान

गुप्त साम्राज्य (240 ई0 से 550 ई0 तक)

गुप्त साम्राज्य का उदय तीसरी शताब्दी के अन्त में हुआ था। विष्णु पुराण, वायु पुराण और भागवत पुराण से ज्ञात होता है कि आरम्भिक गुप्त राज्य में मगध एवं उत्तर–पश्चिम बंगाल तक गंगा नदी के तटीय के प्रदेश सम्मिलित थे।

श्रीगुप्त (लगभग 240 ई0 – 280 ई0)– प्रभावती गुप्ता के पूना ताम्रपत्र अभिलेख में श्रीगुप्त का उल्लेख गुप्त वंश के 'आदिराज' के रूप में किया गया है। इनका शासन काल 240ई0 से 280 ई0 तक रहा। श्रीगुप्त ने महाराज की उपाधि धारण की। श्री गुप्त स्वतंत्र शासक न होकर संभवतः किसी शासन के अन्तर्गत सामन्त थे।

घटोत्कच (280 ई0 – 319 ई0)– लगभग 280 ई0 में श्रीगुप्त ने घटोत्कच को अपना उत्तराधिकारी बनाया, इसने भी महाराज की उपाधि धारण की। प्रभावती गुप्ता के पूना एवं रिद्धपुर ताम्रपत्र अभिलेखों में घटोत्कच को गुप्त वंश का प्रथम राजा बताया गया है, इसका राज्य सम्भवतः मगध के आस–पास तक ही सीमित था। इसने 319ई0 तक शासन किया।

चन्द्रगुप्त प्रथम (319ई0 – 335ई0)– घटोत्कच के उत्तराधिकारी के रूप में सिंहासनारूढ़ चन्द्रगुप्त प्रथम एक प्रतापी राजा था,उसने उस समय के प्रसिद्ध लिच्छवि कुल की कन्या कुमार देवी से विवाह किया। इस विवाह के उपरान्त गुप्त वंश की प्रसिद्धि बढ़ने लगी। उसने 'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण की, जो प्रायः सर्वोच्च शासन के लिए प्रयोग की जाती है। चन्द्रगुप्त प्रथम ने एक संवत् 'गुप्त संवत्' (319–320ई0) के नाम से चलाया।

समुद्रगुप्त (335 ई0 – 375ई0)– चन्द्रगुप्त प्रथम के बाद उसका पुत्र समुद्रगुप्त राजगद्दी पर बैठा। समुद्रगुप्त के दरबार में प्रसिद्ध कवि हरिषेण रहता था, जिसने प्रयाग प्रशस्ति लेख में समुद्रगुप्त के विजय अभियानों का उल्लेख किया। यह अभिलेख उसी स्तंभ पर उत्कीर्ण है, जिस पर अशोक का स्तम्भ लेख है। इसने अपनी विजयों की उद्घोषणा हेतु 'अश्वमेध यज्ञ' सम्पन्न करवाया था। समुद्रगुप्त के प्राप्त सिक्कों में कुछ पर 'अश्वमेध पराक्रम' लिखा मिलता है।

प्रयाग स्तंभ अभिलेख जो इलाहाबाद, उतरप्रदेश में विद्यमान हैं, गुप्तकाल का महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक स्रोत है। जिसमें समुन्द्रगुप्त के राज्याभिषेक, दिग्विजय एवं व्यक्तित्व पर विशद् प्रकाश डाला गया है तथा कई अधिकारियों के पदों व नामों के उल्लेख से गुप्तकालीन शासन व्यवस्था की जानकारी मिलती है। अलंकारिक संस्कृत भाषा, ब्राह्मी लिपि व चम्पूशैली तात्कालिक समृद्ध साहित्य के प्रगति की प्रतीक है। प्रयाग प्रशस्ति में समुद्रगुप्त को ''कविराज'', गायन व संगीत में दक्षता में गुरु तुम्बरू व नारद को लज्जित करने वाला, लाख गायों का दानी, उच्चकोटि का विद्वान, विद्या का संरक्षक एवं धर्म का प्राचीर कहा गया। ऐरण अभिलेख में उसे पराक्रम तथा विजय का स्रोत कहा गया। अश्वमेघ प्रकार व वीणा बजाते सिक्कों आदि से समुद्रगुप्त के विद्वान, संगीतज्ञ, गायक, दानी, धर्मनिष्ठ, पराक्रमी, विनयशील तथा विजयाकांक्षी आदि वैयक्तिक गुणों का पता चलता है।

श्रीलंका के राजा मेघवर्मन ने कुछ उपहार भेजकर समुद्रगुप्त से गया में एक बौद्ध मन्दिर बनवाने की अनुमति मांगी थी। समुद्रगुप्त का साम्राज्य विस्तार में कश्मीर, पश्चिमी पंजाब, पश्चिमी राजपुताना, सिंध और गुजरात के अतिरिक्त शेष सारा भारत सम्मिलित था। समुद्रगुप्त ने भारत में एक नए युग की स्थापना की, वह अखिल भारतीय साम्राज्य के आदर्श से प्रेरित हुआ तथा सम्पूर्ण भारत वर्ष को राजनीतिक एकता के सूत्र में बाँधा।

समुद्रगुप्त की विजय – समुद्रगुप्त एक महान् शासन, सेनापति, कूटनीतिज्ञ, बहुआयामी प्रतिभा से युक्त यर्थाथवादी व्यक्तित्व था। उसके दरबारी कवि एवं महासंधिविग्रहक हरिषेण ने प्रयाग प्रशस्ति में अपने आश्रयदाता समुद्रगुप्त के पराक्रम व दिग्विजय का वर्णन किया है।

समुद्रगुप्त ने सर्वप्रथम आर्यवर्त अर्थात् गंगा, यमुना दोआब पर सैनिक अभियान किया। जो दो चरणों में पूरा हुआ। नौ राजाओं रूद्रवेद, मतिल, नागदत्त, चन्द्रवर्मन, गणपति, नाग, नागसेन, अच्युत, नंदी एवं बलवर्मा को पराजित किया, जिन्हें राजप्रसभोद्धरण की नीति के तहत साम्राज्य में मिला लिया।

समुद्रगुप्त ने दक्षिण के 12 राज्यों कौशल, महाकान्तर, कोरल, कोट्टूर, पिष्टपुर, एरनपल्ली, कांची, अवमुक्त, वैंगी, पल्लक, देवराष्ट्र, कुस्थलपुर आदि को पराजित किया। लेकिन उसने उन्हें ग्रहणमोक्षानुग्रह की नीति अर्थात् ग्रहण (शत्रु पर अधिकार), मोक्ष (शत्रु को मुक्त करना) एवं अनुग्रह (राज्य को लौटाकर) के तहत फिर मुक्त कर दिया। वह जानता था कि इन दूरस्थ भागों पर प्रत्यक्ष शासन असंभव नहीं तो मुश्किल अवश्य था। अतः उसने ग्रहणमोक्षानुग्रह की व्यवहारिक नीति का अवलम्बन किया।

समुद्रगुप्त ने मध्य भारत के आटविकों को भी परास्त किया व उन्हें अपना भृत्य बना दिया। सीमान्त प्रदेशों के राजतन्त्रात्मक एवं गणतन्त्रात्मक राज्यों में भी भयभीत होकर अधीनता स्वीकार कर ली। जिनमें उत्तर पूर्व भारत के समतट डवाक् कामरूप, नेपाल, कर्तपुर व पश्चिमी भारत के नौ गणतन्त्र

राज्य आभीर, अर्जुनायन मालव, यौद्धेय मद्रक प्रार्जुन, सनकानिक, काक व खरपरिक थे। इनके साथ सर्वदानाज्ञाकरण प्राणायाम की नीति का अवलंबन किया।

देवपुत्र, शाहिशाहानुशाही, शक–मुरूण्ड तथा सिंहल आदि विदेशी शासकों ने समुद्रगुप्त से भयभीत होकर उससें मैत्रीयाचना की, इनके साथ आत्म–निवेदन, कन्योपायान, गुरूत्मदंकित, स्वविषय, भुक्ति, शासन याचना की नीति का अनुसरण किया।

इस प्रकार समुद्रगुप्त ने भारत के बहुत बड़े भाग को अपने अधीन कर एकता के सूत्र में बाँधा और उससे कहीं अधिक भू–भाग में उसका लोहा माना जाता था, जो उसकी यथार्थवादी नीति का प्रतीक है। स्मिथ ने समुद्रगुप्त उसकी बहादुरी एवं युद्ध कौशल के कारण भारत का नेपोलियन कहा है।

चन्द्रगुप्त द्वितीय (375 ई0 – 414 ई0)– समस्त गुप्त राजाओं में समुद्रगुप्त का पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय सर्वाधिक शौर्य एवं वीरोचित गुणों से सम्पन्न था। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपनी पुत्री प्रभावती का विवाह वाकाटक नरेश रूद्रसेन द्वितीय से किया, रूद्रसेन की मृत्यु के बाद चन्द्रगुप्त ने अप्रत्यक्ष रूप से वाकाट्क राज्य को अपने राज्य में मिलाकर उज्जैन को अपनी दूसरी राजधानी बनायी।

चीनी यात्री फाह्यान चन्द्रगुप्त द्वितीय के काल में भारत आया था। इसके दरबार में कालिदास एवं अमर सिंह जैसे विद्वान रहते थे। शकों को पराजित करने की स्मृति में चन्द्रगुप्त द्वितीय ने चांदी के विशेष सिक्के जारी किए। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने सर्वप्रथम वैवाहिक संबंधों द्वारा अपनी स्थिति सुदृढ़ की, उसने नागवंश की कुबेर नागा तथा कदम्ब वंश की राजकुमारी से स्वयं एवं वाकाटक वंश के रूद्रसेन द्वितीय से अपनी पुत्री प्रभावती का विवाह किया। इनसे प्रभावशाली शासकों की मित्रता व संरक्षण प्राप्त हो गया। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने गुप्त साम्राज्य को अरब सागर तक बढ़ाया और सौराष्ट्र प्रायद्वीप को विजित किया। उसने पश्चिमी भारत के शकों को पराजित किया तथा शक शासक रूद्रसेन तृतीय को हराया। इससे गुजरात, मालवा व कठियावाड़ गुप्त साम्राज्य के अंग बन गए। हुणों की सक्रियता को देखते हुए उसने उत्तर पश्चिम के गणराज्यों का विलय कर लिया। महरौली अभिलेख से विदित होता है कि उसने पश्चिम में बाहलिक (बैक्ट्रिया) व पूर्व में बंगाल तक अपनी सत्ता का विस्तार किया। उज्जैन को दूसरी राजधानी बनाने से राज्य के समुद्री व्यापार एवं गुजरात प्रान्त के संसाधनों में वृद्धि हुई। चन्द्रगुप्त ने अपने पराक्रम और शौर्य से गुप्त साम्राज्य की सीमाओं का चतुर्दिक विकास किया और अपना यश में वृद्धि की।

कुमारगुप्त प्रथम (415 ई0–455 ई0)– चन्द्रगुप्त द्वितीय के बाद उसका पुत्र कुमारगुप्त गद्दी पर बैठा। उसने बड़ी संख्या में मुद्राएं जारी करवाई। बयाना–मुद्राभाण्ड से कुमारगुप्त की करीब 623 मुद्राएं मिली है। ह्वेनसांग ने कुमारगुप्त का नाम शक्रादित्य बताया। कुमारगुप्त को अपने शासन के अन्तिम समय में पुष्यमित्र जातियों के विद्रोह का सामना करना पड़ा। इसकी जानकारी स्कन्दगुप्त के भीतरी स्तम्भ लेख से मिलती है। यहीं से गुप्त साम्राज्य विघटन की ओर अग्रसर हुआ। संभवतः नालन्दा विश्वविद्यालय का संस्थापक कुमारगुप्त ही था।

स्कन्दगुप्त (455 ई0–467 ई0)– स्कन्दगुप्त को राजसिंहासन पर बैठते ही जूनागढ़–अभिलेख में मलेच्छ के रूप में उल्लिखित हूणों के आक्रमण का सामना करना पड़ा, जिसका उल्लेख भीतरी स्तम्भ लेख में मिलता है जिसमें स्कन्दगुप्त को सफलता मिली। इनकी स्वर्ण मुद्राओं पर विक्रमादित्य की उपाधि मिलती है। स्कन्दगुप्त ने सौराष्ट्र में पर्णदत्त को गवर्नर के रूप में नियुक्त किया। स्कन्दगुप्त ने गिरिनार पर्वत पर स्थित सुदर्शन झील के पुनरुद्धार का कार्य गवर्नर पर्णदत्त के पुत्र चक्रपालित को सौंपा था, जिसने झील के किनारे एक विष्णु मंदिर का निर्माण करवाया था।

स्कंदगुप्त के शासन के प्रारम्भ में गुप्त साम्राज्य आन्तरिक व बाहरी समस्याओं से ग्रसित था। स्कंदगुप्त के भीतरी स्तम्भ लेख, जूनागढ़ अभिलेख तथा चन्द्रगुप्त परिपृच्छा आदि अभिलेखों एवं साहित्यिक स्रोतों से हूण आक्रमण का एवं स्कंदगुप्त के द्वारा उनको पराजित करने को उल्लेख मिलता है। यह युद्ध संभवतः उत्तर–पश्चिम सीमावर्ती क्षेत्र में हुआ। स्कंदगुप्त ने बाह्य शत्रुओं, पुष्यमित्रों व हूणों को परास्त कर गुप्त साम्राज्य को भीषण संकट से बचाया एवं गुप्त साम्राज्य को स्थायित्व व व्यवस्था प्रदान की। इसके अतिरिक्त उसने वाकाटकों व नागवंश के आक्रमण को असफल कर उनके क्षेत्रों पर अधिकार कर साम्राज्य की रक्षा की व क्षेत्र में वृद्धि की। अपने साम्राज्य को अक्षुण्ण बनाए रखा तथा सुदृढ़ प्रशासन व्यवस्था स्थापित करके साम्राज्य को स्थायित्व दिया। स्कंदगुप्त ने इन समस्याओं का धैर्य व साहस से मुकाबला किया व सफल रहा। विघटनकारी प्रवृतियों पर रोक लगाई। यह उसके शौर्य का जीवन्त प्रमाण है कि अनेकानेक विपत्तियों के होते हुए भी उसने बंगाल की खाड़ी से लेकर अरब सागर तक विस्तृत अपने साम्राज्य को अक्षुण्ण रखा। स्कंदगुप्त की सफलताओं का आधार उसकी प्रशासनिक व्यवस्था थी। उसने पश्चिमोत्तर सीमा का महत्त्व समझा एवं उसकी सुरक्षा का समुचित प्रबन्ध किया। उसने साम्राज्य को प्रान्तों में विभक्त किया एवं योग्य प्रान्तपतियों की नियुक्ति की, जो पूर्णरूप से प्रजाहित को महत्त्व देते थे। वह प्रजापालक, उदार तथा धर्म–सहिष्णु शासक था। उसके साम्राज्य में सभी सम्प्रदायों को धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी। उसका बुद्धिमतापूर्ण शासन, उसके शौर्यपूर्ण युद्ध, उसकी स्वदेशी भक्ति इस सबने स्कंदगुप्त को महान् गुप्त सम्राटों में से एक बना दिया। उसकी मृत्यु के साथ गुप्त साम्राज्य विघटन एवं विभाजन की दिशा में अग्रसर हुआ।

सुदर्शन झील– रूद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य के सौराष्ट्र प्रान्त के गर्वनर वैश्य पुष्यगुप्त द्वारा जनकल्याण हेतु सुदर्शन झील के निर्माण कराया एवं स्वयं रूद्रदामन द्वारा इसकी मरम्मत कराने का उल्लेख मिलता है। स्कंदगुप्त के जूनागढ़ अभिलेखानुसार भारी वर्षा के कारण टूटने से झील के बांध का पुनर्निर्माण सौराष्ट्र प्रान्त के राज्यपाल पर्णदन्त के पुत्र व गिरनार के प्रशासक चक्रपालित ने कराया। सुदर्शन झील प्राचीन भारत के शासकों द्वारा जल प्रबन्धन एवं संरक्षण का एक उत्कृष्ट उदाहरण है।

स्कन्दगुप्त के पश्चात पुरूगुप्त, नरसिंहगुप्त, कुमार गुप्त द्वितीय, बुद्धगुप्त, बालादित्य द्वितीय, कुमारगुप्त तृतीय और विष्णुगुप्त ने शासन किया, लेकिन धीरे–धीरे उनका राज्य सीमित

होता गया। संभवतः बंगाल के गौड़ों ने अन्तिम रूप से गुप्त साम्राज्य को समाप्त किया।

गुप्तों के पतन का मूल कारण केन्द्रीय शक्ति का दुर्बल होना था। डॉ. हेमचन्द्र रायचौधरी ने गुप्त सम्राटों का बौद्ध धर्म की ओर झुकाव को भी इनके पतन का कारण माना है। गुप्त सम्राटों ने सैनिक शक्ति और शान्तिपूर्ण विदेश नीति का पालन नहीं किया, जिसके कारण विदेशी शत्रुओं, शक्तिशाली सामन्तों एवं अधीन शासकों को लाभ उठाने का अवसर मिला।

गुप्त कला, साहित्य एवं विज्ञान का विकास

प्राचीन भारत में स्थापत्य, मूर्ति एवं चित्रकला आदि क्षेत्रों में विकास की चरमसीमा गुप्तकाल में प्राप्त होती है। इस युग की कला में भारतीयकरण, सौन्दर्याभिव्यक्ति, भावचित्रण एवं आध्यात्मिकता का अंकन उल्लेखनीय है। इस काल की कला में रूढ़िवादिता का अभाव, स्वाभाविक एवं यर्थाथवादिता का अंकन, सांस्कृतिक तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के अनुरूप सृजन, आध्यात्मिक आदर्श, कला, तकनीक की सादगी और अभिव्यंजना, लावण्य और लालित्य का संयमित प्रदर्शन मिलता है।

वास्तुकला– इस काल में मन्दिर वास्तु के विकास के साथ–साथ इसके शास्त्रीय नियम भी निर्धारित हुए। गुप्तकालीन मन्दिर नागर शैली के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। आधार पीठिका, गर्भगृह, सभा–मण्डप, शिखर, अन्तराल, प्रदक्षिणा पथ तथा द्वार पर गंगा–यमुना की मूर्तियां आदि इनकी सामान्य विशेषताएं हैं। यह ईंटों व पत्थरों से निर्मित है। तिगवां का विष्णु मन्दिर, भूमरा का शिव मन्दिर, नाचना कुठार का पार्वती मन्दिर, भितरीगांव का लक्ष्मण मन्दिर व देवगढ़ का दशावतार मन्दिर आदि प्रमुख मन्दिर हैं।

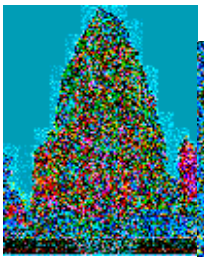
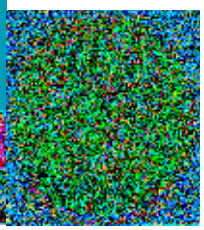

दशावतारमन्दिर,देवगढ़ लक्ष्मणमन्दिर,भितरीगांव समुद्रगुप्त का सिक्का

इनमें क्रमशः मन्दिर की योजना व आकृति में सतत् विकास दृष्टिगोचर होता है। इनके अतिरिक्त विहार, स्तूप, गुहा, चैत्य आदि निर्मित हुए, जिनमें अजंता, बाघ, एलोरा, उदयगिरी के गुहा के मन्दिर धमेख स्तूप व महाबोधि विहार (बोधगया) मुख्य है।

मूर्तिकला– मथुरा, सारनाथ व पाटलीपुत्र मूर्तिकला के प्रमुख केन्द्र थे। मूर्तियां धातु , पत्थर व मिट्टी की बनाई जाती थी। परिधानों की महत्ता, अलंकृत प्रभा–मण्डल, विशेष केश सज्जा, मुद्रा आसन, आध्यात्मिकता, सरलता व भारतीयकरण मूर्तिकला की प्रमुख विशेषता है। प्रतिमा निर्माण शास्त्रीय नियमों के अनुसार होता था, सुल्तानगंज की बुद्ध, मथुरा से महावीर, देवगढ़ व मथुरा की विष्णु, ऐरण व उदयगिरी की वराह की मूर्तियाँ उत्कृष्ट मूर्तिकला के उदाहरण हैं। शिव के अर्द्धनारीश्वर रूप की रचना भी इसी समय की गयी।

चित्रकला :– गुप्त चित्रकला के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण अजन्ता व ग्वालियर की बाघ गुफाओं से प्राप्त हुए हैं। अजंता के चित्रों में प्राकृतिक सौन्दर्य, बुद्ध व बौधिसत्व तथा जातक ग्रंथों के वर्णात्मक दृश्यों का अंकन हुआ है। सुन्दर कल्पना, रंगों की प्रभा, रेखाओं का लालित्य, विषय वस्तु की विविधता, अभिव्यक्ति से सम्पन्नता व अभिव्यंजना के कौशल के कारण अजंता के चित्र अद्वितीय हैं। इनमें गुफा सं. 16 में उत्कीर्ण मरणासन्न राजकुमारी के सहित अवलोकिश्वर, यशोधरा व राहुल आदि चित्र प्रसिद्ध हैं। गुफा सं. 17 के चित्र को चित्रशाला कहा गया है। इस गुफा में माता और शिशु का चित्र सर्वोत्कृष्ट है। बाघ में नौ गुफाएँ मिलती हैं। बाघ के भित्ति चित्र, लौकिक जीवन से संबंधित हैं, जो तत्कालिक वेशभूषा, केश–विन्यास, प्रसाधन आदि की जानकारी देती है। यहाँ संगीत एवं नृत्य आदि के दृश्य का एक प्रसिद्ध चित्र मिलता है। संगीत, नाटक, अभिनय कला और नृत्यकला की अद्वितीय उन्नति हुई। समुद्रगुप्त का वीणा लिए हुए सिक्कों पर अंकित किया जाना, उसके संगीत प्रेम को सिद्ध करता है।

सहित्य– गुप्तकाल में साहित्य का अद्‌भुत विकास हुआ। साहित्य में संस्कृत भाष एवं जटिल अलंकारिक शैली का विकास हुआ। प्रयाग एवं महरौली आदि प्रशस्तियों की रचना हुई। भाष ने स्वप्नवासवदत्ता, शुद्रक ने मृच्छकटिकम्, विशाखदत्त ने मुद्राराक्षक, कालिदास ने अभिज्ञान शकुन्तलम् आदि सुखान्त नाटकों एवं रघुवंश जैसे महाकाव्यों की रचना की। पुराणों, स्मृतियों, रामायण एवं महाभारत आदि ग्रन्थों को अन्तिम रूप दिया गया। संस्कृत व्याकरण का विकास हुआ। अमरसिंह ने अमरकोश, चन्द्रगोमिन् ने चन्द्रव्याकरण आदि व्याकरण ग्रन्थ रचे। विष्णु शर्मा ने पंचतन्त्र नामक जैसे नीति ग्रंथ, ईश्वर कृष्ण ने सांख्यकारिका एवं दिङ्नाग ने प्रमाण समुच्चय आदि दार्शनिक ग्रंथो की रचना की, वाक्पतिराज का गोहडवो, प्रवरसेन का सेतुबंध आदि प्राकृत ग्रंथों की रचना भी इसी काल में हुई। इस युग में लौकिक साहित्य का बाहुल्य था।

गुप्तकाल में हिन्दू विधियों का संकलन – गुप्तकाल में मनुस्मृति के आधार पर नारद, बृहस्पति, कात्यायन, याज्ञवलक्य आदि स्मृतियों में कानून का संकलन हुआ। इनमें याज्ञवलक्य व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी है। इसमें धर्म, वर्ण, आश्रम, विधि समाज, प्रायश्चित, राज्य शास्त्र आदि पक्षों का उल्लेख है। नारद स्मृति में व्यवहार व न्यायिक विचार, बृहस्पति ने दीवानी व फौजदारी दोनों पक्षों का विवेचन किया। कात्यायन ने कानून के चार अंग धर्म, व्यवहार चरित्र और राजशासन बताया। प्राचीन भारत में यह गुप्तों की साहित्य में महत्त्वपूर्ण देन है।

नालन्दा विश्वविद्यालय – नालन्दा भारत का प्रमुख शिक्षा केन्द्र था। संभवत गुप्त सम्राट कुमारगुप्त प्रथम ने इसका निर्माण कराया। गुप्त एवं पूर्व मध्यकाल में इसकी ख्याति पराकाष्ठा पर थी। देश–विदेश से छात्र शिक्षा ग्रहण करने यहां आते थे। जिनका प्रवेश परीक्षा के माध्यम से होता था। शिक्षकों एवं छात्रों की संख्या 10,000 से अधिक थी। यहां धर्म, विज्ञान, उद्योग, तर्क आदि की शिक्षा दी जाती थी। यहाँ विशाल पुस्तकालय भी था। गणमति, स्थिरमति, शीलभद्र यहाँ के प्रसिद्ध कुलपति थे।

विज्ञान एवं प्रोद्यौगिकी – गुप्तकाल में विज्ञान एवं तकनीक की विभिन्न शाखाओं का उल्लेखनीय विकास हुआ। इस काल में गणित,ज्योतिष,खगोल, रसायन, भौतिक, आयुर्वेद, शल्यचिकित्सा आदि का विकास प्रमुख रूप से हुआ। आर्यभट्ट का गणित एवं ज्योतिष में विशेष स्थान था, जिन्होंने दशगितिक सूत्र, आर्याष्ट शतक ग्रंथों की रचना की। उन्होंने पृथ्वी गोल एवं उसके, घुरी पर घूर्णन का सिद्धान्त का विवेचन किया। प्रसिद्ध खगोलशास्त्री भास्कर प्रथम ने भाष्य नामक ग्रंथ व आर्यभट्ट के ग्रंथों दशगितिक सूत्र एवं आर्यष्टि शतक पर टीका लिखी। वराहमिहिर ने भारतीय एवं यूनानी ज्योतिष का समन्वय कर रोमक तथा पौलिश का सिद्धान्त प्रतिपादन किया। वराहमिहिर ने पंच सिद्धान्तिका, वृहत्संहिता व वृहत्जातक आदि ग्रंथों की रचना की। उन्होंने वर्गमूल व घनमूल निकालने की पद्धति तथा खगोल विज्ञान की विस्तृत विवेचना की। ब्रह्मगुप्त ने गणित, ज्योतिष खगोल शास्त्र पर ब्रह्मफुट सिद्धान्त खण्ड खाद्यक आदि ग्रंथ लिखे एवं गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। औषधिशास्त्र का सैद्धान्तिक पक्ष गुप्तकाल में प्रबल हुआ। वाग्भट्ट ने आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रंथ 'अष्टांग हृदय' की रचना की, धनवन्तरी एक प्रसिद्ध आयुर्वेदिक एवं शल्य चिकित्सक थे। नवनीतकम आयुर्वेद का ग्रंथ था। इस समय वानस्पतिक औषधियों का प्रयोग होता है। पशु चिकित्सा पर भी ग्रंथ लिखे गये। पलकाप्व ने हस्तायुर्वेद नामक ग्रंथ लिखा, जो हाथियों की चिकित्सा से सम्बन्धित था।

भौतिक एवं रसायन विज्ञान के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण अध्ययन हुए। कणाद ऋषि ने गुप्त काल में वैशेषिक दर्शन एवं अणु सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। नागार्जुन रसायन तथा धातु विज्ञान के विद्वान थे। उन्होंनें चांदी, सोना आदि खनिज पदार्थों के रसायनिक प्रयोगों से रोगों के निवारण को प्रमाणित किया एवं पारद का आविष्कार किया।

तकनीक का विशेष ज्ञान श्रेणियों के पास था। धातुओं को रसायनिक क्रियाओं द्वारा पिघलाने तथा ढालने की कला की उन्नत्ति हुई। महरौली का लौह स्तम्भ सबसे उत्कृष्ट उदाहरण है। सुल्तान गंज में बुद्ध की 1 टन की तांबे की खड़ी मूर्ति मिली है। सिक्के, आभूषण एवं मोहरें भी तकनीकी उपलब्धि की साक्षी है। इस प्रकार गुप्तकाल में विज्ञान व तकनीक में अभूतपूर्व विकास हुआ।

आर्थिक जीवन

गुप्त काल में आर्थिक जीवन समृद्ध हुआ। विस्तृत साम्राज्य एवं सुयोग्य प्रशासन के कारण आर्थिक जीवन के सभी पक्षों–कृषि, पशुपालन, उद्योग एवं शिल्प तथा व्यापार–वाणिज्य में अभूतपूर्व उन्नति हुई।

1. कृषि– स्मृतियों, बृहत्संहिता, अमरकोश आदि से गुप्तकालीन कृषि के बारे में जानकारी मिलती है। हल में लोहे के फाल का प्रयोग किया जाता था। बृहत्संहिता में बीजों की गुणवत्ता बढ़ाने एवं धरती की उर्वरा शक्ति में वृद्धि करने के तरीकों का उल्लेख किया गया है। कृषक अधिकांशतः वर्षा पर निर्भर होते थे, लेकिन गुप्त सम्राटों की ओर से प्रजा को सिंचाई की सुविधाएँ प्रदान करने का प्रयास किया गया। स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ अभिलेख ने अनुसार उसने गिरिनार पर्वत पर स्थित सुदर्शन झील का पुनरुद्धार करवाया। यह कार्य उसके सौराष्ट्र के गवर्नर पर्णदत्त के पुत्र चक्रपालित ने करवाया था। सिंचाई में रहट या घटीयंत्र का प्रयोग होता था।

अमरकोष में उपज की विभिन्न वस्तुओं के नाम मिलते हैं– गेहूँ , धान, ज्वार, ईख, बाजरा, मटर, दाल, तिल, सरसों, अलसी, अदरक, कालीमिर्च आदि। बृहत्संहिता में तीन फसलों का उल्लेख है। एक फसल श्रावण के महीने में तैयार होती थी, दूसरी बसंत में और तीसरी चैत्र या बैसाख मे तैयार होती थी। ह्वेनसांग के अनुसार पश्चिमोत्तर भारत में ईख व गेहूँ तथा मगध एवं उसके पूर्वी क्षेत्रों में चावल की पैदावार होती थी। अमरसिंह ने अपने ग्रंथ अमरकोष में 12 प्रकार की भूमि का उल्लेख किया है। इस समय प्रचलन में करीब 5 प्रकार की भूमि का उल्लेख मिलता है– क्षेत्र भूमि, वास्तु भूमि, चारागाह भूमि, सिल व अप्रहत भूमि इत्यादि।

पशुपालन जीविका का एक अन्य प्रमुख साधन था। कामन्दकीय नीतिसार के अनुसार गोपालन वैश्य का पेशा है। अमरकोश में पालतू पशु के रूप में गाय के अतिरिक्त घोड़े, भैंस, ऊँट, बकरी, भेड़, गधा, कुत्ता, बिल्ली आदि को गिनाया गया है। बैल हल चलाने और सामान ढोने के काम आता था।

गुप्तकालीन उद्योगों एवं शिल्पों में जहां एक ओर विशेषज्ञता का विकास दिखाई देता है, वहीं दूसरी ओर प्रौद्योगिकी या तकनीकी कौशल में अद्भुत प्रगति दृष्टिगोचर होती है। इस काल में धातु–शिल्प, वस्त्र–निर्माण, शिल्प साथ ही पाषाण–शिल्प, हाथीदाँत का काम आदि उद्योगों में विशेष प्रगति हुई। आभूषण, हाथीदाँत, धातुकर्म, बर्तन, जहाज उद्योग विकसित हुए। गुप्तकाल में धातु–शिल्प के क्षेत्र में विशेष उन्नति हुई। इस काल में धातुविज्ञान के क्षेत्र में हुई अद्भुत प्रगति का एक भव्य उदाहरण मैहरोली (दिल्ली) का लौह–स्तम्भ है जो इतनी शताब्दियों बाद भी बिना जंग लगे हुए, अक्षत खड़ा है। गुप्तकालीन ताम्रशिल्प का एक श्रेष्ठ उदाहरण तांबे की विशालकाय बुद्ध की मूर्ति है जो सुलतानगंज (जिला भागलपुर, बिहार) से मिली थी और इस समय इंग्लैण्ड के बरमिंघमन के संग्रहालय में है। गुप्तकालीन धातुकर्म का सर्वोत्तम रूप इस काल के सिक्कों में देखा जा सकता है। इस काल के ताम्रपत्रों पर लगी हुई मुहरें भी धातुशिल्प की श्रेष्ठ उदाहरण है।

गुप्तकाल की सहस्त्रों स्वर्णमुद्रायें प्राप्त हुई है, जो विशुद्ध भी हैं तथा कलात्मक भी। गुप्तकाल की आर्थिक सम्पन्नता, कलात्मक सौन्दर्यसृष्टि तथा तकनीकी कौशल का वे ज्वंलत उदाहरण है। गुप्त सम्राटों में सर्वप्रथम चन्द्रगुप्त प्रथम ने सिक्के प्रचलित किये। चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय सोने के अतिरिक्त चांदी एवं तांबे का भी मुद्राओं के लिए प्रयोग किया गया। कुमारगुप्त प्रथम ने सर्वाधिक सिक्कों का प्रचलन किया। इन स्वर्ण मुद्राओं को अभिलेखों में दीनार कहा गया है। फाह्यान ने बताया कि गुप्त

'अमरकोश' में उसका उल्लेख आता है।

खाने एवं नमक आदि राजस्व के अन्य महत्त्वपूर्ण स्रोत थे। भू राजस्व कुल उत्पादन का 1/4 से 1/6 भाग तक होता था।

गुप्तकाल को प्राचीन भारत का स्वर्ण युग कहा जाता है। फाह्यान ने गुप्तकाल में धार्मिक सहिष्णुता, सरल दण्ड व्यवस्था, घरों में तालों का अभाव तथा प्याज–लहसुन के असेवन का उल्लेख किया है, जो समाज में अपराधवृत्ति की न्यूनता, सम्पत्ति की सुरक्षा, अहिंसक तथा सात्विक प्रवृत्ति को दर्शाते हैं। जिन भावनाओं को जनता में पल्लवित करने हेतु मौर्य सम्राट अशोक को उपदेश देना पड़ा, वो अब स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होने लगी। मौर्यों के पश्चात् पहली बार राजनीतिक एकता एवं सुव्यवस्था स्थापित हुई। गुप्तकाल में अर्थव्यवस्था का मौद्रीकरण हुआ। उद्योग तथा व्यापार प्रौन्नत थे। इस युग की कला में आध्यात्मिकता, शालीनता तथा भारतीयता की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। अजन्ता, बाघ के गुहा चित्र, देवगढ़ भितरी गांव आदि के मन्दिर, विष्णु, बुद्ध, महावीर की मूर्तियों आदि, इस युग की कला के चरमोत्कर्ष के द्यौतक हैं, जो सामाजिक समृद्धि एवं सौहार्द्र का प्रतीक है। साहित्य में कालिदास, हरिषेण, विष्णुशर्मा आदि ने उच्च कोटि की रचनाएं की। आर्यभट्ट, वराहमिहिर, नागार्जुन आदि ने विज्ञान की विभिन्न शाखाओं का विकास किया तथा भारतीय संस्कृति का भी विदेशों में प्रचार–प्रसार भी गुप्तकाल में हुआ।

निःसंदेह गुप्त युग कला, वास्तु, मूर्ति, शिल्प, चित्रकला, साहित्य, वैज्ञानिक प्रवृत्तियों के अवतरण, पल्लवन और मुद्रा प्रसारण में समग्र रूप से प्रगति का युग था। राजनीतिक एकता प्रतापी सम्राट, आर्थिक वैभव, धार्मिक सहिष्णुता, विदेशियों को हिन्दू धर्म में सम्मिलित करना, हिन्दूधर्म का पुनरुत्थान, संस्कृत साहित्य की प्रगति, सभी ललित कलाओं की उन्नति, विदेशों में भारतीय संस्कृति का प्रचार करने के कारण, प्राचीन भारतीय इतिहास में गुप्तकाल का स्थान श्रेष्ठ हैं। इन कार्यों के लिए निःसन्देह गुप्तकाल प्राचीन भारत का स्वर्ण युग था। श्री अरविन्द ने लिखा है कि 'भारत ने अपने इतिहास में अपनी जीवन शक्ति को विभिन्न क्षेत्रों में इतना पल्लवित होते हुए कभी नहीं देखा, जितना गुप्तकाल में विकास हुआ।'

फाह्यान का भारत वर्णन

चीनी यात्री फाह्यान ने 399 ई. से 414 ई. तक भारत का भ्रमण किया था। उसने भारत की आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक व सामाजिक स्थिति का वर्णन किया है। तत्कालीन समाज में शाकाहार का प्रचलन था सामान्यतयः जनता लहसुन प्याज का सेवन नहीं करती थी। अस्पृश्यता विद्यमान थी, परन्तु आम जनता का जीवन सादा व अहिंसक था।

बौद्ध धर्म सीमावर्ती राज्यों में उन्नति था जबकि अपने प्रमुख स्थानों में अपनी महत्ता खो रहा था। समाज में धार्मिक समानता विद्यमान थी। ब्राह्मण धर्म भी उन्नत अवस्था में था। प्रजा दान–धर्म, पाप–पुण्य, लोक–परलोक, पुनर्जन्म में विश्वास करती थी। प्रजा सुखी थी। करों का बोझ अधिक नहीं था। दण्ड व्यवस्था कठोर नहीं थी, अपराध नगण्य थे। चोरों व डाकुओं का भय नहीं था। राज्य प्रजा के निजी विषयों में हस्तक्षेप नहीं करता था।

प्रसिद्ध नगर श्रावस्ती, वैशाली, कौशम्बी उजड़ने लगे तथा उनके स्थान पर व्यापारिक नगर उज्जैन, कन्नौज आदि समृद्ध हो गए एवं व्यापार उन्नत था। मुख्यतः कौड़ियां एवं वस्तुएँ विनियम का आधार थी। पाटलिपुत्र के निवासी सम्पन्न थे। दान देने व जनहित कार्य के लिए तैयार रहते थे।

हर्षकालीन भारत

गुप्त साम्राज्य के विघटन के पश्चात हरियाणा के थानेश्वर में पुष्यभूति वंश की स्थापना हुई। हर्षचरित के अनुसार प्रभाकरवर्धन इस वंश का चौथा शासक था। उसके पश्चात् हर्षवर्धन लगभग 606 ई0 में थानेश्वर का शासक बना व 647 ई0 तक शासक किया। हर्ष ने कन्नौज को अपनी राजधानी बनाया।

हर्ष की विजय एवं साम्राज्य विस्तार

हर्षवर्द्धन के साम्राज्य की वास्तविक जानकारी उसके अभिलेखों, हर्षचरित तथा ह्वेनसाँग के विवरणों से प्राप्त होती है। हर्ष ने लगभग समस्त उत्तरी भारत में विजय प्राप्त की एवं साम्राज्य का विस्तार किया। ह्वेनसाँग उसके पंच भारत की विजय का उल्लेख करता है। हर्ष 606 ई0 में सिंहासन पर बैठा। उसने सर्वप्रथम बंगाल के गौड़ों के विरूद्ध कार्यवाही की, उस समय शशांक वहाँ का शासक था। हर्ष ने कामरूप के शासक भास्कर वर्मा के साथ समझौता किया, जिससे गौड़ नरेश शशांक को सीमित कर दिया। हर्ष ने 630 ई0 से 633 ई0 के बीच वल्लभी नरेश ध्रुवसेन द्वितीय बालादित्य को पराजित किया, जो चालुक्यों से युद्ध का पूर्व चरण था। बाद में हर्ष ने वल्लभी से वैवाहिक संबंध स्थापित किया। हर्ष व पुलिकेशिन द्वितीय महत्त्वाकांक्षी शासक थे, जिन्होंने साम्राज्यवादी नीति का अवलम्बन किया। दोनों राज्यों की सीमाएं निकट होने के कारण उनके बीच युद्ध को अनिवार्य बना दिया, यह युद्ध संभवतः 630 से 634 ई0 के बीच नर्मदा नदी के तट पर हुआ होगा। ह्वेनसाँग तथा पुलिकेशिन द्वितीय की ऐहोल प्रशस्ति इस युद्ध में हर्ष की असफलता का उल्लेख करती है।

हर्ष अपने पूर्वी भारत अभियानों में सफल रहा। चीनी लेखक मा–त्वान–लीन 641 ई0 में हर्ष को मगध नरेश बताता है। संभवतः हर्ष व कामरूप के शासक भास्कर वर्मा के गठजोड़ ने बंगाल एवं पूर्वी भारत को विजित किया। 640 ई0 के आसपास ओड्र, कांगोद एवं कलिंग पर विजय प्राप्त कर, उड़ीसा पर भी विजय प्राप्त की तथा हर्ष ने उड़ीसा विजय के बाद बौद्ध सभा बुलाई, इसकी पुष्टि चीनी विवरण द्वारा होती है। बाणभट्ट के अनुसार हर्ष ने सिंध के राजा को राजलक्ष्मी से वंचित किया, जिसे पहले प्रभाकरवर्धन हरा चुका था। अब सिंध हर्ष का आश्रित राज्य हो गया। जालन्धर का उदित और प्रत्यक्षतः पूर्वी मालवा का माधव गुप्त उसके आश्रित थे। बाणभट्ट व ह्वेनसाँग कश्मीर व नेपाल पर हर्ष के आधिपत्य की बात कहते हैं। कश्मीर के राजा को हर्ष ने बुद्ध के दाँत देने के लिए बाध्य किया तथा नेपाल में हर्ष संवत् के प्रचलन से इस तथ्य की पुष्टि होती है। हर्ष के तुषार शैल अर्थात् बर्फीले पहाड़ों के दुर्गम क्षेत्र से कर वसूलने का भी उल्लेख हुआ है।

41 वर्ष के अपने शासन के दौरान हर्ष ने अपने सामंत राजाओं में दूर–दराज के क्षेत्रों यथा जालंधर, कश्मीर, नेपाल, वल्लभी, मालवा, सिंध, सीमान्त प्रदेश व असम को सम्मिलित किया। संयुक्त प्रदेश बिहार, बंगाल, उड़ीसा, मध्य भारत तथा राजपूताना हर्ष के प्रशासन के अधीन थे। अन्ततः हर्ष उत्तरी भारत के एक बहुत बड़े शासन के रूप में विद्यमान रहा। दक्षिण भारत के अभिलेखों में हर्ष को सकलोत्तरापथनाथ अर्थात् उत्तर भारत का स्वामी कहा गया है। हर्ष का साम्राज्य सामन्ती संगठन पर आधारित था। गृह राज्य पर हर्ष का सीधा प्रशासनिक नियन्त्रण था, लेकिन अन्य राज्यों पर उसका सिर्फ अप्रत्यक्ष नियन्त्रण था। हष

ने शिक्षा के प्रसार–प्रचार के लिए धन एवं ग्रामों को दान में दिया। नालंदा विश्वविद्यालय शिक्षा का प्रमुख केन्द्र था। इसके अतिरिक्त वल्लभी, अनेक गुरुकुल आश्रम एवं विहार शिक्षा के केन्द्र थे। इस प्रकार हर्ष ने प्रजा के बौद्धिक स्तर को ऊंचा उठाने का प्रयत्न किया। हर्ष ने बौद्ध धर्म के साथ–साथ अन्य धर्मों की सहिष्णुता पर बल दिया एवं उनका संरक्षण किया। ज्ञान में हर्ष ने अनेक विद्वानों को संरक्षण दिया तथा शिक्षा के प्रसार–प्रचार के लिए वित्त का पोषण किया। हर्ष को हम धर्म एवं ज्ञान का महान् संरक्षक कहते हैं।

हर्ष का शासन प्रबन्ध

सम्राट हर्ष स्वयं प्रशासन की धुरी था। हर्ष प्रशासनिक व्यवस्था में व्यक्तिगत रूप से रुचि लेता था। उसका विचार था कि प्रशासकीय कुशलता के लिए शासक को निरन्तर सचेष्ट रहना चाहिए। हर्ष बहुत परिश्रमी था। उसने दिन को तीन भागों में बांट रखा था, जिनमें से एक राज्य–कार्य के लिए निश्चित था। उसका व्यक्तित्व बहुत प्रभावशाली था। हर्ष को निरीक्षण–यात्रा के लाभ में विश्वास था। यदि नगरों के निवासियों के आचार में कोई त्रुटियां होती थी, तो वह स्वयं उनके बीच चला जाता था। किन्तु उसकी यात्राएं नगरों तक ही सीमित नहीं थी। ग्रामीण क्षेत्रों की ओर भी वह उतना ही ध्यान देता था। जब राजा किसी स्थान पर ठहरता था, तो प्रजागण उससे भेंट कर सकते थे और उसके समक्ष अपनी कठिनाइयां प्रस्तुत कर सकते थे। सिद्धान्त के रूप में हर्ष का प्रशासन निरंकुश था। किन्तु लोगों को अपने– अपने क्षेत्रों में स्वशासन प्राप्त था। अधिकांश कार्य ग्रामीण समुदायों के हाथ में था। केन्द्रीय सरकार और ग्राम–सभाओं में परस्पर पर्याप्त सहयोग था। कुल मिलाकर हर्ष का प्रशासन निरंकुश तथा गणतंत्रीय तत्वों का मिश्रण था।

मन्त्रिपरिषद् – सम्राट की सहायता के लिए एक मंत्रिपरिषद् गठित की गयी थी। राज–सिंहासन रिक्त होने की अवस्था में परिषद् अपनी शक्ति का प्रयोग करती थी। राज्यवर्धन की मृत्यु पर मुख्य–मंत्री भण्डी ने मन्त्रि–परिषद् की सभा का आयोजन किया और हर्ष के राज–पद संभालने का प्रस्ताव रखा। वहाँ उपस्थित सभी जन सहमत हो गए और हर्ष से राज्याधिकार ग्रहण करने के लिए अनुरोध किया। मन्त्रि–परिषद को शासक चुनने में ही नहीं बल्कि विदेश–नीति में भी काफी कुछ कहने का अधिकार था।

सचिवालय– प्रतीत होता है कि राजधानी में एक सुव्यस्थित सचिवालय था। बाणभट्ट ने अवन्ति को विदेश तथा युद्ध मन्त्री बताया है। सिंहानन्द को उसने हर्ष का सेनापति कहा है। कुन्तल को उसने घुड़सेना का अधिकारी बताया है। स्कन्दगुप्त को हाथी सेना का प्रमुख कहा है। मधुवन ताम्र–पत्र में स्कन्दगुप्त को 'महाप्रमातार महासामन्त' कहा गया है। उसी पत्र में सामन्त महाराज ईश्वरगुप्त को रिकार्ड–संरक्षक कहा है। बांसखेड़ा ताम्र–पत्र अभिलेख में भानु को रिकार्ड–संरक्षक कहा है। मुख्य राज्य कर्मचारियों के नाम थे 'महासामन्त', 'महाराज', 'दौस्साधनिक', 'प्रमातार', 'राजस्थानीय', 'कुमारामात्य', 'उपरिक', विषयपति' इत्यादि।

उच्च प्रशासकीय सेवा में 'कुमारमात्य' नियुक्त किए गये थे। उन्हीं में से मंत्री, सचिवालय के अधिकारी और जिला अधिकारी लिए जाते थे। राजधानी के अपने राजकीय संदेशवाहक थे जिन्हें 'हर्षचरित' में 'दीर्घध्वज' कहा है। 'सर्वगतः' नामक एक कर्मचारी का उल्लेख है, जो संभवतः गुप्तचर विभाग का सदस्य था। संभवतः अधिकांश उच्च कर्मचारियों को वेतन नकद नहीं दिया जाता था। राज्य के छोटे कर्मचारियों को उनके कार्य के अनुसार नकद या भूमि के रूप में वेतन दिए जाते थे, पर ह्वेनसांग का मानना है कि मंत्रियों एंव अधिकारियों के वेतन भूमि अनुदान के रूप में दिया जाता था। यह कहा जा सकता है कि हर्ष की प्रशासन–प्रणाली देश की सामन्त–प्रणाली की अग्रगामी थी।

सेना – ह्वेनसाँग बताते हैं कि हर्ष के पास 5,000 हाथी, 2,000 घुड़सवार और 5,000 पैदल सैनिक थे। अपने राज्य को विस्तृत करने के बाद हर्ष ने अपनी सैन्य शक्ति को भी बढ़ाया। फिर उसके पास 60,000 हाथी और 1,00,000 घुड़सवार हो गए। घुड़सेना के लिए घोड़े सिन्धु , ईरान और कम्बोज से मंगवाये जाते थे। पैदल सेना इससे भी कई गुणा अधिक रही होगी किन्तु इसकी ठीक संख्या नहीं दी गई। साधारण सैनिकों को 'चाट' और 'भाट' कहा जाता था। घुड़सेना के अधिकारियों को 'बृहदेश्वर' कहा गया था। पैदल सेना के अधिकारियों को 'बलाधिकृत' और 'महाबलाधिकृत' कहा जाता था। प्रमुख सैन्याधिकारी को 'महासेनापति' कहा जाता था।

साम्राज्य के भाग – हर्ष का साम्राज्य भुक्तियों, विषयों आदि में विभक्त था। प्रान्तों को 'भुक्तियों' में बांटा गया था। हर्ष के मधुवन तथा बांसखेड़ा पत्रों में अहिछत्र भुक्ति का उल्लेख है, भुक्ति को वर्तमान में जिले समझा जा सकता है। 'भुक्ति' को कई 'विषय' में बांटा गया था। संभवतः ग्राम का प्रशासन एक मुखिया के हाथ में था, जिसे 'ग्रामक्षपटलिक' कहा जाता था। उसकी सहायता के लिए कई लेखक थे, जिन्हें 'करणिक' कहा जाता था।

कर– तीन प्रकार के करों का उल्लेख मिलता है, यथा 'भाग', 'हिरण्य' और 'बलि'। 'भाग' भूमि–कर था और पदार्थ रूप में दिया जाता था। 'हिरण्य' करों को कृषक या व्यापारी नकद दिया करते थे। संभवतः नाव कर भी लिया जाता था। व्यापारिक वस्तुओं पर नाप और तौल के अनुसार कर लिए जाते थे। कृषि उत्पादन में सम्राट का छठा भाग था। अनिवार्य श्रम भी लिया जाता था लेकिन उसके लिए पारिश्रमिक दिया जाता था। ह्वेनसाँग ने लिखा है कि राज–भूमि को चार भागों में बांटा गया था। एक भाग राज्य–कार्य चलाने के लिए था दूसरा भाग मंत्रियों तथा अन्य राजकर्मचारियों को वेतन देने के लिए था। तीसरा भाग सुयोग्य व्यक्तियों को पुरस्कृत करने के लिए था। चौथा भाग धार्मिक सम्प्रदायों को दान देने के लिए था।

दण्ड–विधान– ह्वेनसाँग यह भी बताता है कि अपराधी और विद्रोहियों की संख्या बहुत कम थी। जब कानून तोड़ा जाता था, तो अपराधियों को दण्ड दिया जाता था। शारीरिक दण्ड नहीं दिए जाते थे। अपराधियों को जीवन जंगलों में बिताने के लिए नगर से निकाल दिया जाता था। कुछ अपराधों के लिए थोड़ा–सा जुर्माना किया जाता था। अभियुक्त से अपराध स्वीकार कराने के लिए यंत्रणा नहीं दी जाती थी। परीक्षा द्वारा अपराध की जाँच करने का

ढंग भी प्रचलित था। सरकार जन हितकारी

शासक था। इस साम्राज्य विस्तारवादी शासक ने अपने शासन के आरम्भिक वर्षों में 'वण्णि' नामक स्थान पर वेलरि तथा अन्य ग्यारह शासकों की संयुक्त सेना को पराजित कर प्रसिद्धि प्राप्त की। उसकी दूसरी महत्त्वपूर्ण सफलता थी– वहैप्परन्दलई के 9 छोटे–छोटे शासकों की संयुक्त सेना को पराजित करना। संगम साहित्य के अनुसार करिकाल ने कावेरी नदी के मुहाने पर 'पुहार' पत्तम (कावेरी पट्टनम) की स्थापना की। शक्तिशाली नौ सेना रखने वाला करिकाल शायद संगम–युग का सबसे महान् एवं पराक्रमी शासक था। 'पट्टिनपालै' कृति के उल्लेख के आधार पर करिकाल ने उरैयुर को अपनी राजधानी बनाया। इसकी मृत्यु युद्ध क्षेत्र में हुई थी। उसकी प्रशंसा में संगम साहित्य के अनेक कविताओं की रचना हुई। ईसा की तृतीय शताब्दी से 9वीं शताब्दी तक चोलों का इतिहास अंधेरे में था, पर 9वीं शताब्दी के मध्य ही चोल नरेश विजयालय द्वारा पल्लवों के अवशेष पर चोल शक्ति का पुनः उद्धार किया। यह चोल राजवंश साम्राज्य 9वीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक विद्यमान रहा। चोल साम्राज्य के उत्थान में भिन्न– भिन्न शासकों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा।

विजयालय (850 ई. से 875 ई.)– 9वीं शताब्दी के मध्य लगभग 850 ई0 में चोल शक्ति का पुनरुत्थान विजयालय ने किया। विजयालय को चोल साम्राज्य का द्वितीय संस्थापक भी माना जाता है। विजयालय ने पाण्ड्य शासकों से तंजौर को छीन कर उरैयुर के स्थान पर इसे अपने राज्य की राजधानी बनाया।

आदित्य प्रथम (875 ई. से 907 ई.)– विजयालय का पुत्र एवं उत्तराधिकारी आदित्य प्रथम लगभग 875 ई. में चोल राजसिंहासन पर बैठा था। आदित्य प्रथम ने अपनी साम्राज्य विस्तारवादी महत्त्वाकांक्षा के वशीभूत होकर पल्लव नरेश अपराजित को पराजित कर उसकी हत्या कर दी और इस तरह पल्लव राज्य पर चोलों का अधिकार हो गया। पल्लवों के अतिरिक्त उसने पाण्ड्यों एवं कलिंग देश के राजाओं को भी पराजित किया। आदित्य प्रथम के पश्चात् परान्तक प्रथम (907 ई. से 935 ई-) शासक बना, पाण्ड्य नरेश राजसिंह द्वितीय को परास्त कर पाण्ड्यों की राजधानी मदुरा पर अधिकार कर मदुरैकोण्ड की उपाधि धारण की। परान्तक प्रथम के पश्चात अरिमौलिवर्मन अथवा राजराज प्रथम प्रसिद्ध चोल शासक हुआ।

राजराज प्रथम (985 ई. से 1014 ई.)– राजराज प्रथम के शासन के तीस वर्ष चोल साम्राज्य के सर्वाधिक गौरवशाली वर्ष थे। इसने अपने पितामह पराकान्त प्रथम की 'लौह एवं रक्त' की नीति का पालन करते हुए 'राजराज' की उपाधि ग्रहण की। राजराज प्रथम ने अपने शासन के 9वें वर्ष में सामरिक अभियान प्रारम्भ किया। चोल सत्ता के पुनरूद्धारक राजराज प्रथम ने बड़े पैमाने पर सैनिक अभियान कर दक्षिण के पाण्ड्यों व चेर, पश्चिमी गंगों, उत्तर में कलिंग तक उत्तरी श्रीलंका, मालद्वीप आदि को विजित किया। इस अभियान के अन्तर्गत सर्वप्रथम इसने चोल विरोधी गठबंधन में शामिल पाण्ड्य, चेर एवं श्रीलंका के शासकों पर आक्रमण किया। इस संयुक्त मोर्चे को नष्ट करने के लिए उसने सर्वप्रथम चेर नरेश भास्करवर्मन को पराजित किया। चेरों के बाद राजराज ने पाण्ड्य शासक अमर भुजंग को पराजित कर राजधानी 'मदुरा' को अपने कब्जे में कर लिया।

पण्ड्य राज्य पर अधिकार के बाद राजराज प्रथम ने श्रीलंका के शासक महेन्द्र पंचम पर आक्रमण कर उसकी राजधानी 'अनुराधापुरम' को बुरी तरह नष्ट कर दिया। इस अभियान में राजराज ने अपने द्वारा जीते गये प्रदेश का नाम 'मामुण्डी चोलमण्डलम' रखा एवं 'पोलोन्नरुवा' को उसकी राजधानी बनाया। संभवतः इस विजय के बाद राजराज प्रथम ने 'जगन्नाथ' का विरुद धारण कर पोलोन्नरुवा का नया नाम 'जगजाथमंगलम्' रखा। अपने शासनकाल के अन्तिम दिनों में राजराज प्रथम ने मालद्वीप को विजित किया। प्रशासनिक सुधारों में राजराज ने भूमि का सर्वेक्षण कराया एवं स्थानीय स्वशासन को प्रोत्साहन दिया। वह धर्म–सहिष्णु, कला एवं विद्वता का संरक्षक था। नागपट्टनम में बौद्ध विहार की अनुमति दी तथा तंजौर में राजराजेश्वर का मन्दिर बनाया।

राजेन्द्र प्रथम (1014 ई0 से 1044 ई0)– राजराज प्रथम का पुत्र एवं उत्तराधिकारी राजेन्द्र प्रथम लगभग 1014 ई0 चोल राजसिंहासन पर बैठा। राजेन्द्र अपने पिता के समान ही योग्य शासक था। इसकी उपलब्धियों के बारे में सही जानकारी तिरुवालंगाडु एवं करंदाइ अभिलेखों से मिलती है। अपने विजय अभियान के प्रारम्भ में इसने पश्चिमी चालुक्यों, पाण्ड्यों, एवं चेरों को पराजित किया। इसके बाद लगभग 1017 ई0 में सिंहल (लंका) राज्य के विरूद्ध अभियान में उसने वहां के शासक महेन्द्र पंचम को परास्त कर सम्पूर्ण सिंहल राज्य को अपने अधिकार में कर लिया। राजेन्द्र प्रथम ने उत्तर–पूर्वी भारतीय प्रदेशों को जीतने के लिए विशाल हस्ति प्रधान सेना का इस्तेमाल किया। राजेन्द्र प्रथम के सामरिक अभियानों में उसकी सेनाओं ने उत्तरी भारत में बंगाल के गांगेय क्षेत्र तक विजय अभियान किए। कलिंग में चोल सेनाओं ने पूर्वी गंग शासक मधुकामार्नव को पराजित किया। पूर्वी भारत में बंगाल के पाल शासक महीपाल को पराजित किया। गंगा घाटी के अभियान की सफलता पर राजेन्द्र प्रथम ने गंगैकोण्डचोल की उपाधि धारण की तथा इस विजय की स्मृति में कावेरी तट के निकट 'गंगैकोण्डचोलपुरम' नामक नई राजधानी का निर्माण करवाया, उसमें मन्दिर, तालाब आदि निर्मित कराये। उसने सिंचाई हेतु चोलगंगम नामक एक बड़े तालाब का भी निर्माण करवाया।

राजेन्द्र प्रथम ने श्री विजय (शैलेन्द्र) शासक विजयोत्तुंग वर्मन को पराजित कर जावा, सुमात्रा एवं मलाया प्रायद्वीप पर अधिकार कर लिया। राजेन्द्र प्रथम ने चालुक्यों से दक्षिण प्रदेश छीने, चेरों की सत्ता समाप्त की तथा उसकी नौ सेना ने सिंहल द्वीप, बंगाल की खाड़ी पार कर जावा, सुमात्रा एवं मलय प्रायद्वीप पर विजय प्राप्त कर एक विस्तृत चोल साम्राज्य स्थापित किया।

राजेन्द्र प्रथम कला, साहित्य एवं शिक्षा का संरक्षक था, उसने एक वैदिक महाविद्यालय भी स्थापित किया। उसने चीन से सांस्कृतिक व व्यापारिक संबंध स्थापित किए।

राजाधिराज प्रथम (1044 ई0 1052 ई0)– राजेन्द्र प्रथम के बाद उसका पुत्र राजाधिराज प्रथम 1044 ई0 में चोल राजगद्दी पर बैठा। उसने तत्कालिक चालुक्य नरेश सोमेश्वर को पराजित कर चालुक्य राजधानी कल्याणी पर अधिकार कर लिया। इस विजय के उपलक्ष्य में राजाधिराज ने 'विजय राजेन्द्र' की उपाधि धारण

की। तत्पश्चात् 1052 ई0 में कोप्पम के युद्ध में लड़ते हुए राजाधिराज की मृत्यु युद्ध क्षेत्र में ही हो गई। इसके छोटे भाई राजेन्द्र द्वितीय (1012 ई0 1064 ई0) ने युद्ध क्षेत्र में ही राज्याभिषेक सम्पन्न करवाया। इसके पश्चात वीर राजेन्द्र (1064ई0 से 1070 ई0) शासक बना, जिसने पश्चिम के चालुक्यों को कुंडलसंगमम् के मैदान में पराजित कर तुंगभद्रा नदी के किनारे विजय स्तम्भ की स्थापना की। 1070 ई0 में अधिराजेन्द्र शासक बना, लेकिन राज्य में हुए जन विद्रोह में उसकी हत्या गई। बाद में राजेन्द्र द्वितीय कुलोत्तुंग प्रथम नाम से शासक बना। चोल लेखों में कुलोत्तुंग को शुंगमतवित अर्थात् करों को हटाने वाला कहा गया है। इस वंश का अन्तिम शासक राजेन्द्र तृतीय (1250 ई0 1279ई0) था। लगभग 1279 ई0 में पाण्ड्यों ने चोल राज्य पर अधिकार कर इसे समाप्त कर दिया।

चोल प्रशासन– चोल प्रशासन की जानकारी अभिलेखों, तत्कालिक साहित्य एवं विदेशी यात्रियों के विवरण आदि से मिलती है। जिसकी विशिष्ट राजनीतिक एवं सांस्कृतिक विशेषता थी। इसमें केन्द्रीय नियंत्रण के साथ–साथ ग्रामीण व स्थानीय स्वायत्तता का अद्भुत संतुलन था।

केन्द्रीय प्रशासन

चोल शासन का स्वरूप राजतन्त्रात्मक व वंशानुगत था। राजा प्रशासन का प्रधान था व उसकी सहायता हेतु अनेक अधिकारीगण थे। राजा के निजी सहायकों को उद्मकुटुम कहा जाता था। उच्चस्तरीय अधिकारी पेरून्दनम व निम्न स्तरीय अधिकारी सीरुतरम कहलाते थे। ओलेनायकम् प्रधान सचिव होता था।

सैन्य संगठन– चोल नरेशों ने साम्राज्य की सुरक्षा एवं विजयों की दृष्टि से विशाल सेना का गठन किया। जिसके पदाति, अश्वारोही, गजारोही तीन अंग थे। चोलों की स्थायी सेना में पैदल, गजारोही, अश्वारोही आदि सैनिक शामिल होते थे। 'कुंजिर–मल्लर' गजारोही दल को, 'कुदिरैच्चैवगर' अश्वारोही दल को, 'बिल्लिगढ़' धनुर्धारी दल को, 'सैगुन्दर' भाला से प्रहार करने में निपुण सैनिकों को एवं 'वेलैक्कोर' राजा के अति विश्वसनीय अंगरक्षक को कहते थे। सेना गुल्मों व छावनियों (कडगम) में रहती थी। चोल काल में सेना की टुकड़ी का नेतृत्व करने वाले को नायक तथा सेनाध्यक्ष को महादण्डनायक कहा जाता था। इनके अतिरिक्त चोलों ने एक शक्तिशाली नौ सेना बनाई। चोल शासक अपने जहाजों को व्यापारिक एवं सैनिक दोनों कार्यों के लिए प्रयुक्त करते थे। चोल नरेश राजराज प्रथम ने नौ सेना द्वारा उत्तरी श्रीलंका, मालद्वीप एवं लक्षद्वीप को विजित कर साम्राज्य विस्तार किया। राजेन्द्र प्रथम की नौ सेना ने अपनी विजय वैजयन्ती गांगेय क्षेत्र, सिंहल द्वीप, बंगाल की खाड़ी के पार जावा, सुमात्रा एवं मलय प्रायद्वीप पर फहरा दी। इस समय बंगाल की खाड़ी चोल झील बन गई। महाबलिपुरम तथा कावेरी पट्टनम मुख्य चोल बन्दरगाह थे।

न्याय व्यवस्था– राजा सर्वोच्च न्यायाधीश होता था। चोल अभिलेखों में राजा के धर्मासन का अंतिम न्याय प्राप्त करने के स्थान के रूप में उल्लेख है। जहाँ पर राजा धर्मासनभट्ट, जो स्मृतिशास्त्र ज्ञाता ब्राह्मण विद्वान होता था, की सहायता से न्याय करता था। न्याय के लिए नियमित न्यायालयों का गठन किया गया एवं ग्राम न्यायालय व जातीय पंचायत का विधान था। छोटे विवादों पर स्थानीय निगम निर्णय देते थे। चोलों की दण्ड व्यवस्था में आर्थिक दण्ड एवं सामाजिक अपमान के दण्ड का विधान था। प्रायः आर्थिक दण्ड काशु (सोने का सिक्का) के रूप में देना पड़ता था।

राज्य की आय के स्त्रोत– राज्य की आय का मुख्य साधन भू–राजस्व था। भू–राजस्व निर्धारित करने से पूर्व भूमि का सर्वेक्षण, वर्गीकरण एवं नाप–जोख कराया जाता था। तत्कालीन अभिलेखों से ज्ञात होता है कि राजराज प्रथम एवं कुलोत्तुंग के पैर की माप ही भूमि की लम्बाई मापने की इकाई बनी। भूमिकर भूमि की उर्वरा एवं वार्षिक फसल चक्र देखने के बाद निर्धारित किया जाता था। संभवतः चोल काल में भूमि कर उपज का एक तिहाई हिस्सा हुआ करता था। चोल अभिलेखों भूमि कर के अतिरिक्त अन्य करों का उल्लेख मिलता है, जो इस प्रकार है –

आयम	राजस्वकर
मनैइरै	गृहकर
कढ़ैइरै	व्यापारिक प्रतिष्ठानों पर लगने वाला कर
मगन्मै	व्यवसाय कर
आजीवकाशु	आजीविका पर लगने वाला कर

राजस्व विभाग का उच्च अधिकारी वरित्पोत्तगकक् कहा जाता था। व्यापार–वाणिज्य, आयात–निर्यात, सिंचाई कर आदि आय के अन्य साधन थे। राजस्व प्रशासनिक एवं जनहितोपयोगी कार्यों आदि पर व्यय होता था।

प्रान्तीय प्रशासन– साम्राज्य विभिन्न प्रान्तों में विभाजित था। जिन्हें मण्डलम् कहा जाता था। इनके प्रशासक को 'मण्डल मुडालि' कहते थे। मण्डल–मुडालि सामान्यतः राजपरिवार के सदस्य होते थे, जिन्हें राजा नियुक्त करता था। प्रान्तों के अपने अधिकारी, सेना एवं न्यायालय होते थे। प्रान्तों का विभाजन क्रमशः वलनाडु (कोट्टम), नाडु (जिला), कुर्रम (ग्राम समूह) एवं ग्राम में होता था।

स्थानीय प्रशासन– चोल प्रशासन की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता ग्रामीण एवं नगरीय स्तर पर स्थानीय स्वायत्तता की व्यवस्था थी। जो प्रतिनिधि संस्थाओं उर, सभा, महासभा एवं नगरम् के द्वारा संचालित होता था। इनके सदस्यों के लिए शैक्षणिक, आर्थिक तथा नैतिक योग्यताएं अनिवार्य थी। ये निर्वाचित सदस्यों को 'पेरु मक्कल' कहा जाता था। ये सदस्य समितियों, जिन्हें 'वारियम' कहा जाता था, के माध्यम से सिंचाई व्यवस्था, भूमि विवरण, लगान एवं करों की वसूली, मन्दिरों की देखरेख, न्याय आदि प्रशासनिक कार्यों की देखभाल करते थे। उर सामान्य वयस्क पुरुष कर दाताओं की सभा थी, जबकि सभा, महासभा में सिर्फ ब्राह्मण सदस्य होते थे। इनको आन्तरिक स्वायत्तता प्राप्त थी। केन्द्रीय हस्तक्षेप न के बराबर था। वस्तुतः ग्राम लघु गणतंत्र ही थे, इस प्रकार चोल प्रशासन सुसंगठित एवं कार्य कुशल शासन था।

चोल कला– चोलकाल में पौराणिक, शैव एवं वैष्णव धर्मों का पुनर्जागरण हुआ। नयनार (शैव) व आलवार (वैष्णवों) ने अपने

प्रवचनों तथा भजनों से दक्षिण को आप्लवित किया। चोल स्वयं शैव धर्मानुयायी थे तथापि वे धार्मिक सहिष्णु थे। उन्होंने शैव मन्दिरों के निर्माण के साथ–साथ वैष्णव मन्दिरों का निर्माण तथा जैन बौद्ध विहारों को अनुदान दिया। मन्दिरों ने सांस्कृतिक, धार्मिक व आर्थिक जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

चोल कला प्रेमी एवं महान् निर्माता थे। उन्होंने विशाल राज प्रासाद, कृत्रिम झीलें, विस्तीर्ण बाँध, सुन्दर नगर, धातु एवं पाषाण की मूर्तियां तथा भव्य मन्दिरों का निर्माण कराया। चोल स्थापत्य की मुख्य देन मन्दिर निर्माण है। इन मन्दिरों का निर्माण द्रविड़ शैली के अन्तर्गत हुआ। महान् चोल शासकों ने अपने शासन काल में द्रविड़ स्थापत्य कला शैली को विकास के चरमोत्कर्ष पर पहुँचाया। उनके द्वारा निर्मित मन्दिरों की मुख्य विशेषताएं विशाल व वर्गाकार विमान, मध्य में विस्तृत आंगन, अलंकृत गोपुरम, मण्डप, अन्तराल सजावट के लिए पारम्परिक सिंह ब्रेकेट तथा संयुक्त स्तम्भों का प्रयोग आदि हैं। चोलकालीन प्रारम्भिक मंदिरों में तिरुकट्टलाई का सुन्दरेश्वर मंदिर, नरतमलाई का विजयालय चोलेश्वर मन्दिर प्रसिद्ध है। राजराज का वृहदेश्वर, राजेन्द्र प्रथम का गंगैकोण्डचोलपुरम तथा कोरंग नाथ, ऐरातेश्वर, त्रिभुवनेश्वर आदि अन्य प्रमुख मन्दिर हैं।

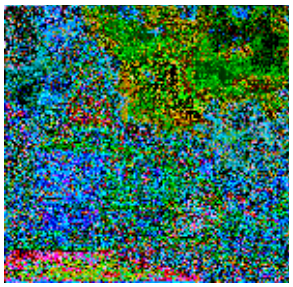

गंगैकोण्डचोलपुरम

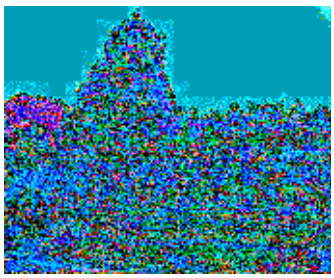

बृहदीश्वर मंदिर,तजौर

तंजौर में स्थित राजराज प्रथम द्वारा निर्मित राजराजेश्वर अथवा बृहदीश्वर मंदिर को चोल स्थापत्य कला का चरमोत्कर्ष माना जाता है। इस मंदिर के निर्माण में द्रविड़ कला शैली का पूर्ण विकास हुआ है। इस मंदिर का निर्माण (1003 ई0 –1111 ई0) में हुआ। इस मंदिर का आयाताकार प्रांगण 160 मीटर लम्बा एवं 80 मीटर चौड़ा है। मंदिर का सर्वाधिक आकर्षण भाग है, गर्भगृह के ऊपर पश्चिम में बना 60 मीटर ऊँचा विमान, उसके ऊपर 3.50 मीटर ऊँचा पिरामिडाकार का शीर्षभाग है। मंदिर के आधार तल के वर्गाकार कक्ष में 2.25 मीटर चौड़ा प्रदक्षिणा–पथ निर्मित है। गर्भगृह में एक विशाल शिवलिंग की स्थापना की गयी। पर्सी ब्राउन ने तंजौर के बृहदीश्वर मंदिर के विमान को 'भारतीय वास्तुकला का निकष' माना। गंगेकोण्डचोलपुरम के मंदिर का निर्माण राजराज के पुत्र राजेन्द्र प्रथम ने करवाया था। इस मंदिर का आधार 105 मीटर लम्बा एवं 50 मीटर चौड़ा है। इसका आठ मंजिला विमान लगभग 50 मीटर ऊँचा है। इस मंदिर को द्रविड़ चोल मंदिर कला की परिणति कहा जा सकता है। इस काल के कुछ अन्य मन्दिरों में तंजौर में स्थित दार सुरम् का ऐरावतेश्वर मंदिर एवं त्रिभुवनम् का कंपहरेश्वर मंदिर उल्लेखनीय है। चोल कला का प्रभाव इण्डो–चीन तथा सुदूर पूर्व के देशों पर पड़ा, जिसका प्रमुख उदाहरण अंकोरवाट का महान् मन्दिर है।

स्थापत्य के साथ–साथ तक्षण कला के क्षेत्र में भी चोल कलाकारों ने सफलता प्राप्त की। इस काल में उत्कृष्ट तक्षणकला के उदाहरण ब्रह्मा, विष्णु, नटराज, राजा–रानियों आदि की पाषाण, कांस्य व अष्टधातु की मूर्तियों हैं। इस काल में धातु मुर्तियों में 'नटराज शिव' की कांस्य मूर्ति विशेष उल्लेखनीय है। शिवमूर्ति के अलावा पार्वती, स्कन्द, कार्तिकेय एवं गणेश आदि शैव देवताओं की मूर्तियां कांस्य द्वारा बनी। मूर्तिकला, भवन निर्माण कला की सहायक कला के रूप में भी विकसित हुई। मंदिरों की दीवारों एवं छतों पर इनका प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ। चोल चित्रकला, पल्लव–पाण्डव शाखा का ही विकसित रूप है। भित्तिचित्र कला के अन्तर्गत बृहदीश्वर मंदिर की दीवारों पर अजन्ता की चित्रकला से प्रभावित धार्मिक चित्रकारी की गई है। शिव, कैलाश, नन्दी आदि चित्रों को उकेरा गया है। तंजावुर में उत्कृष्ट चित्रकला के उदाहरण मिलते हैं। हिन्दू धर्म एवं संस्कृति के प्रसार–प्रचार के साथ–साथ दक्षिण पूर्वी एशिया में चोल स्थापत्य, शिल्प तथा चित्रकला आदि का प्रसार–प्रचार हुआ।

राजराज प्रथम ने अपने शासन के दौरान चोल अभिलेखों का प्रारम्भ 'ऐतिहासिक प्रशस्ति' के साथ करवाने की प्रथा की शुरूआत की। उसने शैलेन्द्र शासक श्रीमार विजयोत्तुंग वर्मन को नागपट्टम में 'चूड+ामणि' नामक बौद्ध विहार बनाने की अनुमति दी और साथ ही इसके निर्माण में आर्थिक सहायता भी दी। राजराज ने अपने धर्म–सहिष्णु होने का परिचय राजराजेश्वर मंदिर की दीवारों पर बौद्ध प्रतिमाओं का निर्माण करवा कर दिया।

चोल साहित्य – चोल शासक शिक्षा एवं साहित्य के संरक्षक थे। मन्दिर तथा ग्राम महासभाएं शिक्षा के केन्द्र थे। तमिल एवं संस्कृत भाषा का प्रचलन था। तमिल को राजाश्रय प्राप्त था। कम्बन ने रामावतार नामक ग्रंथ की रचना की। कंबन कुलोत्तुंग तृतीय के दरबार में रहते थे। इनके काल को तमिल साहित्य का स्वर्णकाल माना जाता हैं। जयन्गोन्दार ने कलितुंग पर्णी नामक ग्रंथ की रचना की। जयन्गोन्दार चोल शासक कुलोत्तुंग प्रथम का राजकवि था। शेक्किल्लार का परियापुराणम तथा पुलगेन्दी का नलबेम्ब महत्त्वपूर्ण रचनाएं हैं। इसके अतिरिक्त अन्य महत्त्वपूर्ण रचनाओं में प्रिय पूर्णम् या शेखर की तिरुट्टोन्डपूर्णम्, नंदी का तिरुविलाईयादल पूर्णम्, अमुदनार का रामानुज नुरंदादि, तिरुकदेवर का शिवकोशीन्दमणि आदि धार्मिक ग्रंथ तथा बुद्धमित्र का विरासोलियम्, पबन्दी का नन्नौर आदि व्याकरण ग्रंथ प्रमुख हैं। जैन ग्रंथों में तिस्क्करदेवर का जीवक चिंतामणी बौद्ध ग्रंथों में कुण्डल केशी महत्त्वपूर्ण है। रामानुज, यमुनाचार्य एवं ऋग्वेद पर भाष्यकार वैकट माधव आदि ने संस्कृत ग्रंथों की रचना की।

चोल वंश की मुख्य उपलब्धियाँ उसका स्थानीय स्वशासन, नौ सेना, तमिल ग्रंथ, विशालकाय मंदिर और मूर्तियाँ हैं। इसी कारण दक्षिण भारत के इतिहास में यह काल एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से चोल वंश भारतीय इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण युग का परिचायक है।

कल्हण की राजतरंगिणी एवं कश्मीर का इतिहास

कल्हण कश्मीर के लोहर वंश के शासक हर्षदेव (1068 ई.–1101 ई.) के महामात्य चंपक के पुत्र और संगीतमर्मज्ञ कनक

के अग्रज थे। कल्हण ने राजतरंगिणी की रचना लोहर वंश के अन्तिम शासक जयसिंह के समय में की। इसका रचना काल सन् 1147ई. से 1149ई. तक है। इसमें कश्मीर का इतिहास वर्णित है जो महाभारत काल से लेकर स्वयं अपने युग तक के कश्मीर के इतिहास का विवरण दिया है। भारतीय इतिहास लेखन में कल्हण की राजतरंगिणी पहली प्रामाणिक पुस्तक मानी जाती है। राजतरंगिणी में आठ तरंग और संस्कृत में कुल 7826 श्लोक हैं। पहले के तीन तंरगों में कश्मीर के प्राचीन इतिहास की जानकारी मिलती है। जिसमें कश्मीर की पीढ़ी–दर–पीढ़ी से आ रही मौखिक परम्पराओं का चित्रण है। इस युग के इतिहास के पुनर्निर्माण के लिए उन्होंने पौराणिक स्रोतों, अनुश्रुतियों तथा मिथकों का उपयोग किया है। इस युग के राजाओं का महाभारत तथा रामायण के चरित नायकों के संबंध में जोड़ा गया है। चौथे से लेकर छठें तंरग में कार्कोट एवं उत्पन्न वंश के इतिहास का वर्णन है। केवल अंतिम दो अध्याय कल्हण की व्यक्तिगत जानकारी एवं ग्रंथावलोकन पर आधारित है। इस युग के बारे में उनकी पकड़ निश्चय ही ऐतिहासिक अभिलेखों और बौद्ध स्रोतों तक पहुंची थी। अन्तिम सातवें एवं आठवें तंरग में लोहर वंश का इतिहास उल्लिखित है। पुस्तक में घटनाओं का क्रमबद्ध उल्लेख है। कल्हण ने पक्षपातरहित होकर राजाओं के गुण एवं दोषों का उल्लेख किया है। पुस्तक के विषय के अन्तर्गत राजनीति के अतिरिक्त सदाचार एवं नैतिक शिक्षा पर भी प्रकाश डाला गया है। कल्हण ने अपने ग्रंथ राजतरंगिणी में संस्कृत भाषा का प्रयोग किया। कल्हण की राजतरंगिणी संस्कृत में उपलब्ध उन रचनाओं में पहली महत्त्वपूर्ण रचना है जिसमें ऐतिहासिक इतिवृत्त की विशेषताएं पाई जाती है।

'राजतरंगिणी' का शाब्दिक अर्थ है– राजाओं की नदी, जिसका भावार्थ है– 'राजाओं का इतिहास या समय–प्रवाह'। यह कवित् के रूप में है। कल्हण ने इतिहास को काव्य की विषय वस्तु बनाकर भारतीय साहित्य को एक नई विधा प्रदान की है और राष्ट्रजीवन के व्यापक विस्तार के साथ–साथ मानव प्रकृति की गहराईयों को भी छू लिया है।

राजतरंगिणी के प्रथम तरंग में बताया गया है कि सबसे पहले कश्मीर में पांडवो के सबसे छोटे भाई सहदेव ने राज्य की स्थापना की थी और उस समय कश्मीर में वैदिक धर्म ही प्रचलित था। फिर सन् 273 ईसा पूर्व कश्मीर में बौद्ध धर्म का आगमन हुआ।

राजतरंगिणी एक निष्पक्ष और निर्भय ऐतिहासिक कृति है। स्वयं कल्हण ने राजतरंगिणी में कहा है कि एक सच्चे इतिहास लेखक की वाणी को न्यायाधीश के समान राग–द्वेष–विनिर्मुक्त होना चाहिए, तभी उसकी प्रशंसा हो सकती है। कल्हण ने राजतंरगिणी की रचना पुराने राजवंशों की जानकारी देना, पाठकों का मनोरंजन करना, अतीत से शिक्षा लेना के आदि उद्देश्यों से रची गई। वे इस रचना के मूल में उनके कुछ अन्य उद्देश्य भी थे। वे कश्मीर पर शासन करने वाले विभिन्न राजवंशों की पूर्ण वंशावली भी देना चाहते थे। हर्ष की मृत्यु के बाद गृहयुद्ध तथा संघर्ष का युग आ गया था। उस समय जो अनिश्चय एवं अव्यवस्था का वातावरण व्याप्त था वह एक अन्य ऐसा तत्त्व था जिसने कल्हण को अपना इतिहास लिखने के लिए प्रेरित किया। अपने इतिहास के द्वारा वे जीवन–सांसारिक जीवन तथा भौतिक ऐश्वर्य की नश्वरता को प्रकट करना चाहते थे। उनकी यह इच्छा थी कि लोग अपने अतीत की गलतियों से सबक लें। इतिहास से सीख या सबक लेने के लिए उन्हें स्थितियों एवं घटनाओं का विश्लेषण करना पड़ा। यह विश्लेषण ही उनकी कृति को अन्य कृतियों की तुलना में विशिष्ट बना देता है।

कल्हण की कृति एक महान वीर के क्रिया–कलापों के साथ– साथ तत्कालीन समाज का वर्णन है, जिसमें कल्हण रह रहा था। उनका परिवार राजनीतिक सत्ता के काफी निकट था और उन्हें इस क्षेत्र के इतिहास के एक महत्त्वपूर्ण युग के बारे में प्रत्यक्ष जानकारी प्राप्त हुई। उन्हें राज्य की तरफ से कोई विशेष सहायता नहीं मिली। यही वजह है कि उनकी रचना अन्य प्रशस्तिपरक कृतियों से ऊपर उठ सकी। अपनी रचनाओं के लिए उन्होंने काव्य की विधा को अपनाया था, उन्होंने अपनी रचना में रसात्मकता के साथ–साथ ऐतिहासिक सत्य का संयोजन किया। उन्होंने जोर देकर कहा कि कवि को निष्पक्ष होना चाहिए।

कल्हण ने उन स्रोतो का विस्तार से हवाला दिया है जिनकी उन्होंने अपना इतिहास लिखने के लिए जाँच पड़ताल की है। उन्होंने अपने से पहले के ग्यारह विद्वानों का उल्लेख किया है जिन्होंने राजाओं की कालक्रमानुसार सूची दी और साथ ही उन्होंने उन विद्वानों की विवेचन–पद्धति की कमियों की ओर भी इशारा किया हैं। उन्होंने अनुश्रुतियों परम्पराओं और इस क्षेत्र पर लिखी गई प्रमुख रचनाओं जैसे नीलमत पुराण का उपयोग किया है। उन्होंने मंदिरों तथा अन्य भवनों में खुदे हुए अभिलेखों का उन्होंने जो युगांतरकारी उपयोग किया वह एक निश्चित प्रगति का सूचक है। साथ ही पूर्ववर्ती राजाओं द्वारा किए गये भूमिदान तथा धर्मदाय के बारे में उन्होंने अभिलेखों से जो सूचनाएँ एकत्र की उनका भी उपयोग किया है। इतिहास के तर्कसंगत स्रोतों के रूप में अभिलेखों का यह उपयोग निश्चय ही एक महान योगदान था। कल्हण ने चौथे तरंग के अंतिम भाग से अपने समय तक अर्थात 3886 लौकिक शक (813–14ई0) से 4225 लौकिक शक (1146–50 ई0) तक उसकी कालगणना और इतिहास सामग्री विस्तृत और विश्वनीय है। अपने पूर्ववर्ती ''सूरियों'' के 11 ग्रंथों और 'नीलमत'' (पुराण) के अतिरिक्त उसने प्राचीन राजाओं के 'प्रतिष्ठाशासन', 'वास्तुशासन', 'प्रशस्तिपट्ट', 'शास्त्र' (लेख आदि), भग्नावशेष, सिक्के और लोकश्रुति आदि पुरातात्विक साधनों से यथेष्ट लाभ उठाने का गवेषणात्मक प्रयास किया है। सबसे बड़ी बात यह है कि अपने युग अवस्थाओं और व्यवस्थाओं का निकट से अध्ययन करते हुए वह भी अपनी टीका टिप्पणी में बेबाक है। और तो और अपने आश्रयदाता महाराज जयसिंह के गुण–दोष चित्रण (तरंग 8, श्लोक 1550) में भी उसने अनुपम तटस्थता का परिचय दिया है।

विजयनगर साम्राज्य का उदय, कला एवं साहित्य का विकास

विजयनगर का शाब्दिक अर्थ है–'जीत का शहर'। प्रायः इस नगर को मध्ययुग का प्रथम हिन्दू साम्राज्य माना जाता है।

विजयनगर साम्राज्य का नाम तुंगभद्रा नदी के दक्षिणी किनारे पर स्थित इसकी राजधानी के नाम पर पड़ा। इनकी राजधानी विपुल शक्ति एवं सम्पदा की प्रतीक थी। विजयनगर के विषय में फारसी यात्री अब्दुल रज्जाक ने लिखा कि 'विजय नगर दुनिया के सबसे भव्य शहरों में से एक लगा, जो उसने देखे या सुने थे।'

विजयनगर साम्राज्य की स्थापना 1336 ई0 में हरिहर तथा बुक्का नामक दो भाइयों ने की। इतिहासकारों के अनुसार दक्षिण में भारत मुस्लिम सत्ता के विस्तार के विरूद्ध यह तीव्र प्रतिक्रिया थी। उस क्षेत्र के हिन्दुओं ने इस्लामी संस्कृति के प्रभाव से हिन्दू धर्म, समाज एवं संस्कृति को सुरक्षित रखने का प्रयास किया और इस नई चेतना के फलस्वरूप विजयनगर राज्य की स्थापना संभव हुई। विद्यारण्य नामक संत ने हरिहर और बुक्का को हिन्दू धर्म में पुनः दीक्षित किया और उन्हें एक स्वतन्त्र हिन्दू राज्य के निर्माण हेतु प्रेरित किया। यह स्मरणीय है कि हरिहर और बुक्का ने युद्ध में बन्दी बनाए जाने के पश्चात् इस्लाम धर्म ग्रहण कर लिया था। कुछ इतिहासकारों के अनुसार विजयनगर का राज्य दक्षिण भारत की अस्थिर राजनीति और विघटनकारी प्रवृत्तियों के कारण उत्पन्न हुआ। अलाउद्दीन के समय से ही दक्षिण में विद्रोह और उपद्रव होते आए थे। मुहम्मद बिन–तुगलक के समय में 1334 ई0 में काम्पिली प्रान्त में ऐसा ही विद्रोह आरम्भ हुआ। इसके दमन के लिए हरिहर और बुक्का को सेना सहित दक्षिण भारत भेजा गया। यहाँ पहुँचकर उन्होंने स्वतन्त्र सत्ता ग्रहण कर ली और पुनः हिन्दू धर्म स्वीकार कर लिया। उन्होंने हिन्दू धर्म को प्रश्रय एवं प्रोत्साहन दिया। हरिहर तथा बुक्का पहले काकतीय शासक प्रताप स्वरूप के सेवक थे। कालान्तर में ये काम्पिली चले गये। कालान्तर में अनुकूल परिस्थितियों में दोनों भाइयों ने विद्यारण्य सन्त के आशीर्वाद से हिन्दू बन कर विजयनगर साम्राज्य की नींव डाली। हरिहर और बुक्का ने अपने पिता संगम के नाम पर संगम राजवंश की स्थापना की।

संगम वंश (1336 ई.–1486 ई.)

हरिहर प्रथम और बुक्का के द्वारा स्थापित वंश को संगम वंश का नाम दिया जाता है। हरिहर प्रथम ने और बुक्का दोनों भाइयों ने सम्राट व महाराजाधिराज की उपाधियाँ धारण नहीं की। इस वंश के शासकों ने साम्राज्य विस्तार की नीति अपनाई।

हरिहर प्रथम (1336 ई0 से 1356 ई0) – संगम वंश के प्रथम शासक हरिहर प्रथम ने अनगोन्दी के स्थान पर नवीन नगर विजय नगर को अपनी राजधानी बनाया। इसने होयसल राज्य को अपने राज्य में मिलाया तथा कदम्ब व मदुरा पर विजय प्राप्त की। उसने राज्य में कृषि विकास के कार्य किया। लगभग इसी समय बहमनी राज्य की स्थापना हुई और दक्षिण भारत में प्रभुत्व का संघर्ष आरम्भ हुआ।

बुक्का प्रथम (1356 ई0 से 1377 ई0) – हरिहर का उत्तराधिकारी उसका भाई बुक्का प्रथम सिंहासन पर बैठा। उसने मदुरा को अपने साम्राज्य में शामिल किया। सर्वप्रथम बुक्का ने कृष्णा नदी को बहमनी तथा विजयनगर साम्राज्य के मध्य की सीमा माना। बुक्का ने 'वेदमार्ग प्रतिष्ठापक' की उपाधि ग्रहण की।

हरिहर द्वितीय– बुक्का की मृत्यु के बाद उसका पुत्र हरिहर द्वितीय उत्तराधिकारी बना, जिसने 1379 ई0 से 1406 ई0 तक राज्य किया। उसने दक्षिण के रेड्डी शासकों और वारंगल के राजा को पराजित किया। उसने बेलगाँव और गोआ के क्षेत्र भी जीते और श्रीलंका के उत्तरी भाग में भी सैनिक अभियान किए। उसने महाराजाधिराज तथा राजपरमेश्वर की उपाधियाँ धारण की। उसने कनारा, त्रिचनापल्ली, कांची तथा चिगलपुर को जीत कर अपना आधिपत्य किया।

देवराय प्रथम (1406 ई0 से 1422 ई0) – इसके बाद देवराय प्रथम शासक बना। देवराय प्रथम ने राज्य में सिंचाई की सुविधा के लिए तुंगभद्रा नदी पर बाँध बनाकर नहरें निकाली। उसके शासनकाल में ही इटली का यात्री 'निकोलो काण्टी' विजयनगर की यात्रा पर आया। 1422 ई. में इसकी मृत्यु हो गई बाद में वीर विजय शासक बना। उसके समय में बहमनी राज्य से पुनः युद्ध हुआ। बहमनी शासक फिरोज शाह ने उसे पराजित कर दिया। इस हार का बदला देवराय द्वितीय ने लिया।

देवराय द्वितीय – (1426 ई0 से 1446 ई0) – अगला शासक वीरविजय का पुत्र देवराय द्वितीय हुआ। वह इन वंश के महान शासकों में से था। इसे 'इमाडिदेवराय' भी कहा जाता था। उसने आन्ध्र एवं उड़ीसा के गजपति शासक को पराजित किया। देवराय योग्य शासक होने के साथ विद्या तथा विद्वानों का संरक्षक भी था। इसके दरबार में तेलुगू कवि श्रीनाथ कुछ समय तक रहा। फारसी राजदूत अब्दुल रज्जाक देवराय द्वितीय के समय में विजयनगर आया। देवराय ने मुसलमानों को मस्जिद निर्माण की स्वतन्त्रता दे रखी थी। एक अभिलेख में देवराय द्वितीय को 'गजबेटकर' (हाथियों का शिकारी) कहा गया है। 1446 ई. में इसकी मृत्यु हो गई। देवराय द्वितीय ने संस्कृत ग्रंथ 'महानाटक सुधानिधि' एवं ब्रह्मसूत्र पर एक भाष्य लिखा। उसकी मृत्यु के पश्चात् संगम वंश का पतन तीव्र गति से हुआ। इसके बाद मल्लिकार्जुन शासक बना, जिसे प्रौढ+ देवराय भी कहा जाता है।

विरुपाक्ष द्वितीय (1465 ई0 से 1485 ई0) –संगम वंश का अन्तिम शासक विरुपाक्ष के समय विजयनगर साम्राज्य विघटन की कगार पर आ गया। तब चन्द्रगिरी के गवर्नर सालुव नरसिंह ने विजयनगर राज्य की रक्षा की। विरुपाक्ष की मृत्यु के पश्चात हुई अराजकता के कारण सालुव नरसिंह राजगद्दी पर बैठा।

सालुव वंश (1485ई.–1505ई.)

1485ई. में नरसिंह सालुव ने सालुव वंश की स्थापना की। उसने आंतरिक शान्ति बहाल की लेकिन उड़ीसा के शासक पुरुषोत्तम गजपति ने उसे युद्ध में पराजित कर बन्दी बना लिया। अपने राज्य के कुछ क्षेत्रों को गजपतियों को सौंपकर वह पुनः स्वतन्त्र हो गया। मगर 1491ई. में उसकी मृत्यु हो गई। उसके पश्चात् इम्माड़ी नरसिंह (1491ई.–1505ई.) शासक बना, वह अल्पायु था। अतः उसके संरक्षक के रूप में नरसा नायक की नियुक्ति हुई। उसने सत्ता अपने हाथ में केन्द्रित कर ली और विजयनगर की शक्ति का पुनरूद्धार किया। उसने बीजापुर, बीदर, चोल, पाण्ड्य तथा चेर राज्यों के विरूद्ध सफलता प्राप्त की तथा उड़ीसा के गजपति शासकों को भी पराजित किया।

तुलुव वंश (1505ई.–1570ई.)

नरसा नायक की मृत्यु पर उसके बेटे वीर नरसिंह ने

इम्माड़ी नरसिंह की हत्या कर दी, इसी के साथ सालुव वंश का अन्त हो गया तथा वीर नरसिंह ने एक नये वंश की स्थापना की, जो तुलुव वंश के नाम से जाना जाता है। इस वंश का महानतम् शासक कृष्णदेव राय था, जिसने 1509ई. से 1529 ई. के बीच शासन किया।

कृष्णदेव राय–(1509ई. से 1529 ई.) – कृष्णदेव राय वीर नरसिंह का छोटा भाई था। इनके शासन काल में विजयनगर ऐश्वर्य एवं शक्ति की दृष्टि से अपने चरमोत्कर्ष पर था। उस समय विजयनगर की स्थिति संतोषजनक नहीं थी। उम्मत्तुर का सामन्त शासक स्वतन्त्र रूप से आचरण कर रहा था। उड़ीसा का शासक प्रतापरूद्र उदयगिरी के तटवर्ती क्षेत्रों पर अधिकार किए हुए था। बहमनी राज्य के उत्तराधिकारी राज्यों में बीजापुर, विजयनगर पर दबाव बनाए हुए था और पश्चिमी तट पर पुर्तगालियों की शक्ति सुदृढ़ होती जा रही थी। परन्तु दस वर्ष के संघर्ष में कृष्णदेव राय ने इन सभी समस्याओं का अंत किया। कृष्णदेव राय अपने सैनिक अभियानों में प्रायः सफल रहा। उसने बीदर तथा बीजापुर के शासकों सुल्तान महमूद शाह एवं युसुफ आदिल शाह को परास्त किया। उसने बहमनी सुल्तान महमूद शाह को बरीद से मुक्त कराकर पुनः सिंहासन पर बैठाया और 'यवन राज स्थापनाचार्य' की उपाधि धारण की। 1520 ई. तक कृष्णदेव राय ने अपने समस्त शत्रुओं को परास्त कर पराक्रम का परिचय दिया। दक्षिण में विजयनगर की प्रभुसत्ता स्थापित कर दी। उसने पुर्तगालियों के साथ मैत्रीपूर्ण नीति अपनाई। उसके शासनकाल में काफी बड़ी संख्या में पुर्तगाली व्यापारी और यात्री विजयनगर में आये। पुर्तगाली यात्री 'डोमिगोस पायस' ने कृष्णदेव राय के समय विजयनगर की यात्रा की। उसने भटकल में पुर्तगालियों को किला बनाने की अनुमति प्रदान की।

कृष्णदेव राय तेलुगू साहित्य का महान् विद्वान था। उसके दरबार में तेलुगू साहित्य के 8 सर्वश्रेष्ठ कवि रहते थे। स्थापत्य कला में कृष्णदेव राय ने नागलपुर नामक नये नगर की स्थापना की तथा हजारा एवं विट्ठलस्वामी नामक मंदिर का निर्माण कराया। कृष्णदेव राय की मृत्यु 1529ई. में हुई।

कृष्णदेव राय के बाद उसका छोटा भाई अच्युतराय (1529 ई. से 1542 ई.) उत्तराधिकारी हुआ, लेकिन अच्युतराय एक दुर्बल शासक होने के कारण केन्द्रीय सत्ता कमजोर हो गयी। अच्युतराय की मृत्यु के बाद उसका भतीजा सदाशिव राय सिंहासन पर बैठा। उसकी निर्बलता का लाभ उठाकर उसके मंत्री रामराय ने शासन पर नियन्त्रण कर लिया। उसने दक्षिण के मुसलमान राज्यों – बीजापुर, गोलकुण्डा, अहमदनगर और बीदर के पारस्परिक संघर्ष में हस्तक्षेप करके विजयनगर राज्य की शक्ति एवं प्रतिष्ठा में वृद्धि की। उसके नेतृत्व में सेना ने अहमद नगर को खूब लूटा और मस्जिदों को तोड़ा। ऐसे में चारों मुस्लिम राज्यों की संयुक्त सेना ने विजयनगर पर आक्रमण करके 25 जनवरी 1565 ई. को तालीकोटा के युद्ध में रामराय को पराजित किया। विजयनगर पर इसके विपरीत परिणाम हुए।

अराविडु वंश (1570 ई. से 1650 ई.)

रामराय का भाई तिरुमाल प्रधानमंत्री बना। उसने पैनुगौड़ा को राजधानी बनाया। 1570ई. में उसने सदाशिव राय को हटाकर स्वयं सिंहासन पर अधिकार कर लिया। उसने अरविन्दु वंश की नींव रखी। विजयनगर साम्राज्य धीरे–धीरे विखंडित होता गया तथा मैसुर, बेदनूर, तंजौर आदि स्वतंत्र राज्यों की स्थापना हुई। 1612 ई. में वोडियार ने मैसूर राज्य की स्थापना की। यह साम्राज्य लगभग तीन शताब्दी तक जीवित रहा, जिसने दक्षिण भारत में हिन्दू धर्म तथा संस्कृति के उत्थान में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

सांस्कृतिक प्रगति

मध्यकालीन दक्षिण भारत के इतिहास में विजयनगर साम्राज्य के सांस्कृतिक योगदान का विशेष महत्त्व है। दो शताब्दियों से कुछ अधिक समय तक विजयनगर का राज्य दक्षिण की राजनीति मे अपना प्रभाव बनाए रखने में सफल रहा। इस राज्य के शासकों ने सांस्कृतिक जीवन के क्षेत्र में भी उल्लेखनीय योगदान दिया। हिन्दू शासकों की सत्ता के अधीन होने के कारण यह राज्य हिन्दू धर्म और संस्कृति का केन्द्र रहा। विजयनगर के शासकों ने विशेषकर हिन्दू धर्म और संस्कृति को प्रोत्साहन दिया। मध्यकाल में हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान का श्रेय विजयनगर के शासकों को दिया जाता है। विजयनगर के शासकों ने साहित्य, स्थापत्यकला, चित्रकला और संगीत आदि को प्रोत्साहन दिया। विजयनगर साम्राज्य को सांस्कृतिक गतिविधियों का उत्कृष्ट केन्द्र बना दिया। इसकी पुष्टि तत्कालीन साहित्यिक रचनाओं, अभिलेखों और विदेशी यात्रियों के वृतान्त से होती है।

साहित्य का विकास

विजयनगर की साहित्यिक कृतियों में धार्मिक, ऐतिहासिक, जीवन वृत्तान्त एवं काव्य संबंधी रचनाएँ उपलब्ध हैं। विजयनगर के प्रारम्भिक शासकों में बुक्का प्रथम ने अनेक धार्मिक रचनाओं के लेखन में योगदान दिया। सायण के नेतृत्व में विद्वानों के एक मण्डल ने चारों वेदों की संहिताओं सहित अनेक ब्राह्मण ग्रंथों और आरण्यकों पर भाष्य लिखे। कृष्णदेव राय के संरक्षण में ईश्वर दीक्षित ने हेमकूट नामक महाकाव्य पर दो टीकाएं लिखीं। अगस्त्य ने अनेक काव्यों की रचना की, जिनमें कुछ रचनाओं पर कृष्णदेव के मंत्री सालुआ तिम्मर ने टीका लिखी। विजयनगर का महानतम् शासक कृष्णदेव राय, एक उत्कृष्ट कोटि का कवि और लेखक था, जिसे संस्कृत एवं तेलुगू भाषाओं में प्रवीणता प्राप्त थी। उसकी तेलुगू रचना 'आमुक्त मालयदम्' थी, जो तेलुगू भाषा में पाँच महाकाव्यों में से एक है। कृष्णदेव राय ने संस्कृत में एक नाटक जाम्बवती कल्याणम् की रचना की। कृष्णदेव राय के दरबार में तेलुगू साहित्य के 8 सर्वश्रेष्ठ कवि रहते थे। साथ ही उनके दरबार में अनेक कवियों को प्रश्रय मिला, जिसमें सबसे प्रसिद्ध नाम अलसानी पेदन है, उन्हें तेलुगू कविता के पितामह के नाम से जाना जाता है। उसकी प्रमुख रचना 'स्वारोचितसम्भव' है। दूसरा कवि नन्दी तिम्मन था, जिसने 'परिजात हरण' की रचना की। तीसरे कवि भट्टमूर्ति ने अलंकार शास्त्र से सम्बन्धित पुस्तक 'नर सभूयालियम' की रचना की। एक अन्य कवि हरिदास था, जो वैष्णव भक्ति के विचार से प्रभावित था। कृष्णदेव राय के दरबार में तेनालीराम एक प्रसिद्ध कवि था, ने पाण्डुरंग महात्म्य की रचना की। जिसकी तुलना अकबर के प्रसिद्ध दरबारी बीरबल

से की जाती है।

साहित्यिक रचनाओं में राजनाथ का ''सालूवाभियुदय'' और भागवत–चंपू विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनका ऐतिहासिक महत्त्व भी है। शासकों की जीवनी से संबंधित रचनाओं में बुक्का प्रथम के पुत्र कुमार कम्पन की सफलताओं पर आधारित, उसकी पत्नी की काव्य रचना 'मदुरा विजयम्' है। एक दूसरी रचना तिरूवलाम्बा की वरदाम्बिकापरिणय है, जिसमें अच्युत राय और वरदाम्बिका के विवाह का वर्णन है। इन रचनाओं के अतिरिक्त दर्शन, यज्ञतंत्र आदि से संबंधित अनेक रचनाएं भी इस काल में लिखी गईं।

संस्कृत और तेलुगू भाषाओं को यद्यपि विजयनगर के शासकों ने प्राथमिकता दी, फिर भी अन्य भाषाओं के कवियों को इन्होंने प्रश्रय दिया। तमिल भाषा पहले ही विकसित अवस्था में थी और विजयनगर काल में इसकी प्रगति में कोई अवरोध उत्पन्न नहीं हुआ। कन्नड़ भाषा में भी अनेक तीर्थंकरों और सन्तों की जीवनियाँ इस काल में लिखी गई। मधुर ने 'धर्मनाथ पुराण' की रचना की तथा गोमतेश्वर की स्तुति में कविताओं की रचना की। कृष्णदेव राय के दरबार में संस्कृत एवं कन्नड़ भाषाओं में विभिन्न पुस्तकों की रचना हुई, जिनमें 'भाव चिंतारण' तथा 'वीर शैवामृत' प्रमुख हैं। कृष्णदेव राय और अच्युत राय ने वैष्णवों, लिंगायतों तथा जैनों को भी संरक्षण दिया।

कला

विजयनगर के शासकों ने स्थापत्य कला के विकास में भी प्रशंसनीय योगदान दिया। दक्षिण भारत में मन्दिर निर्माण शैली को चरमोत्कर्ष विजयनगर के शासकों के काल में ही प्राप्त हुआ। इस शैली के सर्वोत्कृष्ट उदाहरणों में देव राय द्वितीय द्वारा निर्मित 'हजारा मन्दिर' और कृष्णदेव राय द्वारा निर्मित 'विट्ठलस्वामी के मन्दिर' का नाम लिया जा सकता है। ये मन्दिर चोलकाल में विकसित द्रविड़ शैली में ही हैं, लेकिन इनमें कुछ नई विशेषताएँ भी शामिल हैं। सबसे पहले हर मन्दिर में मण्डप के अतिरिक्त एक 'कल्याण मण्डप' का निर्माण किया गया है। यह आमतौर पर मन्दिर के आँगन के बांयी ओर बनाया जाता था। इसमें अत्यन्त अलंकृत स्तम्भों का प्रयोग होता था। इस मण्डप में देवता के विवाह समारोह का त्यौंहार मनाया जाता था। दूसरी विशेषता 'अम्मान मन्दिर' के रूप में देखी जा सकती है। एक अतिरिक्त मन्दिर था, जिसमें देवता की पत्नी की विशेष रूप से आराधना की जाती थी। इनके अतिरिक्त मन्दिर में प्रवेश द्वार बने थे। गोपुरम और मन्दिर के स्तम्भों के अलंकार पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया। विजयनगर शैली के भवन तुंगभद्रा नदी से दक्षिण क्षेत्र में फैले हुए हैं। इनमें काँचीपुरम का एकाग्रनाथ नामक मन्दिर तथा ताड़पत्री स्थित रामेश्वरम् मन्दिर अपने सुन्दर गोपुरों के कारण अत्यन्त प्रसिद्ध है, जबकि श्रीरंग स्थित शेषगिरी मण्डप में प्रस्तुत घोड़ों की मूर्तियाँ अपनी सुन्दरता के लिए प्रसिद्ध है।

स्तम्भ की विविध तथा जटिल सजावट विजयनगर शैली की सबसे बड़ी विशेषता है। स्तम्भ के चारों ओर बड़े–बड़े तथा गोलाकार मूर्तियों के काफी समूह है, जिनमें पिछले पैर के बल खड़े कुछ घोड़े या कोई अलौलिक जानवरों का सर्वाधिक अंकन हैं। सब स्तम्भ और मूर्तियाँ एक ही ठोस पत्थर को काटकर निर्मित होती थी। अलंकार ही विजयनगर स्थापत्य शैली की उल्लेखनीय विशेषता है। उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर विजयनगर के शासकों द्वारा सांस्कृतिक जीवन को प्रोत्साहन देने का निश्चित प्रमाण प्रस्तुत किया जा सकता है। विजयनगर की इस शैली को आगे चलकर मदुरा के नायकों द्वारा प्रोत्साहित किया गया।

विजयनगर के शासकों द्वारा अनेक महलों एवं राजप्रासादों का भी निर्माण कराया गया, जिनमें से कुछ के अवशेष साम्राज्य की राजधानी विजयनगर वर्तमान में कर्नाटक के हम्पी नामक स्थान में देखे जा सकते हैं। इन भवनों की दीवारों पर चित्रण के सुन्दर उदाहरण देखे जा सकते हैं। इनकी विशेषता यह है कि इनमें विभिन्न देशों के रहन–सहन को दर्शाया गया है। चित्रकला के अतिरिक्त मूर्तियों का निर्माण भी इस काल में प्रचुर मात्रा में हुआ। ये मूर्तियाँ अधिकतर शासकों की हुआ करती थीं, इनका निर्माण पत्थरों को काटकर या काँसे का ढालकर किया जाता था। कृष्णदेव राय और उसकी पत्नियों, वेंकट प्रथम और कुछ अन्य शासकों की कांस्य की बनी विशाल मूर्तियाँ धातुकला में विजयनगर के कारीगरों की प्रवीणता को स्पष्ट करती है।

संगीत को भी विजयनगर के शासकों ने विशेष प्रोत्साहन दिया। उनके दरबार में संगीत एवं नृत्य की लोकप्रियता रही। कृष्णदेव के दरबार मे अनेक विख्यात संगीतकार, गायक और नर्तक मौजूद थे, जिन्हें उचित सम्मान और संरक्षण प्राप्त था। संगीत एवं नृत्य संबंधी सिद्धान्तों की व्याख्या के लिए भी अनेक पुस्तकें लिखी गई। इनमें सर्वप्रथम सायण द्वारा रचित 'संगीतसार' थी। मल्लीनाथ संगीत विषय के लेखक जिन्होंने मल्लिकार्जुन

अध्ययन बिन्दु

- चाणक्य चन्द्रगुप्त मौर्य के गुरु थे।
- अशोक ने धम्म् की नीति का प्रतिपादन किया।
- गुप्त वंश के संस्थापक श्री गुप्त थे।
- प्रयाग प्रशस्ति में समुद्रगुप्त की विजयों का उल्लेख मिलता है।
- प्रयाग प्रशस्ति के लेखक हरिषेण थे।
- स्कंदगुप्त ने सुदर्शन झील का पुनः निर्माण कराया।
- गुप्तकालीन चित्रकला के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण अजंता व बाघ की गुफाओं से मिले।
- हर्ष के समय चीनी यात्री ह्वेनसाँग ने भारत की यात्रा की।
- हर्ष ने महायान बौद्ध धर्म को आश्रय दिया।
- चोलों ने बंगाल की खाड़ी को चोल झील बना दिया था।
- चोल शासकों ने वर्तमान के इण्डोनेशिया, श्रीलंका आदि देशों को विजित किया।
- हरिहर व बुक्का ने विजयनगर साम्राज्य की स्थापना की।
- विजयनगर साम्राज्य के अवशेष वर्तमान में कर्नाटक राज्य के हम्पी में देखे जा सकते हैं।
- विजयनगर के शासकों के दक्षिण के मुस्लिम राज्यों को बार–बार पराजित किया।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

1. चन्द्रगुप्त मौर्य ने किसकी सहायता से मौर्य साम्राज्य की स्थापना की ?
   (अ) चाणक्य (ब) धनानंद
   (स) मेगस्थनीज (द) सेल्यूकस ( )

2. अशोक के धम्म की परिभाषा किस स्तंभ लेख में मिलती है ?
   (अ) प्रथम (ब) द्वितीय
   (स) चतुर्थ (द) अष्ठम् ( )

3. प्रयाग प्रशस्ति में किस गुप्त शासक की विजयों का उल्लेख है ?
   (अ) चन्द्रगुप्त प्रथम (ब) स्कंदगुप्त
   (स) समुद्रगुप्त (द) कुमारगुप्त ( )

4. किस भारतीय गणितज्ञ ने दशमलव प्रणाली का सर्वप्रथम विवेचन किया ?
   (अ) वराहमिहिर (ब) ब्रह्मगुप्त
   (स) धनवन्तरी (द) आर्यभट्ट ( )

5. निम्नलिखित रचनाओं में से किसकी रचना हर्षवर्धन ने नहीं की थी ?
   (अ) हर्षचरित (ब) नागानंद
   (स) प्रियदर्शिका (द) रत्नावली ( )

6. किस चोल शासक ने गंगैकोण्ड चोल की उपाधि धारण की ?
   (अ) राजराज प्रथम (ब) राजेन्द्र प्रथम
   (स) राजाधिराज प्रथम (द) आदित्य प्रथम ( )

7. विजयनगर के किस शासक के दरबार में आठ सर्वश्रेष्ठ कवि रहते थे ?
   (अ) कृष्णदेव राय (ब) अच्युत देव राय
   (स) देवराय प्रथम (द) देवराय द्वितीय ( )

8 .चोल प्रशासन की प्रमुख विशेषता क्या थी ?
   (अ) केन्द्रीय प्रशासन (ब) स्थानीय स्वायत्त शासन
   (स) प्रान्तीय शासन (द) सैन्य प्रशासन ( )

1. अर्थशास्त्र नामक पुस्तक की रचना किसने की ?
2. 'धम्म' का सिद्धान्त किसने प्रतिपादित किया ?
3. सुदर्शन झील का निर्माण किसने कराया ?
4. गुप्त संवत कब और किसने प्रचलित किया ?
5. चीनी यात्री फाह्यान किस गुप्त शासक के समय भारत आया ?
6. किस गुप्त शासक ने उज्जैन को अपनी दूसरी राजधानी बनाया ?
7. किस गुप्त शासन ने सुर्दशन झील का पुनः निर्माण कराया ?
8. भारत में मन्दिर वास्तु कला किस काल में विकसित हुई ?
9. हिन्दु विधियों का संकलन किस युग में हुआ ?
10. हर्ष के समय कौन–सा चीनी यात्री भारत आया था ?
11. हर्ष अपने राज्य की आय को कितने भागों में बाँटता था ?
12. बाणभट्ट की दो रचनाओं के नाम लिखिए।
13. करिकाल ने कहाँ व किस नगर की स्थापना की ?
14. किस चोल शासक की नौ सेना अत्यन्त विकसित थी ?
15. हरिहर व बुक्का किस महात्मा के आशीर्वाद से विजय नगर साम्राज्य की स्थापना की ?

1. मौर्य कालीन प्रान्तीय प्रशासन को बताइऐ ।
2. अशोक के प्रशासनिक सुधारों पर टिप्पणी लि

अध्याय–3

बाह्य आक्रमण एवं आत्मसातीकरण

अन्तिम मौर्य सम्राट वृहद्रथ की हत्या करके पुष्यमित्र शुंग ने 185 ईस्वी पूर्व में मौर्य साम्राज्य को समाप्त कर दिया। सन् 200 ईस्वी पूर्व के बाद का जो युग था जिसे हम मौर्योत्तर भारत की संज्ञा दे सकते है । इस समय कोई बड़ा साम्राज्य तो स्थापित नहीं हुआ, पर यह युग ऐतिहासिक दृष्टिकोण से इसलिए महत्वपूर्ण है कि उस युग में मध्य एशिया से सांस्कृतिक संबंध स्थापित हुए और विदेशी तत्वों का भारतीय समाज में समावेश हुआ । असंख्य यूनानी भारतीय धर्मों के अनुयायी बन गए। यूनानियों ने क्रमशः भारतीय ढ़ंग को अपना लिया। समय के साथ वे जैसे भारतीय भूमि की उपज ही बन गए और अन्त में यूनानी विशेषताऐं भारत में ही आत्मसात होकर मुख्यधारा में विलीन हो गई। मौर्योत्तर काल में किसी एक राजवंश का सम्पूर्ण भारत पर नियत्रंण नहीं था, बल्कि अनेक क्षेत्रिय व स्थानीय राजवंशों का अलग–अलग क्षेत्रीय में शासन था। अध्ययन की सुविधा की दृष्टिकोण से इन शासक वर्गों को दो भागों में बाँटा जा सकता है – विदेशी शासक व भारतीय शासक । विदेशी शासकों में मुख्यतः यूनानी (इण्डो–ग्रीक जिन्हें हिन्दयवन भी कहा जाता है), शक, कुषाण व हूण राजवंशों को रखा जा सकता है। भारतीय शासकों में शुंगवंश , कण्ववंश, चेदिवंश और सातवाहन वंश के शासक प्रमुख थे।

मौर्योत्तर काल से हमारा तात्पर्य उस काल से है, जो मौर्य साम्राज्य के पतन से लेकर गुप्त साम्राज्य के उद्भव तक के इतिहास को बताता है । यह वह काल था, जब मोर्यों को केन्द्रीकृत शासन व्यवस्था बिखर रही थी और विदेशी राजवंश भारत पर निरन्तर आक्रमण कर रहे थे , दूसरी और कई भारतीय राजवंश अपने अस्तित्व के लिए संघर्षरत थे ।

इस समय उत्तर और दक्षिण भारत भारतीय शासकों के अधीन ही रहा किन्तु भारत के उत्तर–पश्चिम सीमा विदेशी आक्रान्ताओं का प्रवेशद्वार बन चुकी थी । पश्चिमोतर भारत से ही यूनानी, शक, हूण व कुषाण जैसे जातियों ने अपने कदम आगे बढ़ाए थे ।

जानकारी के स्त्रोत– मोर्यो की पराजय के तुरन्त बाद के समय के लिए गार्गी संहिता, पंतजलि के महाभाष्य, दिव्यावदान, कालिदास के मालविकाग्निमित्र तथा बाणभट्ट के हर्षचरित व इतिहासकार कल्हण की ऐतिहासिक पुस्तक राजतंरगिणी से जानकारी मिलती है ।

कुषाण राजा कनिष्क के दरबार में उच्चकोटि के दार्शनिक, वैज्ञानिक व साहित्यकार रहते थे । कनिष्क के दरबार का महान कवि अश्वघोष था, जिसने संस्कृत में बुद्धचरित, सौदरानन्द महाकाव्य व सूर्यालंकार और सारीपुत्र प्रकरण लिखे। शून्यवाद, सापेक्षवाद व माध्यमिक सूत्र के प्रवर्तक नागार्जुन भी इसी कालखण्ड के प्रसिद्ध दार्शनिक हुए हैं जो सार्थक, जानकारी प्रदान करते है ।

चरक संहिता के रचयिता महर्षि चरक के अलावा चीनी इतिहास ग्रन्थ व चीनी यात्री हवेंग्सांग की यात्रा विवरण, तिब्बती इतिहासकार तारानाथ के साथ साथ बौद्ध विद्वान वसुमित्र व बौद्ध साहित्य त्रिपिटक,''मिलिन्दपन्ह'' भी हमें विदेशी आक्रमणकारियों की जानकारियाँ उपलब्ध करवाता है। कौशाम्बी, सारनाथ व मथुरा की कनिष्क कालीन मुद्राएँ भी सही संकेत देती है। यह सिक्के बहुत महत्वपूर्ण स्त्रोत है क्योंकि उन पर शासकों के नाम अंकित है। सिकन्दर के साथ आयें नियार्कस, आनेसिक्रिटस और एरिस्टोब्युलस जैसे लेखक भी मददगार हैं।

यूनानी आक्रमण व भारत की राजनैतिक स्थिति

जिस समय संसार को जीत लेने की इच्छा से मकदूनिया का शासक सिकन्दर अपने सैनिक अभियान पर निकला था, उस समय भी उत्तरी पश्चिमी भारत की स्थिति वैसी ही थी, जैसी भारत पर हुए ईरानी आक्रमण से पहले थी। पूरा उत्तरी पश्चिमी भारत छोटे–छोटे कई राज्यों में विभक्त था। काबुल के उत्तर में गंधार, झेलम और चिनाब के बीच में पौरव, रावलपिण्ड़ी और पेशावर के हिस्से में तक्षशिला, कश्मीर के पश्चिम में रावी और व्यास नदियों के बीच का भाग कठ, उसके निकट क्षुद्रक, इसी तरह रावी और चिनाब नदी के संगम स्थल के भाग में मालव, मूसक, सम्बोस और वे ऐसे ही अन्य राज्यों को मिलाकर उस काल में भारत का उत्तरी पश्चिमी भाग कुल 25 राज्यों में बँटा था। इनमें से कुछ गणतंत्र थे और कुछ राज्य राजतंत्रात्मक शासन पद्धति से शासित राज्य थे। राजतंत्र के शासक गणतंत्रों से विरोध रखते थे। पौरव और तक्षशिला तथा

तक्षशिला और अभिसार में शत्रुता थी। इसी तरह क्षुद्रक और मालव तथा अभिसार व पौरव के बीच सम्बन्ध अच्छे नहीं थे और सम्बोस और मूसक एक दूसरे के शत्रु थे। ऐसी राजनैतिक परिस्थितियों में मकदुनिया का राजा सिकन्दर ईसा पूर्व 327 में ईरान के शासक को अराबेला के युद्ध में परास्त कर भारत की तरफ बढ़ा।

सिकन्दर का भारत में आगमन– ईसा पूर्व 327 में मकदुनिया के शासक सिकन्दर के भारत की तरफ बढ़ने पर कुछ देश प्रेम से ओतप्रोत सीमान्त राज्यों के शासकों में दिल खोलकर अपना सब कुछ मातृभूमि की रक्षा के लिए समर्पित कर दिया, लेकिन शशिगुप्त और आंभी जैसे देशद्रोहियों और विश्वासघात करने वाले शासकों ने सिकन्दर का साथ दिया। सिकन्दर सीस्तान और अफगानिस्तान को जीतता हुआ, काबुल घाटी से होकर भारत पर चढ़ आया, उसने हवाली को और पाश को जीता और फिर हिन्दुकुश को पार किया यहां शशिगुप्त ने उसका स्वागत किया। यहीं से उसने अपनी सेना के दो भाग किए। सेना के एक हिस्से को अपने विश्वासपात्र सेनापति–हेफ्रिस्तियन और पर्दिकस के नेतृत्व में सिन्धु नदी पर पुल बनाने के लिए भेजा और दूसरे भाग का नेतृत्व खुद संभाल कर भारत की तरफ आगे बढ़ा। अभी सिकन्दर ने भारत की भूमि पर पाँव नहीं रखे थे, लेकिन इसी समय तक्षशिला के राजा आंभी ने सिकन्दर के पास भारत पर आक्रमण करने का निमंत्रण भेजा। अपने संदेश में आंभी ने सिकन्दर को सहायता देने का आश्वासन भी दिया। तब उत्साहित होकर सिकन्दर आगे बढ़ा और भारत में प्रवेश किया।

इस अवसर पर उसे भारत की उत्तरी पश्चिमी सीमा पर स्थित राज्यों से युद्ध करना पड़ा। यूनानी लेखक एरियन के विवरण से प्रकट होता है कि भारत की उत्तरी पश्चिमी सीमा पर सबसे पहले उसकी मुठभेड़ अश्मकों या अश्शायनों से हुई। अश्मको ने जबरदस्त प्रतिरोध किया। उन्होंने सिकन्दर की सेना के दांत खट्टे कर दिये, लेकिन अंत में सिकन्दर विजयी रहा। सिकन्दर ने चालीस हजार अश्मकों को बंदी बनाया। इसके बाद सिकन्दर ने नीसा वाले गौरियों पर आक्रमण किया। नीसा वालों ने प्रतिरोध किए बगैर आत्मसमर्पण कर दिया। तब सिकन्दर ने आश्वकायनों, जिन्हें यूनानी लेखकों ने अस्सकेनोय लिखा है, पर आक्रमण किया। इस समय अश्वकायनों का राजा हस्ति या अष्टक था। यूनानी लेखकों ने इसे अस्सकेनस नाम से पुकारा है। इसी अस्सकेनस अथवा अष्टक या हस्ति ने अपने दुर्ग मस्सग में रहते हुए सिकन्दर का प्रतिरोध करने का निश्चय किया। मस्सग का दुर्ग प्राकृतिक दृष्टि से सुरक्षित था। अश्वकायनों ने उसके चारों तरफ खाई भी खोद रखी थी। ऐसी स्थिति में मस्सग दुर्ग अजेय था। सिकन्दर को मस्सग दुर्ग पर अधिकार करने के लिए कई बार आक्रमण करना पड़ा, किन्तु उसे सफलता नहीं मिली। एक आक्रमण में तो सिकन्दर घायल भी हो गया। इस आक्रमण और प्रतिरोध के दौर में ही एक दिन अचानक एक तीर राजा अष्टक को वेध गया और उसकी मृत्यु हो गई। राजा अष्टक की रानी क्लियोफिस ने आत्मसमर्पण कर दिया और अश्वकायनों के राज्य पर सिकन्दर का अधिकार हो गया। यहाँ सिकन्दर ने धोखा देकर अश्वकायनों के सात सौ वेतनभोगी सैनिकों को मौत के घाट उतार दिया।

सिकन्दर मस्सग से आगे बढ़ा। उसने रास्ते में पड़ने वाली कई अन्य जातियों पर आक्रमण किए और उन पर जीत दर्ज करता हुआ वह अपनी सेना के उस भाग से जा मिला, जिसे उसने सिन्ध पर पुल बनाने के लिए आगे भेजा था। फिर अपनी पूरी सेना को लेकर सिकन्दर ने ओहिन्द के पास से नावों के बनाए गए पुल पर होकर सिन्ध को पार किया और वह तक्षशिला जा पहुंचा। तक्षशिला में आंभी उसका स्वागत करने के लिए इन्तजार कर ही रहा था। सिकन्दर के पहुंचते ही आंभी ने काफी मात्रा में चांदी के साथ भेड़, बैल आदि दूसरी कई चीजें भेंट स्वरूप सिकन्दर को दी। सिकन्दर ने उन वस्तुओं के साथ अपनी भेंट मिलाकर भेंट का पूरा सामान ससम्मान लौटा दिया। इसी समय कुछ अन्य भारतीय राजाओं ने भी सिकन्दर के सामने आत्मसमर्पण किया। कश्मीर के उत्तर पश्चिम में स्थित अभिसार के राजा ने भी सिकन्दर को आत्मसमर्पण का विश्वास दिलाया। अन्त में वह राजा पोरस की तरफ चला गया।

राजा पुरू अथवा पोरस का प्रतिरोध

तक्षशिला से सिकन्दर ने झेलम और चिनाब नदियों के बीच में स्थित पौरव राज्य पर अधिकार करने का निश्चय किया। तक्षशिला का राजा आंभी भी पुरानी शत्रुता के कारण यही चाहता था। अतः सिकन्दर को उत्साहित करने के लिए उसने अपने पाँच हजार सैनिक सिकन्दर को दिए। तब सिकन्दर ने पौरवों के राजा पुरू अथवा पोरस के पास आत्मसमर्पण कर सिकन्दर की अधीनता स्वीकार करने का संदेश भेजा। सिकन्दर को शायद यह मालूम नहीं था कि राजा पोरस की रगों में मातृभूमि के लिए सब कुछ बलिदान कर देने वाले भारतीयों का रक्त बह रहा था। इसलिए सिकन्दर का संदेश मिलते ही राजा पोरस ने प्रतिउत्तर में कहलवाया कि वह रणक्षेत्र में ही सिकन्दर से मिलेगा। राजा पोरस का उत्तर मिलने पर अपनी महत्वाकांक्षाओं से बावला हुआ सिकन्दर राजा पोरस को हराने के लिए झेलम नदी के किनारे तक आगे बढ़ा। उधर राजा पोरस तलवारों के वार से सिकन्दर का स्वागत करने के लिए पहले से ही झेलम के दूसरे तट पर मौजूद था। वर्षा की ऋतु थी। नदियों में बाढ़ आई हुई थी। इस कारण सिकन्दर को पोरस पर आक्रमण करने से पहले कुछ समय तक प्रतीक्षा करनी पड़ी। दूसरा, सिकन्दर एकदम आमने सामने होकर पोरस से युद्ध करना नहीं चाहता था। वह किसी ऐसे मौके की तलाश में था, जब वह पोरस की धोखे में रखकर उस पर आक्रमण कर दे। कुछ समय में ही ऐसा अवसर सिकन्दर के सामने आ उपस्थित हुआ। एक दिन काफी वर्षा हुई। उस दिन रात के अंधरे में सिकन्दर ने अपनी सेना के साथ झेलम को पार किया और पोरस की सेना पर आक्रमण कर दिया। पोरस भी अपनी सेना के साथ शत्रु का मुकाबला करने के लिए आगे आया। यूनानियों और भारत की सेनाओं के बीच घमासान प्रारंभ हो गया। सुबह होने पर युद्ध में तेजी आई। पौरस और उसके भारतीय सैनिक यूनानियों के छक्के छुड़ाने लगे। दोपहर का समय हो गया। भारतीय सैनिकों के पराक्रम के सामने यूनानी

सेना घबराने लगी। ऐसा लगने लगा कि यूनानी हार कर भाग खड़े होंगे। तभी पोरस की सेना में हाथियों के कारण भगदड़ मच गई। भारतीयों की सेना में हाथी अधिक संख्या में होते थे। अधिकांश योद्धा हाथियों पर बैठकर ही युद्ध करते थे। यूनानी सैनिक घोड़ों पर बैठकर युद्ध कर रहे थे। वर्षा के कारण नदी के किनारे की चिकनी मिट्टी में आगे बढ़ते हुए भारतीय सेना के हाथी फिसलने लगे। भारतीयों के हाथी उनके पांवो और सूंडों पर पड़ने वाले शत्रु सेना के तीरों से भी घबराने लगे। पोरस की सेना के कुछ हाथी बिगड़कर पीछे हटने लगे। ये हाथी अपनी ही सेना को कुचलने लगे। ऐसे समय में जब भारत के धनुर्धारी, जो पैदल ही थे, शत्रुओं पर तीर चलाने को तत्पर हुए तो उन्हें भी वर्षा के कारण कठिनाई का सामना करना पड़ा।

इन्हीं परिस्थितियों में सिकन्दर की सेना के फुर्तीले घुड़सवार धर्नुधारियों ने भारतीय सेना पर तीरों की वर्षा करना प्रारंभ किया। युद्ध का रुख बदल गया। यूनानी भारतीयों पर भारी पड़ने लगे। लेकिन राजा पोरस ने होंसला नहीं खोया। एक ऊँचे हाथी पर बैठकर वह युद्ध का नेतृत्व करता रहा। उसके शरीर पर कई घाव हो गए, रक्त बहने लगा, लेकिन मातृभूमि की रक्षा के निमित वह प्राण समर्पित करने का संकल्प लेकर रणक्षेत्र में आया था। पोरस ने मुँह नहीं मोड़ा। तब तक जब तक वह मूर्छित सा नहीं हो गया। शत्रुओं ने राजा पोरस को घेर लिया और पकड़ लिया। बंदी बनाकर सिकन्दर के सामने लाया गया। इस समय अहंकार में सिकन्दर ने राजा पोरस से यह पूछा कि उसके (राजा पोरस के) साथ कैसा व्यवहार किया जाए, तो उत्तर में पोरस ने कहा जैसा एक राजा को दूसरे राजा के साथ करना चाहिए। पोरस का यह उत्तर सुनकर पहले तो सिकन्दर अवाक् रह गया। लेकिन भारत के उस वीर सपूत की निर्भीकता की सिकन्दर के मन पर छाप पड़ गई। सिकन्दर उसके साहस का कायल हो गया। उसने राजा पोरस को स्वतंत्र करते हुए उसका राज्याधिकार लौटा दिया। कुछ इतिहासकार सिकन्दर के इस व्यवहार के पीछे यह कूटनीति मानते हैं कि पोरस जैसे शक्तिशाली राजा से मित्रता स्थापित कर सिकन्दर शत्रु की तरफ से निश्चिंत होकर भारत में आगे बढ़ना चाहता था। सिकन्दर की इच्छा कुछ भी रही हो, किन्तु उसके व्यवहार ने राजा पोरस को प्रभावित किया और पोरस ने सिकन्दर से मित्रता कर ली।

सिकन्दर की सेना का स्थानीय विरोधः– उत्तरी पूर्वी पंजाब के छोटे राज्यों पर अधिकार करता हुआ सिकन्दर भारत के भीतरी भागों की तरफ आगे बढ़ने लगा, लेकिन व्यास नदी तक पहुंच कर सिकन्दर की सेना ने आगे बढ़ने से इंकार कर दिया। वास्तविकता यह थी कि सिकन्दर के सैनिक लंबे समय से लड़ते– लड़ते थक चुके थे। उनमें से बहुत से बीमार भी होने लगे थे और आगे बीमारी के प्रकोप से घबराने लगे थे। अपने कुटुम्बियों से लंबे समय से अलग रहने के कारण उनमें घर लौट चलने की उत्सुकता भी बढ़ गई थी। यही नहीं, यूनानी सैनिकों को मगध के नन्द राज्य की सैनिक शक्ति की सूचनाएं भी मिलने लगी थी, जिससे वे डरने लगे थे, क्योंकि भारतीयों की वीरता का अनुभव वे राजा पोरस के साथ युद्ध में पहले कर चुके थे। इन्हीं कारणों से सिकन्दर के यूनानी सैनिक अब आगे न बढ़कर लौट जाना चाहते थे। यूनानी सैनिकों की ऐसी मनोदशा देखकर सिकन्दर ने उन्हें समझाने और उनमें उत्साह पैदा करने की खूब कोशिश की। लेकिन उत्साहहीन सैनिकों की मनोदशा के चलते मजबूर होकर उसे वापस लौटना पड़ा।

सिकन्दर का लौटनाः– सिकन्दर उन्नीस महीनों तक भारत में रहकर झेलम के मार्ग से वापस लौटा। इस समय भी उसने पंजाब को विजित किया। फिर वह लौटते हुए रावी और चिनाव के संगम स्थल पर पहुंचा। यहीं उसने शिबियों और अग्रेश्रृणियों पर आक्रमण किया। इन आक्रमणों में उस अग्रश्रृणियों के साथ कड़ा संघर्ष करना पड़ा। इसके पश्चात् सिकन्दर को मालवों और क्षुद्रकों के साथ जूझना पड़ा। मालवों और क्षुद्रकों ने सम्मिलित होकर सिकन्दर का सामना किया। इनके साथ संघर्ष में यूनानियों को घोर परेशानियाँ उठानी पड़ी। तब यूनानी सेना में फिर विरोध के लक्षण उभरने लगे। पर सिकन्दर ने उन्हें समझा बुझाकर मालवों और क्षुद्रकों से युद्ध के लिए तैयार किया और मालवों पर आक्रमण किया। मालवों ने कड़ा प्रतिरोध किया। उनके प्रतिरोध के आगे यूनानी हतप्रभ रह गए। एक बार तो स्वयं सिकन्दर घायल हो गया। तब अपने स्वामी की रक्षा के लिए यूनानियों ने प्राणप्रण से युद्ध किया। यूनानी सैनिक निरपराध बच्चों, स्त्रियों और पुरुषों को मारने लगे। इस क्रूरता से दुःखी होकर क्षुद्रकों ने मालवों को समझा कर सिकन्दर के सामने संधि का प्रस्ताव किया। सिकन्दर ने क्षुद्रकों के प्रस्ताव को स्वीकार किया और अपने एक विश्वास पात्र व्यक्ति फिलिप्स को वहां मालवों एंव क्षुदकों के राज्य में क्षत्रप के रूप में छोड़कर सिकन्दर अपने देश के लिए आगे बढ़ा। वह सिन्धु के मुहाने पर पहुँचा। यहाँ पर भी सिकन्दर को मेस्सिकेनस, सम्बोस तथा ऑक्सिकेनस राज्यों निवासियों से संघर्ष करना पड़ा। ईसा पूर्व 325 में सिकन्दर ने भारत छोड़ा। भारत छोड़ते समय उसने अपनी सेना के दो भाग किए। नियार्कस नामक उसके विश्वासपात्र सेनापति के नेतृत्व में उसने सेना के एक भाग को समुद्री मार्ग से यूनान के लिए रवाना किया। दूसरे भाग के साथ स्वयं काबुल होता हुआ ईसा पूर्व 324 के अंत में सिकन्दर ईरान के सूसा नगर में पहुंचा। यहां वह बीमार पड़ गया। उसे तीव्र ज्वर ने घेर लिया और यहीं ईसा पूर्व 323 में केवल बत्तीस वर्ष की आयु में उसकी मृत्यु हो गई।

भारतीय यूनानी (इण्डो ग्रीक)– पश्चिमोत्तर भारत में अलेकजेंडर (सिकन्दर) का आक्रमण यूनान तथा भारत को किसी दृष्टि से निकट लाने में असफल रहा था। 323 ई.पू. में सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् उसके सेनानायकों में प्रभुत्व के लिए संघर्ष हुआ। संघर्ष में सिकन्दर के सेनानायक सेल्यूकश निकेटर के उत्तराधिकारी के रूप में शासक एण्ट्रयोकस तृतीय ने भारत के विरूद्ध लगभग 306 ई.पू. में एक अभियान का नेतृत्व किया। हिन्दुकुश के पार करके उसने काबुल घाटी को पार किया और एक राजा सुभागसेन से उसका सामना हुआ। सुभागसेन को आत्म समर्पण करना पड़ा, इसी समय से भारत में बैक्ट्रियान यूनानी राज्य की शुरूआत मानी जाती है। क्योंकि हिन्दुकुश पर्वत के पार उत्तरी अफगानिस्तान एवं ईरान के आसपास का क्षेत्र

बैक्ट्रिया एवं पार्थिया दो भू–प्रदेशों के नाम से जाना जाता था। बैक्ट्रिया का क्षेत्र पश्चिमोत्तर क्षेत्र था जो बहुत उपजाऊ व सरसब्ज था और एण्टयोकस तृतीय यहीं का शासक था। यही बैक्ट्रियन यूनानी या यूनानियों की बैक्ट्रियन शाखा जिसने भारत के पश्चिमोत्तर को आधार बनाकर प्रवेश किया और अन्त में भारतीय समाज में घुल–मिलकर यूनानी जो भारतीय यूनानी अथवा इण्डो–ग्रीक के नाम से जाने गए।

एण्टयोकस तृतीय के पश्चात क्रमशः डेमेट्रियस, यूकेटाइड्ज, हेलियोक्लीस व अपोलोजेटम आये किन्तु यह अधिक महत्वपूर्ण नहीं थे। यूनानी राजाओं में सबसे महान शासक मेनाण्डर (मिलिन्द) था।

मेनाण्डर (Manander)– स्ट्रवों ने माना है कि मेनाण्डर इण्डोयूनानी राजाओं में सबसे महान् था। पाली भाषा की पुस्तक ''मिलिन्दपन्ह'' या 'मिलिन्द के प्रश्नों' के अनुसार, मेनाण्डर कलसी गांव में उत्पन्न हुआ था, जो मेनाण्डर की राजधानी शाकल से 200 योजन दूर स्थित अलासण्ड द्वीप में स्थित था। शाकल पाकिस्तान में स्थित स्यालकोट है। भाग्यवश ''मिलिन्दपह्न'' में मेनाण्डर की राजधानी का यह विवरण दिया गया है : ''योणकों के देश में व्यापार का एक बहुत बड़ा केन्द्र है, एक शहर जिसका नाम शाकल है, सुहावने प्रदेश में स्थित है। वहाँ पानी की सुविधा है और पहाड़ियां भी हैं, कई उपवन, बाग, कुँज, झीलें और कुण्ड हैं, नदियों, पहाड़ों और जंगलों का स्वर्ग है। बुद्धिमान व्यक्तियों ने इसकी योजना बनाई और इसके निवासियों का अत्याचार से परिचय नहीं है क्योंकि सभी शत्रु और विपक्षी दबा दिए गए हैं। इसकी सुरक्षा सुदृढ़ है, कई बड़े–बड़े बुर्ज और दीवारें हैं, अनुपम दरवाजे और प्रवेशद्वार हैं और इसके मध्य में सफेद दीवार का राजदुर्ग है जिसके चारों ओर गहरी खाई है। इसकी गलियॉ, वर्गाकार क्षेत्र, चौराहे और मंडियॉ नियमित ढंग से बनी हैं। इसकी दुकानों में भरे कीमती पदार्थों की दुकानों में अच्छी तरह प्रदर्शित किया जाता है। इसमें कई तरह के शानदार भवन हैं जो हिमालय की चोटियों की तरह ऊँचे हैं। इसकी सड़कें हाथियों, घोड़ों, गाड़ियों और पैदल यात्रियों से भरी हैं और हर प्रकार के व्यक्तियों–ब्राह्मण, सामन्त, शिल्पी, सेवक आदि की वहाँ भीड़ लगी रहती है। प्रत्येक सम्प्रदाय के गुरूओं का वे ऊँचे नारों से स्वागत करते हैं और नगर में प्रत्येक सम्प्रदाय के प्रमुख व्यक्ति रहते हैं। बनारसी मलमल, 'कोटुम्बर' पदार्थों और अन्य कई प्रकार के कपड़ों की बिक्री के लिए वहाँ दुकानें हैं। बाजारों से मीठी सुगन्धें आती हैं, वहाँ सब तरह के फूल और सुगन्धियाँ अच्छी तरह सजाकर रखी जाती है। आभूषण असंख्य हैं और हर प्रकार की कला के व्यापारियों की श्रेणियाँ अपना–अपना सामान सजाती हैं और चारों ओर फैलाती हैं।''

मिलिन्दपन्ह'' में उसे एक राजवंश से सम्बन्धित बताया गया है। किन्तु प्रतीत होता है कि वह साधारण व्यक्ति था। विवाह के कारण यह यूथिडेमस के वंश से सम्बन्धित हो; यह सम्भव है। प्रो0 रैप्सन का विचार था कि उसने डेमेट्रियस की पुत्री अगैथीक्लीया, अगैथीक्लीया की बहिन तथा अन्यों से विवाह

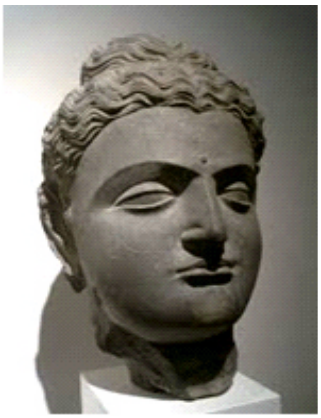

यूनानी शासक मेनाण्डर

महात्मा बुद्ध – गांधार कला

किया। उसका पुत्र स्ट्रैटो प्रथम मेनाण्डर की मृत्यु के समय नाबालिग था। उसकी रानी अगैथोक्लीया अपने पुत्र की बाल्यावस्था में राज्य–कार्य करती रही। यह निष्कर्ष मेनाण्डर के कुछ सिक्कों के अध्ययन पर आधारित था।

यूनानी लेखकों से ज्ञात होता है कि मेनाण्डर एक महान् विजेता था। कहा जाता है कि उसने सिकन्दर से भी अधिक राष्ट्रों पर विजय पाई। मेनाण्डर के कई प्रकार के सिक्कों और उनके प्राप्ति–स्थानों की विविधता से निष्कर्ष निकाला गया है कि वह कई राज्यों का शासक था और एक महान् विजेता भी था। उत्तर प्रदेश के पश्चिमी जिलों से उसके बहुत से सिक्के प्राप्त हुए हैं। उसके सिक्के काठियावाड़ में भी प्रचलित थे।पंजकोर और स्वात नदियों के संगम से 20 मील पश्चिम की ओर स्थित वजीर जातीय प्रदेश से खरोष्ठी अभिलेखों के एक मंजूषा में रखे दो वर्ग मिले हैं। इनमें से एक अभिलेख में मेनाण्डर के राज्य का उल्लेख किया गया है। शाक्य मुनि बुद्ध के कुछ अवशेषों को पूजा के लिए मंजूषा में रख दिया गया और उसे पहले मेनाण्डर के एक सामन्त वियाकमित्र ने और फिर उसके पुत्र या पौत्र ने प्रतिष्ठित किया। इससे पेशावर प्रदेश और सम्भवतः ऊपरी काबुल घाटी पर मेनाण्डर के अधिकार का संकेत मिलता है। इस समय में तक्षशिला या पुष्करावती में कोई स्वतन्त्र यवन शासक नहीं था।

''मिलिन्दपन्ह'' में बताया गया है कि मेनाण्डर, बौद्ध धर्म का अनुयायी बन गया। कहा गया है कि शुंग राजा पुष्यमित्र के अत्याचार से त्रस्त बौद्ध भिक्षुओं के लिए मेनाण्डर का शाकल स्थित दरबार आश्रय–स्थल बन गया। ''दिव्यावदान'' में कहा गया है कि पुष्यमित्र ने घोषणा की थी कि जो व्यक्ति शाकल के किसी बौद्ध भिक्षु का सिर उसे लाकर देगा, उसे एक सौ दीनार दिए जाऐंगे। मेनाण्डर एक कट्टर बौद्ध था इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि उसने बौद्ध भिक्षुओं को आश्रय दिया हो जिन पर शुंगों ने सम्भवतः अत्याचार किए थे। 'मिलिन्दपह्न' में मेनाण्डर अर्थात् मिलिन्द और बौद्ध विद्वान् भिक्षु नागसेन के बीच एक वार्तालाप दिया गया है। मेनाण्डर ने बौद्ध अध्यात्म शास्त्र और

दर्शन के सम्बन्ध में कई सूक्ष्म प्रश्न नागसेन से पूछे और सभी प्रश्नों का उसने सन्तोषजनक उत्तर दिया। परिणामस्वरूप मेनाण्डर बौद्ध बन गया।

हिन्द–यवन शासक मेनान्डर के सिक्के

विद्वान् एकमत से मेनाण्डर का राज्य डेमेट्रियस की मृत्यु के पश्चात् मानते हैं जो 165 ई0 पू0 में हुई, इसलिए मेनाण्डर पुष्यमित्र का बाद के समय का हो सकता है। ''मिलिन्दपन्ह'' में कहा गया है कि मेनाण्डर 'परिनिर्वाण' से 500 वर्ष पश्चात् जीवित रहा।प्रो0 रैप्सन ने ठीक कहा है कि एक महान् और न्यायप्रिय शासक के रूप में मेनाण्डर की ख्याति भारत तक ही सीमित नहीं थी। उसके लगभग दो शतियों पश्चात् प्लूटार्क ने यूनानियों को बताया कि सैनिक शिविर में उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके अवशेषों की रक्षा के लिए किस प्रकार उसके साम्राज्य के नगरों में स्पर्धा हुई। रैप्सन ने लिखा है : ''इस प्रकार मेनाण्डर ने केवल एक महान् विजेता के रूप में ही नहीं बल्कि उपनिषदों में वर्णित कुरुवंशी जनमेजय और विदेह–शासक जनक की भांति एक दार्शनिक के रूप में भी ख्याति प्राप्त की।''

यूनानी आक्रमण का उद्देश्य एवं प्रभाव

सिकन्दर की जल्दी ही मृत्यु हो जाने के कारण यूनानी भारत में स्थायी बस्ती नहीं बसा सके। सिकन्दर के आक्रमण की तुलना में भारतीय यूनानियों की उत्तर – पश्चिम सीमान्त प्रदेशों पर अधिकार अधिक समय तक रहा था। बैक्ट्रियां के यूनानियों ने इस प्रदेशों पर लगभग दो शताब्दियों तक शासन किया और इसलिए सांस्कृतिक आदान–प्रदान के लिए यह समुचित समय था, यद्यपि भारतीय यूनानी शासन की देन उत्तर – पश्चिमी क्षेत्र तक ही मानी जाती रही है तथापि उसके भारतीय प्रभाव से इनकार नहीं किया जा सकता है। वास्तव में यूनानी विशेषताएँ भारत में ही आत्मसात् होकर मुख्य धारा में विलीन हो गई।

मुद्रा (सिक्के) – भारतीय बैक्ट्रियनों के शासन का भारत में महत्वपूर्ण प्रभाव मुद्रा के क्षेत्र में पड़ा। यूनानी प्रभाव से पूर्व भारतीय चांदी के चिन्हित सिक्के तकनीकी रूप से कम श्रेष्ठ थे। इन सिक्कों पर किसी का नाम या तिथि नहीं लिखी होती थी। भारतीय यूनानी पहले शासक थे जिन्होंने सोने के ऐसे सिक्कों की ढ़लाई की जिन पर राजा का नाम, उपाधि और तिथि अंकित होती थी। निर्माण कला का श्रेष्ठता के कारण वह बेहतर होते थे। चूँकि यूनानी ग्रहणशील थे इसलिए वे कभी–कभी भारतीय मौद्रिक तकनीकी को अपनाकर भी प्रयोग करते थे।

कला और मूर्तिकला– के क्षेत्र में भी यूनानी प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर हुआ। भारतीय यूनानियों की भूमिका, सांस्कृतिक संबंधों के संदर्भ में इसलिए भी महत्वपूर्ण समझी जाती है कि उन्होंने उत्तर–पश्चिम भारत में हेलेनिस्टिक कला से परिचय कराया, जिसने बाद में गंधार कला शैली का रूप लिया। भारतीय और यूनानी मिश्रण से उत्तर – पश्चिम में कला की प्रसिद्ध गांधार शैली का विकास हुआ। भारतीय यूनानी शासन में खगोल शास्त्र, साहित्य, भवन निर्माण और धर्म के क्षेत्र में भी अपनी छाप छोड़ी। साथ ही नए जल और थल मार्गों के खुलने से भारत और यूनान के मध्य व्यापार और वाणिज्य का विस्तार हुआ।

*व्यापार–वाणिज्य–*_भारत रत्न, हाथी–दाँत मसाले और अच्छे वस्त्रों जैसी वस्तुओं की यूनान में काफी मांग थी जबकि भारतीय बाजार में भी यूनान से आने वाली विलास सामग्री और श्रृंगार–प्रसाधनों की भरमार थी। एक परम्परा के अनुसार राजा एटीओकस चतुर्थ ने लगभग 166 ई.सा. पूरे यूनान में एक प्रदर्शनी का आयोजन किया था। जिसमें भारत के मसाले और हाथी – दाँत में वस्तुएँ प्रदर्शित थी। समकालीन सिक्कों की एक बड़ी संख्या में कम से कम 30 भारतीय यूनानी शासकों के नाम मालूम हो जाते हैं। उत्तर में काबुल तथा दिल्ली के निकट मथुरा में मेनान्दर के सिक्के प्राप्त हुए हैं। भारतीय यूनानियों का इतिहास मुख्यतः इन्हीं सिक्कों की सहायता से लिखा गया है। इन सिक्कों पर यूनानी भाषा में अनुश्रुतियाँ अंकित है, बाद में खरोष्ठी तथा ब्राह्मी लिपि भी मिलती है। इन प्रमाणों को समझने में कहीं–कहीं कठिनाई भी होती है, क्योंकि कुछ राजाओं के नाम एक से थे। इसलिए एक शासन के समय के सिक्कों को दूसरे से अलग करना आसान नहीं है। सिक्के, विशेषकर चाँदी के सिक्कों के ढालने की भारतीय यूनानी तकनीक कारीगरी का अच्छा उदाहरण है। इसका प्रभाव इस युग के कुछ स्थानीय शासकों द्वारा जारी किए हुए सिक्कों पर पड़ा और एक बड़े क्षेत्र में उनका प्रचलन हुआ। ये इस युग के बढ़ते हुए व्यापार संबंधों पर प्रकाश डालते हैं।

सांस्कृतिक प्रभाव व विलिनीकरण– भारत में इण्डो–बैक्ट्रियन राज्य के विषय में डॉ. जे.एन. बैनर्जी का विचार है कि भारत की द्वितीय यूनानी विजय सिकन्दर की विजय से अधिक महत्वपूर्ण थी। दो शताब्दियों तक भारतीयों तथा यूनानियों में पर्याप्त सांस्कृतिक सम्बन्ध रहे और दोनों की एक दूसरे पर प्रतिक्रिया हुई। यह केवल यूनानी सभ्यता का भारतीय सभ्यता पर तथा भारतीय सभ्यता का यूनानी सभ्यता पर प्रभाव मात्र नहीं था। भारतीयों की कई धार्मिक धारणाओं और आदर्शों को यूनानी शासकों ने अपनाया। असंख्य यूनानी भारतीय धर्मों के अनुयायी बन गए। यूनानियों ने क्रमशः भारतीय ढ़ंग को अपना लिया। समय के साथ वे भारतीय भूमि की उपज ही बन गए। और अन्त में यूनानी विशेषताएँ भारत में ही आत्मसात होकर भारतीय समाज व संस्कृति की मुख्यधारा में विलीन हो गई।

शक (सीथियन)

ये मूल रूप से मध्य एशिया के निवासी थे, इनको पश्चिमी चीन की यू–ची जाति ने इनकी मातृभूमि मध्य एशिया से उखाड़ फेंका था। तब से ही इन्होंने अपना भाग्य भारत की ओर आजमाया।

यूनानियों के बाद भारत में मध्य एशिया से आने वाली दूसरी विदेशी जाति शक थी। इनका निवास स्थान सीथिया नामक प्रदेश था और वहाँ रहने के कारण ही इनको सीथियन कहा गया। पहली सदी ईसवी पूर्व में बैक्ट्रिया में यूनानी राज्यों के पराभव के समय कुषाणों से पराजित शक पार्थियनों को पराजित करते हुए बोलन दर्रे को पार करते हुए सिन्धु घाटी और पश्चिमोत्तर भारत में बस गये। भारत में शकों का प्रारंभिक राजनीतिक इतिहास धुँधला है फिर भी यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि भारत में शकों की पाँच शाखाओं ने उस समय अपने राज्य कायम किए थे। शकों की विभिन्न शाखाओं से सम्बन्धित सिक्के और अन्य स्त्रोत उपलब्ध हैं। एक शाखा अफगानिस्तान में थी जिसकी राजधानी या केन्द्र कपिशा था। दूसरी शाखा पंजाब में बसी जिसकी राजधानी तक्षशिला थी। तीसरी शाखा मथुरा में स्थापित हुई जिसने वहाँ दो शताब्दियाँ तक शासन किया। चौथी शाखा ने पश्चिमी भारत में अपना राज्य स्थापित किया जो चौथी सदी के आरम्भ तक विद्यमान रहा जिसकी राजधानी उज्जैन थी। शकों की पाँचवी शाखा ने ऊपरी दक्कन में अपना राज्य स्थापित किया था, जिसकी राजधानी नासिक थी।

उत्तर–पश्चिम भारत में शकों को अपने सैनिक अभियानों में न तो भारतीय शासकों का और न ही जनता के प्रतिरोध का कठोर सामना करना पड़ा। लेकिन भारतीय साहित्य और परम्परा में 56 ई.पू. पूर्व में उज्जैन के राजा विक्रमादित्य द्वारा शकों पर उसकी निर्णायक विजय का उल्लेख मिलता है। ऐतिहासिक विजय की स्मृति में ही 57 ईसवी पूर्व में विक्रम संवत् का प्रारम्भ हुआ जो भारतीय ज्योतिष गणना का प्रामाणिक स्रोत बना। शकों पर विक्रमादित्य की इस ऐतिहासिक विजय ने उसे इतनी प्रतिष्ठा एवं लोकप्रियता प्रदान की विक्रमादित्य का नाम एक महान् उपाधि में प्रतिष्ठित हो गया, प्रत्येक राजा इस उपाधि को धारण करने के लिये लालायित रहता था। प्रतिष्ठा पराक्रम के महान् प्रतीक के रूप में भारतीय राजा 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण करने की प्रथा प्रचलित हुई थी। गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की उपाधि धारण करने वाले राजाओं में सर्वाधिक ख्याति प्राप्त रहा है। पाँचों शाखाओं में सर्वाधिक महत्वपूर्ण नासिक व उज्जैन शाखा थी। मौलिक रूप से शक मध्य एशिया के रहने वाले थे और धीरे–धीरे उन्होंने पश्चिमी भारत में अपना साम्राज्य स्थापित किया। उज्जैन और नासिक के शक सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं, नासिक के शकों में सर्वप्रसिद्ध नहपान था उसने सातवाहनों को पराजित कर उनके एक बड़े भू–भाग पर अधिकार कर लिया था। किन्तु 124 ई. में गौतमीपुत्र शातकर्णी ने नहपान का वध कर दिया था। जूनागढ़ के शिलालेखों से उसकी सैन्य सफलताओं तथा सुदर्शन झील की मरम्मत की जानकारी मिलती है। उसकी मृत्यु के बाद उज्जैन के शकों का पतन हो गया।

शक शासक रूद्रदमन (Rudradamana)

शक शासकों के वंशजों में जयदमन के पुत्र रूद्रदमन प्रथम (130–150 ईसवी) उज्जैन के शक शासकों में सबसे प्रख्यात था। भारत में स्थापित शकों के विभिन्न राज्यों में से केवल पश्चिमी भारत (गुजरात) में स्थापित शाखा का ही चार सदियों तक शासन विद्यमान रहा। गुजरात के बन्दरगाहों से होने वाले विदेशी व्यापार ने उनको भारी आर्थिक समृद्धि प्रदान की, परिणामस्वरूप उन्होंने बड़ी संख्या में चाँदी के सिक्के चलाये। यहाँ के शक शासकों में सर्वाधिक ख्यातिप्राप्त शासक रूद्रदमन प्रथम था। इस विषय में सर्वाधिक जानकारी उसके स्वयं के जूनागढ़ अभिलेख से मिलती है। यह अभिलेख शक संवत 72 अर्थात् 150 ईसवी में लिखा गया था।

विदेशी होते हुए भी उसने सबसे पहले विशुद्ध संस्कृत भाषा में इतना लम्बा अभिलेख (जूनागढ़) जारी किया था। इससे यह बात साफ है कि रूद्रदमन ने संस्कृत को बढ़ावा दिया। यह उसी शिला पर उत्कीर्ण है जिस पर अशोक के चौदह शिलालेखों का एक सेट और गुप्त सम्राट स्कन्दगुप्त के दो लेख भी उत्कीर्ण हैं।

महाक्षत्रप रूद्रदामन कनिष्क की बिना सिर वाली मूर्ति

सुदर्शन झील का जीर्णोद्धार – जूनागढ़ लेख में रूद्रदमन द्वारा सुदर्शन झील के जीर्णोद्धार के विषय के साथ रूद्रदमन की उपलब्धियों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है। इसमें बताया गया है कि मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त के गर्वनर पुष्यगुप्त ने गिरनार के समीप जनकल्याण हेतु सुदर्शन झील का निर्माण करवाया था। अशोक के राज्यकाल में सिंचाई के लिए इसी झील से अनेक नहरें निकाली गयी थी। अनेक शताब्दियों तक यह झील सौराष्ट्र के किसानों के लिए सिंचाई का महत्वपूर्ण स्रोत थी। रूद्रदमन के शासनकाल में अतिवृष्टि के कारण सुदर्शन झील का बाँध टूट गया तथा दरार आ गई। इसका पुनर्निर्माण बहुत कठिन व खर्चीला था, किन्तु रूद्रदमन ने प्रजा की भलाई के लिए सचिवों के विरोध के बावजूद अपने निजी कोष से विशाल धनराशि व्यय करके बांध का पुनर्निर्माण कराया तथा प्रजा पर कोई अतिरिक्त कर नहीं लगाया। सुदर्शन झील के जीर्णोद्धार का यह कार्य उस समय के सौराष्ट्र प्रान्त के गवर्नर सु–विशाख द्वारा सम्पन्न कराया गया था।

साम्राज्य विस्तार– जूनागढ़ अभिलेख में रूद्रदामन की विजयों का उल्लेख यूं मिलता है कि उसने अकर (पूर्वी मालवा), अवन्ति (पश्चिमी मालवा), अनूप (नर्मदा तट प्रदेश), त्रिवृत (उत्तरी काठियावाड़ व उसकी राजधानी आनन्दपुर), सुराष्ट्र (दक्षिणी काठियावाड़), मरू (मारवाड़), कच्छ सिन्धु (निचली सिन्धुघाटी का पश्चिमी क्षेत्र), पूर्वी तट का प्रदेश, कुकुर (पश्चिमी मध्यभारत का प्रदेश), निषाढ (विन्ध्याचल), उत्तरी कोंकण और अरावली पर्वतमाला के प्रदेश को जीता था। नासिक अभिलेख के अनुसार विजीत प्रदेश गौतमीपुत्र शातकर्णि के थे। अतः निश्चित रूप से ये प्रदेश रूद्रदामन ने गौतमीपुत्र के किसी वंशज से छीने होंगे। जो भी हो रूद्रदामन के साम्राज्य में सिन्धु–सौवीर (मुलतान सिन्धु नदी के मुहाने तक का प्रदेश), मालवा, गुजरात, काठियावाड़, उत्तरी कोंकण, पश्चिमी राजस्थान और सिन्ध के प्रदेश सम्मिलित थे।

शासन व्यवस्था– जूनागढ़ लेख से रूद्रदमन के प्रशासन पर भी प्रकाश पड़ता है। उसका विशाल साम्राज्य प्रान्तों में विभक्त था, जिसका प्रशासन प्रान्तीय शासकों के अधीन था। सुदर्शन झील का जीर्णोद्धार सौराष्ट्र के प्रान्तीय गवर्नर पहलव जातीय सुविशाख द्वारा सम्पन्न किया गया था। राजा को राज कार्य में सहायता के लिए मन्त्रिपरिषद थी। शासन–प्रबन्ध में परामर्श देने वाले मन्त्रियों को सचिव' और राजाज्ञाओं और नीतियों को क्रियान्वित करने वाले अधिकारियों को 'कर्मसचिव' कहा जाता था अमात्य (मन्त्रियों) के गुणों का वर्णन सुविशाख की प्रशंसा करते हुए किया गया है। उसकी व्यवस्था एवं कर प्रणाली धर्म आधारित थी।

व्यक्तित्व– जूनागढ़ अभिलेख रूद्रदामन के व्यक्तित्व के अनेक पक्षों को स्पष्ट करता है। इस लेख में उसके व्यक्तित्व का जो पक्ष सर्वाधिक उभरा, वह है उसकी जन कल्याण की भावना। उसने प्रजा के लिए अपने मन्त्रियों के विरोध के बावजूद अपने निजी कोष से भारी धन व्यय करके सुदर्शन झील का पुननिर्माण करवाया था। उसने बॉध के लिए प्रजा से कोई अतिरिक्त या अनुचित कर नहीं लिया। वह उच्च आदर्शों का पालन करने वाला प्रजावत्सल राजा था। वह सदैव शरणागत की रक्षा करने वाला और युद्ध के अतिरिक्त किसी का भी वध न करने की प्रतिज्ञा लेने वाला दयालु व्यक्ति था। उसने अपने प्रजाजनों को डाकुओं, जंगली पशुओं व रोगों से भयमुक्त किया। वह एक कुशल सेनानायक और योद्धा था। वह शस्त्र व शास्त्र दोनों विद्याओं में पारंगत था। वह संगीत व शास्त्रों का ज्ञाता, संस्कृत व संस्कृति का संरक्षक, काव्यशास्त्र का मर्मज्ञ, शब्दार्थ (व्याकरण), न्याय (तर्कशास्त्र) का ज्ञाता तथा हाथी, घोड़े रथादि के संचालन एवं तलवार, ढाल आदि के युद्ध में प्रवीण था। इन गुणों के साथ–साथ वह अद्भुत शारीरिक सौन्दर्य का स्वामी भी था। उसके सिक्कों से इसकी पुष्टि होती है। निष्कर्षतः रूद्रदामन बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तित्व का धनी था और अपने स्वतंत्र शासन के बावजूद ''महाक्षत्रप'' की उपाधि को उसी प्रकार धारण किये रहा जैसे पुष्यमित्र शुग सम्राट होते हुए भी सेनापति कहा जाता रहा। उसका व्यक्तित्व इस बात का भी प्रमाण है कि रूद्रदमन व उसके उत्तरोत्तर शासकों का इस समय तक लगभग भारतीयकरण हो चुका था। रूद्रदमन के उत्तराधिकारी कमजाकर शासक थे। उसके उत्तराधिकारी के रूप में दामजाद का नाम आता है।

कुषाण

यद्यपि कुषाणों की उत्पत्ति पर इतिहासकार एकमत नहीं है, फिर भी इस सम्बन्ध में मान्यता प्राप्त मत यह है कि कुषाण पश्चिमी चीन के कान–सू प्रान्त के रहने वाली 'यू–ची' जाति से

कुषाण साम्राज्य

सम्बन्धित थे। लगभग 165 ई.पू. में हूणों द्वारा इस जनजाति को इनकी मातृभूमि से खदेड़ दिये जाने पर यू–ची नये स्थान की तलाश में विभिन्न संघर्षों के बाद आक्सस नदी घाटी के ताहिया (बैक्ट्रिया) प्रदेश में पहुँचे। ताहिया में उस समय शकों का शासन था। यू–ची जाति ने शकों को परास्त कर बैक्ट्रिया पर अधिकार कर लिया। यहीं पर रहते हुए यू–ची पाँच शाखाओं में विभक्त हो गए। इन शाखाओं में कुषाण शाखा सर्वाधिक शक्तिशाली थी, अतः उसने शेष चारों शाखाओं पर विजय प्राप्त करके उनके राज्यों को भी अपने साम्राज्य में मिला लिया। इसी कारण यू–ची के स्थान पर कुषाण शब्द का प्रयोग होने लगा। कुषाण वंश का संस्थापक कजुलकेडफिसिज था जिसका राज्य बैक्ट्रिया व गान्धार प्रदेश में था। उसका उत्तराधिकारी विम कडफिस था जिसने अपने साम्राज्य का विस्तार भारतीय प्रदेश मथुरा तक में किया था, साथ ही महाराज की उपाधि धारण की थी। कुषाणों के प्रारंभिक इतिहास पर चीनी इतिहास ग्रंथ बहुमूल्य प्रकाश डालते हैं। इसके अलावा भारतीय साहित्य तथा पुरातात्विक सामग्री–मुद्राओं, अभिलेखों, मूर्तियों और खुदाई में प्राप्त प्राचीन स्मारकों से भी कुषाण वंश के इतिहास पर व्यापक एवं प्रामाणिक जानकारी मिलती है।

कनिष्क (78–101 ई.)

कनिष्क कुषाण राजाओं में सबसे महान् था, किन्तु उसकी सिंहासनारोहण की तिथि के विषय में विद्वान एकमत नहीं है। अधिकांश विद्वानों के मतानुसार कनिष्क के राज्याभिषेक की

तिथि 78 ई. मानी गई है। कनिष्क की महानता का अनुमान इस बात से भली–भांति लग जाता है कि उसका साम्राज्य पश्चिम में आक्सस नदी से पूर्व में गंगा नदी तक मध्य एशिया में खुरासन से लेकर उत्तर–प्रदेश में वाराणसी तक फैला था।

कनिष्क की सैनिक उपलब्धियाँ

कनिष्क कुषाण वंश का सबसे प्रतापी शासक था। कनिष्क के समय में कुषाण सत्ता अपने शिखर पर पहुँच गई थी। कनिष्क एक महान् विजेता, कुशल प्रशासक एवं कला प्रेमी शासक था। कनिष्क जब सिंहासनारूढ़ हुआ तब उत्तराधिकार में उसे एक छोटा सा राज्य मिला था। जिसमें अफगानिस्तान, सिन्ध का भाग, पार्थिया, बैक्ट्रिया और पंजाब का कुछ भाग शामिल था। उसके पूर्व शासक चीनी शासकों द्वारा पराजित कर दिए गए थे और विम कदफिसस की मृत्यु के बाद उत्पन्न अराजकता के कारण कुषाण राज्य शिथिल एवं अव्यवस्थित हो गया था। विम की मृत्यु के समय कनिष्क उन कुषाण सरदारों में से एक था, जो भारत में अपना भाग्य आजमा रहे थे।

1. *पार्थिया पर अधिकार –* कनिष्क व पार्थिया के शासक के मध्य हुए युद्ध की जानकारी चीनी स्रोतों से मिलती है। चीनी साहित्य से पता चलता है कि पार्थिया के शासक ने कनिष्क पर आक्रमण किया था। पार्थिया के शासक द्वारा कुषाण साम्राज्य पर आक्रमण करने के दो कारण थे। प्रथम तो यह कि व्यापारिक दृष्टि से महत्वपूर्ण प्रदेश बैक्ट्रिया पर वह अधिकार करना चाहता था। दूसरा कारण यह था कि एरियाना प्रदेश पर पहले पार्थिया का अधिकार था, किन्तु बाद में कुषाणों ने इस पर अधिकार कर लिया था, अतः पार्थिया का शासक एरियाना प्रदेश पर पुनः अधिकार करना चाहता था। डॉ. स्मिथ की मान्यता है कि 'कनिष्क ने पार्थियनों के मूर्ख राजा संभवतया खुसरो को हराया था।' इस युद्ध के फलस्वरूप सम्पूर्ण पार्थिया प्रदेश कुषाण राज्य का अंग बन गया।

2. *पाटलिपुत्र (मगध) को जीतना –* चीनी और तिब्बती लेखकों के वर्णन से पता चलता है कि कनिष्क ने साकेत (अयोध्या) और पाटलिपुत्र पर आक्रमण किया था। बौद्ध परम्पराओं के अनुसार कनिष्क ने पाटलिपुत्र के राजा को हराकर उसमें दण्डात्मक कर की मांग की थी और वह न दे पाने पर कनिष्क बुद्ध का एक काष्ठ निर्मित भिक्षापात्र तथा प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान अश्वघोष को पाटलिपुत्र से अपने साथ लेकर आया था। सत्यकेतु विद्यालंकार के अनुसार मगध राज्य से सातवाहनों के शासन का अंत करने का श्रेय कनिष्क को ही है।

कुछ विद्वानों ने बंगाल व उड़ीसा में कुषाणों की मुद्राएँ मिलने के आधार पर बिहार के आगे बंगाल व उड़ीसा पर भी कनिष्क का अधिकार बताया है।

3. *कश्मीर पर विजय –* कनिष्क को कश्मीर बहुत पसन्द था। डॉ. स्मिथ के अनुसार कनिष्क को अपने राज्यकाल के प्रारंभिक वर्षों में भी कश्मीर विजय सम्पन्न करने का श्रेय दिया जा सकता है। किन्तु कश्मीर के शासक के साथ उसके युद्ध का विवरण उपलब्ध नहीं है। विभिन्न प्रमाणों से कश्मीर पर कनिष्क के अधिकार की पुष्टि होती है। कश्मीर के प्राचीन इतिहासकार कल्हण ने अपनी ऐतिहासिक पुस्तक 'राजतरंगिणी' में कनिष्क को कश्मीर का शासक बताया है। कनिष्क ने कश्मीर में ही बौद्ध धर्म की चतुर्थ संगीति बुलाई थी जिसमें पाटलिपुत्र से लाये गये प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान अश्वघोष की महत्वपूर्ण भूमिका रही थी। कनिष्क ने कश्मीर में अनेक विहारों का निर्माण कराया और 'कनिष्कपुर' नगर बसाया, जो संभवत् आधुनिक बारामूला के समीप कानीरपोर ;Kaniapor) ग्राम है।

4. *उज्जैन पर विजय –* माना जाता है कि कनिष्क ने उज्जैन के शक शासकों के विरूद्ध भी युद्ध किया था। अधिक संभावना यह है कि शक क्षत्रप चष्टन ही वह शासक था जिसे कनिष्क ने परास्त किया था। इस युद्ध के परिणामस्वरूप पश्चिमी भारत के शकों ने कनिष्क की प्रभुता को स्वीकार कर लिया और मालवा के कुछ भाग पर कनिष्क का अधिकार स्थापित हो गया था।

5. *मध्य एशिया की विजय –* चीनी इतिहास ग्रंथों से पता चलता है कि लगभग 90 ई. में कनिष्क ने हानवंश के सेनापति पान–चाओ, (जिसने चीनी तुर्किस्तान को अपने अधिकार में ले लिया था), के विरूद्ध शक्तिशाली सेना भेजी। कनिष्क को इस युद्ध में महत्वपूर्ण विजय मिली, जिसके परिणामस्वरूप मध्य एशिया (चीनी तुर्किस्तान) के काशगर, यारकन्द एवं खोतान पर कनिष्क का अधिकार हो गया।

6. *चीन पर आक्रमण –* चीनी तुर्किस्तान पर अधिकार हो जाने से कनिष्क का साम्राज्य उत्तर में पामीर की पहाड़ी तक फैल गया था और इसके फलस्वरूप कुषाण साम्राज्य की सीमाएँ चीन के हान साम्राज्य की सीमाओं को छूने लग गई थी। चीनी साहित्यिक स्रोतों एवं ह्वेनसांग के विवरण से पता चलता है कि इस समय कनिष्क ने पामीर के उत्तर में अपने साम्राज्य विस्तार के लिए एक शक्तिशाली सेना भेजकर चीन पर आक्रमण किया था।

चीनी साहित्य के अनुसार कनिष्क ने अपने साम्राज्य की सुरक्षा हेतु चीन के हानवंशी सम्राट (हो–ति) के पास अपना दूत भेजकर चीनी राजकुमारी से विवाह करने की इच्छा प्रकट की थी। चीन के सेनापति पान–चाओ ने इसे चीनी सम्राट का अपमान समझते हुए कुषाण दूत को बन्दी बना लिया। इसकी सूचना मिलने पर कनिष्क ने अपने सेनापति 'सी' के नेतृत्व में 70,000 घुड़सवारों की एक शक्तिशाली सेना चीनी साम्राज्य पर आक्रमण करने के लिये भेजी किन्तु खोतान तक पहुँचने पर खराब मौसम के कारण सेना का एक बड़ा भाग नष्ट हो गया। अतः पान–चाओ ने उसे आसानी से हरा दिया और कनिष्क को प्रतिवर्ष चीनी शासक को कर देने के लिए विवश किया। इस पराजय की पुष्टि एक किंवदन्ती से भी होती है जिसके अनुसार अपनी मृत्यु के कुछ पूर्व कनिष्क ने खेदपूर्वक कहा था, ''मैंने तीनों दिशाओं को अपने अधीन कर लिया है केवल उत्तरी दिशा के लोग ही आत्मसर्पण के लिए नहीं आए हैं।''

ह्वेनसांग के वर्णन से ज्ञात होता है कि कुछ समय पश्चात् कनिष्क ने अपनी पराजय का प्रतिशोध ले लिया। ह्वेनसांग के अनुसार ''कनिष्क का साम्राज्य सुंग–लिन पर्वत के पूर्व (खोतान, काशगर, यारकन्द) में भी विस्तृत था तथा पीली नदी के पश्चिम में रहने वाली जातियाँ (चीनी) उससे भयभीत हो गई और उन्होंने अपने दो राजकुमारों को कनिष्क के दरबार में बन्धक

के रूप में भेजा था।'' एक विजेता के रूप में कनिष्क की यह महान् विजय थी।

7. पेशावर पर चढ़ाई– कनिष्क ने अपनी राजधानी पुरुषपुर या वर्तमान पेशावर में स्थापित की। यह उसके साम्राज्य का केन्द्रवर्ती स्थान था, क्योंकि साम्राज्य मध्य एशिया तक फैला हुआ था। कनिष्क ने अपनी राजधानी को कई श्रेष्ठ स्मारकों, सार्वजनिक भवनों और बौद्ध विहारों से सुसज्जित किया।

कुषाणों का साम्राज्य विस्तारः– इस प्रकार विभिन्न विजयों के द्वारा कनिष्क में एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की। उपर्युक्त विजय के अलावा मुद्रा, अभिलेख और साहित्यिक स्रोतों से उसके साम्राज्य की सीमाएँ निर्धारित की जा सकती है। कौशाम्बी, सारनाथ, मथुरा से प्राप्त उसके अभिलेख यह संकेत देते है कि शासक के रूप में वह मूलतः पूर्वी प्रदेश से सम्बन्धित था तथा सम्पूर्ण उत्तर पर उसका अधिकार था। काशी तथा सारनाथ उसके साम्राज्य के इस भाग के केन्द्र स्थल थे। सिन्ध व पंजाब से प्राप्त उसके लेख वहॉ पर उसके अधिकार की पुष्टि करते हैं। चीनी स्रोत, गान्धार पर उसका अधिकार प्रमाणित करते हैं। मध्य प्रदेश के कुछ स्थानों से भी कनिष्क की मुद्राएँ और मथुरा शैली की मूर्तियाँ मिली है। इस प्रकार कनिष्क का साम्राज्य पूर्व में बिहार से लेकर पश्चिम खुरासान तथा उत्तर में पामीर से लेकर दक्षिण में कोंकण प्रदेश तक विस्तृत था।

प्रशासन – डॉ. बी. एन. पुरी के अनुसार कुषाण निरंकुश शासक थे, कनिष्क का साम्राज्य विशाल था, किन्तु उसकी शासन व्यवस्था के विषय में बहुत कम जानकारी उपलब्ध है। यूनानियों एवं शकों की भांति कनिष्क का शासन क्षत्रप प्रणाली पर आधारित था। सारनाथ के अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसका शासन प्रान्तीय क्षत्रपों के द्वारा होता था। एक की राजधानी मथुरा व दूसरे की संभवतः काशी थी। मथुरा में महाक्षत्रप खरपल्लन और काशी में वनस्पर प्रान्तीय शासक थे। इस शासन का स्वरूप बहुत कुछ सैनिक था और इसका संगठन बहुत मजबूत नहीं था। ''दण्डनायक और महादण्डनायक पद कुषाण प्रशासकीय मशीनरी की कड़ी थे।

बौद्ध धर्म का पोषक कनिष्क

भारतीय इतिहास में कनिष्क की प्रसिद्धि एक महान् विजेता के साथ ही बौद्ध धर्म के महान संरक्षक के रूप में रही है। बौद्ध साहित्य में कनिष्क का उल्लेख दूसरे अशोक के रूप में किया गया है, जिसके प्रोत्साहन एवं संरक्षण के कारण बौद्ध धर्म का व्यापक प्रचार–प्रसार हुआ। बौद्ध धर्म अपनाने के पूर्व कनिष्क क्रमशः ईरानी, यूनानी, एवं हिन्दू देवताओं में विश्वास करता रहा था। इसका प्रमाण यह है कि कनिष्क के प्रारम्भिक सिक्कों पर ईरानी देवता 'मिहिर', अग्नि, अहुरमज्दा, यूनानी देवताओं हेलियोस, हैरेक्लीज तथा हिन्दू देवताओं सूर्य, चन्द्र, शिव आदि के चित्र मिले हैं। उसकी मुद्राओं पर बुद्ध के चित्र भी मिलते हैं। अधिकांश इतिहासकारों की मान्यता है कि पाटलिपुत्र की विजय के साथ लाये गये प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान अश्वघोष से प्रभावित होकर कनिष्क ने उसी से बौद्ध धर्म की दीक्षा ली थी। शीघ्र ही कनिष्क एक उत्साही बौद्ध बन गया और अपने धर्म की अभिवृद्धि में वह अशोक के चिन्हों पर चल पड़ा। उसने बौद्ध धर्म को राज्याश्रय प्रदान कर कनिष्कपुर, पुरूषपुर, मथुरा व तक्षशिला में स्तूप और विहार बनवाए। विदेशों में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये बौद्ध भिक्षुओं को मध्य एशिया, चीन, तिब्बत, जापान आदि देशों में भेजा। राजतरंगिणी में लिखा है कि कनिष्क ने बौद्ध धर्म का प्रचार किया। ह्वेनसांग ने भी कनिष्क को बौद्ध धर्म का महान् संरक्षक एवं प्रचारक बताया है। कनिष्क द्वारा चतुर्थ बौद्ध संगीति का आयोजन इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि कनिष्क बौद्ध था और महायान शाखा के प्रसार के लिए उसने प्रयत्न किए। बौद्ध होते हुए भी कनिष्क ने अन्य धर्मों का आदर किया और धार्मिक सहिष्णुता की नीति का पालन किया जो उसके सिक्कों से प्रमाणित होती है।

बौद्ध धर्म का विभाजन व चतुर्थ बौद्ध संगिति –

संगीति कनिष्क के शासनकाल की एक उल्लेखनीय घटना है। बौद्ध धर्म में उपस्थित विवादास्पद सिद्धान्तों का निर्णय करने के उद्देश्य से कनिष्क के शासनकाल में चतुर्थ बौद्ध संगीति का आयोजन कश्मीर के 'कुण्डलवन' नामक विहार में किया गया था। लगभग 500 बौद्ध विद्वानों ने इसमें भाग लिया था। प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान वसुमित्र इसके अध्यक्ष और अश्वघोष उपाध्यक्ष थे। छः माह तक चले इस सम्मेलन में सम्पूर्ण बौद्ध साहित्य की सूक्ष्मता से जॉच की गई तथा त्रिपिटकों पर टीका लिखकर उसे सम्पूर्ण रूप से एक ग्रन्थ में संकलित कर लिया गया, जिसका नाम 'महाविभाष' रखा गया। महाविभाष को बौद्ध धर्म का विश्व कोष कहा जाता है। सभी टीकाओं को ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण कर विशेष रूप से निर्मित एक स्तूप में रखा गया। तिब्बती इतिहासकार तारानाथ के अनुसार बौद्ध सभा में बौद्ध धर्म के तत्कालीन 18 स्कूलों के मतभेदों का निवारण किया और इन सभी स्कूलों को धर्म–परायण स्वीकार कर लिया गया।

चतुर्थ बौद्ध संगीति का एक उल्लेखनीय परिणाम बौद्ध धर्म का हीनयान एवं महायान शाखा में विभक्त होना था। जन साधारण में तथा विदेशों में प्रसार के लिए इस समय बौद्ध धर्म के नियमों व सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप प्रदान किया गया। इसमें मूर्ति–पूजा, स्वर्ग, धार्मिक क्रियाएँ आदि को स्वीकार कर लिया गया। इस प्रकार बौद्ध धर्म की एक नवीन शाखा का जन्म हुआ जिसे 'महायान' कहा गया जबकि मूल बौद्ध धर्म को हीनयान कहा जाने लगा। कनिष्क ने बौद्ध धर्म की महायान शाखा को राजधर्म के रूप में मान्यता दी। हीनयान में बुद्ध केवल महापुरूष थे, जबकि महायान में बुद्ध को ईश्वरीय अवतार समझकर उनकी मूर्ति–पूजा शुरू हो गई। हीनयान में सत्कर्मों पर बल दिया था जबकि महायान में बुद्ध एवं बोधिसत्वों की पूजा कर बल दिया जाने लगा। हीनयान में पाली भाषा का प्रयोग किया जाता था किन्तु महायान में उसका स्थान संस्कृत भाषा ने ले लिया। बौद्ध धर्म की इस नई शाखा महायान के उदय के कारण बौद्ध धर्म का विकास तेजी से हुआ क्योंकि इसके सिद्धान्त सरल थे जिनका पालन जनसाधारण में एक गृहस्थ व्यक्ति भी सरलतापूर्वक कर सकता था। अन्य धर्मों के समान मूर्ति–पूजा का प्रचलन होने से महायान धर्म की लोकप्रियता बढ़ गई। कनिष्क द्वारा महायान को राजधर्म घोषित करने से मध्य एशिया में उसके विशाल साम्राज्य

में महायान के विकास में पर्याप्त सुविधा हुई होगी।

कला व साहित्य की उन्नति

कनिष्क केवल एक महान् विजेता ही नहीं वरन् उच्च कोटि का विद्वान एवं कला प्रेमी सम्राट था। उसने अनेक बौद्ध विहार एवं स्तूप बनवाकर अपने कला प्रेम का परिचय दिया। किन्तु उसकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण देन मूर्तिकला के क्षेत्र में थी। उसके मुख्य स्मारक तथा कलाकृतियां पेशावर, मथुरा, कनिष्कपुर और तक्षशिला में पाई गई है। तक्षशिला का सिरमुख नगर उसी ने स्थापित किया, जिसमें एक बड़ा भवन व विहार था। मथुरा उसके समय एक महान कला केन्द्र बन गया, यहीं से कनिष्क की एक सिर रहित मूर्ति प्राप्त हुई है जो मथुरा संग्रहालय में सुरक्षित है। मूर्ति–निर्माण और स्थापत्य की दृष्टि से कनिष्क के शासनकाल में तीन विभिन्न केन्द्रों में तीन प्रमुख शैलियों का विकास हुआ– मथुरा, अमरावती एवं गान्धार। किन्तु महायान के उदय से मूर्तिकला में एक नया मोड़ आया। सीमान्त प्रदेश गान्धार में यूनानी प्रभाव के कारण बुद्ध की मूर्तियों में यूनानी देवताओं का प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगा, इस कारण इस कला को 'इण्डो–ग्रीक' अथवा 'ग्रीको बुद्धिष्ट' कला भी कहते हैं। किन्तु बुद्ध की इन मूर्तियों का निर्माण मुख्यतः गान्धार प्रदेश में होने के कारण इस कला का नाम 'गान्धार कला' पड़ा। इस प्रकार कला में कला की एक नवीन शैली 'गान्धार शैली' का आर्विभाव कनिष्क के शासनकाल की एक बड़ी देन थी।

कनिष्क की राजसभा में अनेक उच्चकोटि के दार्शनिक, वैज्ञानिक एवं साहित्यकार रहते थे। कनिष्क के दरबार का सबसे महान् व्यक्ति प्रसिद्ध कवि अश्वघोष था जिसने संस्कृत में 'बुद्धचरित' नामक महाकाव्य की रचना कर उसे अमर कृति बना दिया था। 'सौदरानन्द महाकाव्य, 'सूत्रालंकार' और 'सारीपुत्र प्रकरण' उसकी अन्य रचनाएँ थी। शून्यवाद एवं सापेक्षवाद का प्रवर्तक नागार्जुन कनिष्क के दरबार की एक अन्य महान् विभूति था। वह केवल दार्शनिक ही नहीं, वैज्ञानिक भी था। उसने अपनी पुस्तक 'माध्यमिक सूत्र' में सापेक्षता का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। उसे ही भारतीय आइंस्टीन कहा गया है। चरक कनिष्क का राज्य वैद्य था उसकी रचना 'चरक संहिता' आयुर्वेद की अमूल्य निधि है। वसुमित्र, पार्श्व एवं संघरक्षक कनिष्क के समय के अन्य प्रसिद्ध विद्वान थे। कनिष्क के काल में संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में आशातीत उन्नति हुई। उसके दरबार का एक मंत्री 'मंथर' प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ एवं कुशाग्र बुद्धि था।

मुद्राः– कुषाण युग के सिक्के बहुत बड़ी संख्या में प्राप्त हुए हैं कनिष्क प्रथम, हुविष्क तथा वासिस्क ने सोने तथा ताँबे के सिक्के चलाए। उन्होंने चाँदी के सिक्के नहीं चलाए। कुषाण सिक्कों का एक रूचिकर लक्षण यह है कि कुषाण साम्राज्य के विभिन्न भागों में रहने वाले लोगों के देवताओं को कुषाण सिक्कों पर अंकित किया है।

निर्माता कनिष्कः– कनिष्क महान निर्माता भी था, उसके मुख्य स्मारक तथा कलाकृतियाँ पेशावर, मथुरा, कनिष्कपुर और तक्षशिला में पाई गई है। तक्षशिला के मिरमुख नगर उसी का स्थापित किया हुआ था। जिसमें बड़ा भवन, विहार और अन्य भवन थे। मथुरा उसके समय में एक महान कला केन्द्र बन गया। इस समय का एक मुख्य अवशेष कनिष्क की सिर रहित एक मूर्ति है।

विज्ञान की उन्नतिः– जैसा कि हम पूर्व में पढ़ चुके हैं कि कनिष्क शिक्षा एवं साहित्य का महान् संरक्षक था, फलस्वरूप उसके काल में साहित्य की विविध विधाओं का सर्वांगीण विकास हुआ। इस काल में पहली बार संस्कृत लेख लिखे गये। अश्वघोष, भास और शूद्रक इस विधा के महान साहित्यकार थे। संस्कृत भाषा और उसकी उन्नति के साथ ही पाली व प्राकृत भाषा में भी इस युग में उत्कृष्ट रचनाएँ लिखी गई। बौद्ध सम्प्रदाय की प्रगति के फलस्वरूप अनगिनित अवदानों की रचना हुई जैसे दिव्यावदान आदि। कनिष्क का दरबार विद्वानों, दार्शनिकों एवं वैज्ञानिकों का पोषक था। चरक और सुश्रुत महान चिकित्सक एवं आयुर्वेदाचार्य थे। नागार्जुन इस युग का महान वैज्ञानिक था जिसने सापेक्षवाद का सिद्धान्त प्रतिपादित किया था। यूनानियों के सम्पर्क के बाद इस युग में भारतीय ज्योतिष में नवीन सिद्धान्तों की स्थापना हुई और खगोल विद्या की वैज्ञानिक प्रामाणिकता बढ़ी। मध्य एवं रोमन साम्राज्य के सम्पर्कों के परिणामस्वरूप प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में नई तकनीक विकसित जैसे तांबे के कुषाणकालीन सिक्के रोमन स्वर्ण मुद्राओं की नकल थे।

गान्धार कला (50 ई.पू. से 500 ई.)– गान्धार कला के विकास के लिए कुषाण युग प्रसिद्ध हैं। मूर्तिकला की गान्धार शैली को ग्रीको–रोमन, ग्रीकों–बुद्धिष्ट, हिन्द–यूनानी आदि नामों से भी जाना गया है। यद्यपि उस पर यूनानी–रोमन कलाओं का प्रभाव अधिक था किन्तु इसका विकास भारतीयों ने किया था। भारत के गान्धार प्रदेश में विकास होने के कारण ही इसे गाँधार शैली कहा गया। गांधार में भारतीय शिल्पकारों का एशियाई, यूनानी व रोमन शिल्पियों से सम्पर्क हुआ। इससे नई शैली का उद्भव हुआ उसमें बुद्ध की प्रतिमाएँ यूनान व रोम मिश्रित शैली में बनायी गई। कनिष्क के समय में महायान धर्म के उत्थान के कारण एवं विदेशी शासकों द्वारा बौद्ध धर्म ग्रहण करने से बुद्ध की मूर्तियॉ यूनानी ढंग से बनने लगी जो यूनानियों के पवित्र देवता 'अपोलो' की भांति लगती है। भारतीय मूर्तिकला में यूनानियों की महत्वपूर्ण देन है। गान्धार कला की विषय–वस्तु भारतीय थी केवल निर्माता यूनानी थे। इनमें यूनानी श्रृंगार तथा अलंकार की प्रधानता हैं ये भूरे या सलेटी रंग पत्थरों से बनती थी, बाद में चूने प्लास्टर का प्रयोग होने लगा भारी ओष्ठ, खिंची हुई आँखे, घुँघराले बाल, लम्बी मूँछे, बोझिल, हट युक्त वस्त्रों से ढकी मूर्तियों में बुद्ध की आकृति यथार्थतः के निकट लाने का प्रयास किया गया है। कुषाणकाल में ही मूर्तिकला की गांधार व अमरावती शैलियों का स्वतन्त्र रूप से विकास हुआ था और उसमें भी श्रेष्ठतम कलाकृतियों का निर्माण हुआ।

शक सम्वत्– कनिष्क का स्मरण केवल उसको विजय के कारण ही नहीं किया जाता है। बल्कि अधिकांश इतिहासकार एक मत है कि कनिष्क ने 'सिंहसानुरुद्ध होने के समय 78 ई. से एक नया सम्वत् शुरू किया, यह शक सम्वत कहलाता है। इसका प्रचलन आज भी हमारे देश में है।

विदेशी व्यापार की उन्नति (आर्थिक स्थिति)

इस युग में विदेशी व्यापार में अभूतपूर्व वृद्धि के कारण

भारत आर्थिक दृष्टि सम्पन्न राष्ट्र बन गया था और लोगों के आर्थिक जीवन में समृद्धि के चिन्ह दिखाई देने लगे। स्थलमार्गों एवं नदी मार्गों के विकास ने जहाँ आन्तरिक व्यापार में वृद्धि की, वहीं समुद्री मार्गों ने विदेशी व्यापार को सुदृढ़ता प्रदान की। स्थल मार्ग से पाटलिपुत्र ताम्रलिप्ति से जुड़ा हुआ था और वहाँ से जहाज बर्मा और श्रीलंका जाते थे। मध्य एशिया व पश्चिम एशिया को जाने वाले विभिन्न मार्गों का विकास हुआ। एक स्थल मार्ग से तक्षशिला काबुल से तथा दूसरे मार्ग से कन्धार ईरान से जुड़ा था। कुषाणों ने उस 'रेशम के मार्ग' (Silk Route) पर नियंत्रण कर लिया जो चीन से चलकर मध्य एशिया होते हुए रोमन साम्राज्य तक पहुँचता था। यह रेशम मार्ग कुषाणों का बहुत बड़ा आय का स्त्रोत था। इस प्रकार भारत के व्यापारी दक्षिणी अरब और लाल सागर क्षेत्रों से जुड़ गए थे। इसके परिणामस्वरूप कुषाण काल में भारत को रोमन साम्राज्य के साथ समृद्धि बहुत बढ़ी।

इसी समय भारतीय व्यापारियों ने चीनी सिल्क व्यापार में मध्यस्थ के रूप में भाग लेना शुरू कर दिया। भारत के व्यापारी चीन से रेशम खरीदकर रोमन साम्राज्य के व्यापारियों तक पहुँचाते थे, जिससे उन्हें बड़ा लाभ होता था। भारत में हाथीदाँत का सामान, काली मिर्च, लौंग, मसाले, सुगन्धित पदार्थ और औषधियाँ तथा सूती व रेशमी कपड़े बड़ी मात्रा में रोम निर्यात किये जाते थें भारत की बारीक मलमल रोम में बहुत लोकप्रिय हुई। इस व्यापार का केन्द्र केरल प्रदेश था। बाद में रोम से प्रतिवर्ष लाखों की स्वर्ण मुद्राएँ भारत आने लगी। ऐसी बहुत ही मुद्राएँ खुदाई में प्राप्त हुई हैं। चीन व रोम के अलावा भारत का व्यापार बर्मा, जावा, सुमात्रा, चम्पा आदि दक्षिण–पूर्वी एशिया देशों के साथ भी था। व्यापार में वृद्धि के साथ–साथ मुद्रा का भी विकास हुआ। इण्डोग्रीक शासकों व कुषाण शासकों ने बड़ी संख्या में सोने के सिक्के चलाए। मुद्रा का व्यापक प्रचलन इस युग की सबसे बड़ी देन है। मुद्रा एवं व्यापार के कारण देश में कई नगरों का विकास हुआ। नगरीकरण से विकसित नगरीय संस्कृति के प्रमाण और अवशेष भारत और मध्य एशिया में भी मिले हैं। यह हम पहले ही पढ़ चुके हैं कि स्वयं सम्राट कनिष्क एक बड़ा निर्माता था जिसने कनिष्कपुर और सिरमुख सहित अनेक नगरों की स्थापना की थी। पुरूषपुर या पेशावर उसकी प्रथम और मथुरा उसकी द्वितीय राजधानी थी, जो कुषाण कालीन समृद्धि का प्रतीक बन गई थी। मथुरा के सोंख क्षेत्र की खुदाई से कुषाणकालीन संस्कृति सात स्तरों से प्राप्त हुई है। पंजाब में जालन्धर, लुधियाना व रोपड़ से कुषाणकालीन श्रेष्ठ निर्माण प्राप्त होते हैं।

धार्मिक जीवन –मौर्योत्तर काल में राजत्व की एक विशिष्ठ अवधारणा उभर कर आई इसमें कुषाण राजाओं ने अपनी तुलना देवताओं से की। उन्होंने देवपुत्र की उपाधी धारण की। वस्तुतः इन विदेशी शासकों की सामाजिक स्वीकृति हेतु धार्मिक वैधता आवश्यक थी। ऐसी पद्धति समकालीन रोमन, यूनानी और ईरानी पद्धति में विद्यमान थी, इन्होंने सिक्कों पर भी अपने चित्र छापकर अपने प्रभामण्डल को राजतत्त्व से देवतत्त्व सिद्धान्त जैसा प्रतिपादित किया है।

सामाजिक जीवन– कुषाण कालीन समाज समृद्ध था। महिलाओं को पर्याप्त स्वतन्त्रता थी, घर में उनके पृथक कक्ष होते थे। पोशाक में एकरूपता नहीं थी, गन्धार क्षेत्र के लोग सामान्यतया धोती बाँधते थे। कमर में फेंटा लगाते थे और सिर पर रूमाल या साफा बाँधते थे। समाज समृद्धि, विविधताओं तथा अनेक गतिविधियों से परिपूर्ण था। यह मथुरा के शिलालेखों से स्पष्ट है जिसमें जीवन को अनेक गतिविधियों वाला बताया गया है। नाचने–गाने वाद्य यन्त्रों के उपयोग, नाटकों जादू–टोने व साहित्य का उल्लेख है।

कुषाण साम्राज्य का उद्देश्य एवं प्रभाव – मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात् पहली बार एक विशाल साम्राज्य बना जिसमें न केवल समस्त उत्तरी भारत ही सम्मिलित था बल्कि उसके बाहर के कई प्रदेश भी सम्मिलित थे जो मध्य एशिया तक फैले थे। इस प्रकार भारत बाहर की दुनिया के साथ घनिष्ठ सम्पर्क में आया।

इस युग में धर्म, साहित्य और मूर्तिकला का भी महत्वपूर्ण विकास हुआ, विशेष कर महायान बौद्ध धर्म का उदय, गान्धार कला और बौद्धमूर्ति का आगमन एच. जी. रालिन्सन का मत है ''कुषाण युग भारतीय संस्कृति के इतिहास का महत्वशाली युग है।

निश्चित ही यह कला–साहित्य, ज्ञान–विज्ञान व निर्माणों का दौर था। कुषाण काल भारत के इतिहास को ऊंचाइयाँ प्रदान करता है। असंख्य कुषाण भारतीय धर्मों के अनुयायी बन गए, कुषाणों ने भारतीय ढ़ंग को अपना लिया, समय के साथ वह भारत भूमि में एकाकार हो गए। अन्त में कुषाणों ने भारत की संस्कृति को आत्मसात कर उसकी मुख्यधारा में विलीन हो गए।

कनिष्क का मूल्यांकन

साक्ष्यों से प्रमाणित होता है कि लगभग 23 वर्ष तक शासन करने के पश्चात् भी कनिष्क निरन्तर युद्धरत रहा, इसी तंग आकर उसके सेनापतियों ने उसकी हत्या कर दी थी। कनिष्क प्राचीन भारत के महान्तम शासकों में एक था। एक महान् योद्धा, साम्राज्य निर्माता, कलाकारों तथा विद्वानों का आश्रयदाता था। अपनी सैन्य सफलताओं में वह समुद्रगुप्त का अग्रगामी था। हर्षवर्धन के समान वह बौद्ध धर्म का प्रचारक था तथा अशोक की ही तरह एक महान् निर्माता भी था। बौद्ध अनुश्रुतियों में कनिष्क के अनेक निर्माणों का उल्लेख मिलता है। कनिष्क की तुलना अशोक से की गई है। बौद्ध धर्म के प्रभाव से दोनों में महान् परिवर्तन हुए। धर्माचरण में कनिष्क हमें अशोक का स्मरण कराता है। बौद्ध धर्म में सुधार के लिये उसने अशोक की तरह बौद्ध संगीति का आयोजन किया। धर्मात्मा होने के साथ–साथ वह विद्यानुरागी भी था। उसका दरबार सम्राट विक्रमादित्य के समान विद्वानों से अलंकृत था। भारतीय विद्वानों के अतिरिक्त एक यूनान अभियन्ता 'आगिसिल्स' भी उसके दरबार में था। विद्वानों के सहयोग से उसने संस्कृत भाषा की उन्नति में सहयोग दिया। कनिष्क अपनी मुद्राओं के लिए भी इतिहास में प्रसिद्ध है। उसकी स्वर्ण मुद्राएँ यह बताती हैं कि देश उस समय कितना सम्पन्न था। रोमन साम्राज्य से मैत्रीपूर्ण सम्बंध होने के कारण भारत–रोम व्यापार में उस समय असीमित उन्नति हुई। भारत में वस्त्र, आभूषण व प्रसाधन सामग्री निर्यात की जाती थी तथा उसके स्थान पर सोना भारत आता था।

व्यापार का प्रमुख केन्द्र व प्रमुख व्यापारिक मार्गों से जुड़ा होने के कारण बैक्ट्रिया कनिष्क के साम्राज्य का महत्वपूर्ण केन्द्र बन गया था। उपर्युक्त उपलब्धियों के आधार पर कनिष्क को प्राचीन भारत के विदेशी शासकों में महानतम् स्थान देना उचित ही है।

कुषाण साम्राज्य का पतन– महान कुषाण साम्राज्य कनिष्क प्रथम के समय में अपने गौरव के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच गया। इसी समय में कुषाण साम्राज्य से केवल भारत के ही नहीं बल्कि मध्य एशिया के शासक भी भय खाते थे। किन्तु इस गौरव को कनिष्क प्रथम के उत्तराधिकारी अक्षुण्ण न रख सके। और उनके अधिकांश राज्य भारतीय शासकों के हाथ में आ गए। उसमें मुख्यतः नाग, मालव और कुणिन्द वंश अथवा जातियां थी। एक मत के अनुसार उनके पतन के जिम्मेदार कारणों में महत्वपूर्ण कारण उनका भारतीय जातियों में घुल–मिल जाना रहा है। इरान में सस्सैनियम साम्राज्य के उदय को भी कुछ इतिहासकार उनकी अवनति के कारणों में गिनते हैं। जिसके कारण कुषाण साम्राज्य समाप्त हो गया।

हूण

हूणों की उत्पत्ति को लेकर इतिहासकारों में एक मत का अभाव है। अधिकतर इतिहासकारों का मत है कि हुण मंगोलों की तरह ही मध्य एशिया की एक खनाबदोश व बर्बर जाति थी इन्होंने भारत की धन सम्पदा को खूब लूटा, कुछ इतिहासकार इनको बंजारो व गुर्जरों की उपजाति की संज्ञा भी देते है तो कुछ राजपूतों के पूर्वज के रूप में भी इन्हें स्वीकार करते है। हूणों की उत्पत्ति मूलतः काकेशस से मानी जाती है। वहां से इन्होंने अपना विस्तार मध्य व दक्षिणी ऐशिया के अन्य देशों में फैलाना शुरू किया। भारत में इनका प्रवेश पश्चिम से हुआ। जिसका समय लगभग 450 ईस्वी माना जाता है। हूणों द्वारा चलाए गए स्वर्ण सिक्के को हूण कहा जाता था। इस जाति के लोगों को चीन में हुयान या हूण कहा जाता है जो चीन के हुन्नाव प्रदेश से संबंधित है।

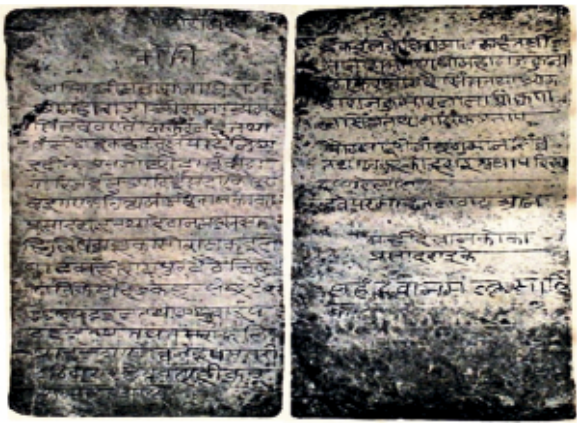

हूण शासकों की लिपि

स्कन्दगुप्त एवं हूण आक्रमण

हूण भारत के राजनैतिक नक्षत्र पर तब आते है जब शक्तिशाली गुप्त शासक स्कन्दगुप्त को उनके शासनकाल में मध्य एशिया की इस हूण जाति के लगातार सैकड़ों हमलों के द्वारा ललकारा गया। यद्यपि स्कन्दगुप्त ने उन्हें सफल तो नहीं होने दिया पर स्कन्दगुप्त की विजयश्री भी धुंधली ही रही। स्कन्दगुप्त का अंतिम समय भी इन आक्रान्ताओं के साथ संघर्ष में ही व्यतीत हुआ। कालान्तर में गुप्तकाल की शक्ति के क्षीण होने के संधिकाल में हुणों के राजा तोरमाण ने आर्यावत अर्थात् मालवा (मध्यप्रदेश) को विजय करने के बाद भारत में स्थायी निवास बना लिया। तोरमान के बाद उसके पुत्र मिहिरकुल या मिहिरगुल ने पंजाब पर आक्रमण पर उसे अपने अधीन कर लिया।

हूण राजा तोरमान– तोरमान हूणों का सबसे प्रतापी राजा था, उसके पुत्र मिहिर कुल व तोरमाण ने मथुरा व तक्षशिला में संयुक्त रूप से किया और वहां बहुत रक्तपात किया। जैन ग्रन्थ कुवलयमाल के अनुसार तोरमान चन्द्रभागा नदी के किनारे स्थित पवैय्या नगरी से भारत पर शासन करता था। इतिहासकारों के अनुसार पवैय्या नगरी ग्वालियर के पास स्थित थी।

यशोवर्मन द्वारा हूणों का दमन

हूणों के अत्याचार का मुकाबला स्थानीय शासक यशोवर्मन और बालदित्य ने मिलकर किया। यह समय 528 ईस्वी बताया जाता हैं। यशोवर्मन के आक्रमण से हूण परास्त जरूर हो गये थे, किन्तु वे अपने मूलस्थान मध्यएशिया नहीं गए। बल्कि हिन्दू धर्म व संस्कृति को आत्मसात करके इसके अभिन्न अंग बन गए और इसी में विलीन हो गए।

धर्म – ऐसा माना जाता है कि हुणों का धर्म शैव धर्म था, उन्होंने ही हर–हर महादेव का नारा दिया था। हूण जाति के बहादुर व पराक्रमी होने में कोई संदेह नहीं है। यह बात भी इतिहास सम्मत है कि उन्होंने भारत भूमि को ही आत्मसात कर लिया। अतः इतिहासकारों का यह कहना न्यायसंगत है कि आठवीं शताब्दी के राजपूत युग में हूणों का रक्त मिश्रित रहा होगा।

उद्देश्य एवं प्रभाव – हूण मध्य एशिया से नरसंहारक, क्रूर व बर्बर जाति के रूप में हमलावर की शक्ल लिए भारत पर चढ़ आए थे। किन्तु अन्त में भारतीय संस्कृति के रीति–रिवाजों को आत्मसात करके इसकी मुख्यधारा में विलीन हो गए और अन्य आक्रमणकारियों की तरह सदा–सदा के लिए भारतीय बन गए।

हूणों के आक्रमण से गुप्त शासकों की कमजोरी का पता तो चलता ही है, उसके साथ ही पश्चिमी व मध्य एशिया की जातियों के आक्रमणों का सिलसिला भी शुरू हो चुका था।

अध्ययन बिन्दु

- मौर्योत्तर काल में केन्द्रीय व्यवस्था बिखरी हुई रही जो पुनः गुप्तकाल में स्थापित हो सकी।
- बौद्ध धर्म कुषाण शासक कनिष्क के समय ही हीनयान–महायान में विभाजित हो चुका था।
- यूनानियों के आगमन से सुन्दर सिक्के आरंभ हुए थे।
- राजा पोरस की वीरता की तारीफ सिकन्दर ने की थी।
- मिलिन्दपन्ह पुस्तक में मेनाण्डर व बौद्ध विद्वान भिक्षु नागसेन के बीच के वार्तालाप का विवरण है।

- ❖ मूर्तिकला की गांधा शैली में महात्मा बुद्ध के घुँघराले वालों का उल्लेख है।
- ❖ शक शासकों की पाँच शाखाएँ थी जिनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण नासिक व उज्जैन शाखा थी।
- ❖ भारतीय समाज की धारा में विदेशियों का समावेश हो चुका था।
- ❖ सिकन्दर व मेनाण्डर दोनों यूनानी शासक थे।
- ❖ मेनाण्डर हिन्द–यवन शासक था।
- ❖ रूद्रदमन महान शक शासक था।
- ❖ कुषाणों का सर्वाधिक प्रसिद्ध राजा कनिष्क था।
- ❖ कुषाणों का कार्यकाल सम्पन्न व समृद्धि का काल था।
- ❖ जूनागढ़ अभिलेख में रूद्रदमन की विजयों का उल्लेख मिलता है।
- ❖ कनिष्क बौद्ध धर्म का प्रचारक व अनुयायी था।
- ❖ महर्षि चरक व सुश्रुत कनिष्क के राजवैद्य थे।
- ❖ शकों की दो शाखाएँ थी पार्थियन व बैक्ट्रीयन।

अभ्यासार्थ–प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

1. प्राचीन इतिहासकार कल्हण की प्रसिद्ध पुस्तक का नाम है:–
   (अ) इण्डिका (ब) सूर्य–अलंकार
   (स) राजतरंगिनी (द) दिव्यादान ( )

2. चरक संहिता के रचयिता महर्षि चरक किस शासक के दरबार की शोभा बढ़ाते थे :–
   (अ) कनिष्क (ब) रूद्रदमन
   (स) सिकन्दर (द) चन्द्रगुप्त ( )

3. शकों के प्रसिद्ध शासक का नाम निम्नलिखित में से था:–
   (अ) यशोवर्मन (ब) रूद्रदमन
   (स) हर्षवर्द्धन (द) अशोक ( )

4. त्रिपिटक संबंधित है :–
   (अ) बौद्ध धर्म से (ब) जैन धर्म से
   (स) ईसाई धर्म से (द) मुस्लिम धर्म से ( )

5. जूनागढ़ अभिलेख किसकी जानकारी उपलब्ध करवाता है:–
   (अ) चीनी शासक की (ब) कुषाण शासक की
   (स) यूनानी शासक की (द) शक शासक की ( )

6. बौद्ध धर्म का विभाजन किसके काल में हुआ था :–
   (अ) पृथ्वीराज (ब) रूद्रदमन
   (स) उदयराज (द) कनिष्क ( )

7. बौद्ध धर्म की चतुर्थ संगीति का स्थान था :–
   (अ) पेशावर (ब) कुण्डलवन (कश्मीर)
   (स) उज्जैन (द) मथुरा ( )

8. हूणों का सर्वाधिक संघर्ष निम्न में किसके साथ हुआ था :–
   (अ) चन्द्रगुप्त (ब) घटोत्कच
   (स) स्कन्दगुप्त (द) समुद्रगुप्त ( )

अति लघूत्तरात्मक प्रश्न (अधिकतम दो पंक्तियों में उत्तर दो)

1. मेगस्थनीज की पुस्तक का नाम बताइए ।
2. शून्यवाद के प्रर्वतक कौन थे ?
3. सिकन्दर कहाँ का शासक था ?
4. हिन्दू राजा पोरस ने किससे मुकाबला किया था ?
5. ''मिलिन्दपन्ह'' पुस्तक किस शासक को समर्पित है ?
6. भारतीय व यूनानी मिश्रण से किस शैली की मूर्तिकला का विकास हुआ था ?
7. शकों को किस चीन जाति ने परास्त किया था ?
8. पराक्रम व साहस के लिए इस काल के शासक किस उपाधि को धारण करते थे ?
9. सुदर्शन झील का जीर्णोद्धार करवाने वाले शासक का नाम क्या था ?
10. संस्कृत भाषा को बढ़ावा देने वाला शासक कौन था ?
11. कुषाण वंश का संस्थापक कौन था ?
12. ''आक्सस नदी से पूर्व में गंगा नदी तक मध्य एशिया में खुरासन से लेकर उत्तर–प्रदेश में वाराणसी तक'' कौन शासक राज्य करता था ?
13. बौद्ध धर्म किन दो शाखाओं में विभक्त हो गया था ?
14. प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान वसुमित्र ने किस सभा (संगीति) की अध्यक्षता की थी ?
15. विदेशी व्यापार की समृद्धि को प्रदर्शित करने वाले चीन से रोम तक फैले मार्ग को किस नाम से जाना जाता था ?
16. किस विद्वान को भारतीय आइन्स्टीन कहा जाता है?
17. पाटलिपुत्र का संबंध दक्षिण में किस बंदरगाह से था ?

लघूत्तरात्मक प्रश्न (अधिकतम आठ पंक्तियों में उत्तर दो)

1. हूण शासक तोरमाण से मिलकर किन भारतीय शासकों ने मुकाबला किया ?
2. विदेशी आक्रान्तकारी वंशों का नाम क्रमशः लिखिए।
3. बाह्य आक्रमणों की जानकारी देने वाले स्त्रोतों के बारे में संक्षेप में जानकारी दीजिए।
4. महान कवि अश्वघोष की रचनाओं का नाम लिखो।
5. यूनानी आक्रमण के समय भारतीय राजनैतिक स्थिति को अपने शब्दों में लिखो।

6. ''राजा पुरु अथवा पोरस का प्रतिरोध पराक्रम व साहस से परिपूर्ण था'' इस वाक्य को स्पष्ट करें।
7. सिकन्दर की मृत्यु के बाद किस यूनानी शासक ने आक्रमण का दूसरा चरण शुरू किया व उसका क्या परिणाम हुआ ?
8. राजा मेनाण्डर पर 15 पंक्तियाँ लिखिए।
9. मुद्रा (सिक्के) के क्षेत्र में यूनानी मुद्रा की विशेषताएँ बताइए।
10. ''शक शासक रूद्रदमन को जनकल्याण के लिए स्मरण किया जाऐगा'' इसके पक्ष में अपने तर्क संक्षेप में लिखिए।
11. बौद्ध धर्म के उत्थान हेतु अशोक के बाद सर्वाधिक रूप से कुषाण शासक कनिष्क को श्रेय जाता है। समझाइए।
12. कुषाण शासक कनिष्क किन विद्वानों, साहित्यकारों व दार्शनिकों का आश्रयदाता था।
13. विदेशी व्यापार की उन्नति का काल किसे कहेंगे व क्यों ?
14. ''गान्धार कला'' भारतीय मूर्तिकला का नवीन रूप था। इसकी विशेषताओं को बताइए।
15. कनिष्क के सैनिक अभियानों का उल्लेख करिए।
16. यूनानी आक्रमण के प्रभाव को रेखांकित करिए।

निबन्धात्मक प्रश्न (लगभग चार–पाँच पृष्ठों में उत्तर दीजिए)

1. ''भारतीय समाज की धारा में विदेशियों का समावेश'' विषय पर विस्तार से लिखो।
2. कुषाण राजा कनिष्क का एक महान शासक के रूप में मूल्यांकन करते हुए उसके कार्यकाल की विशेषताओं का वर्णन करो।
3. भारतीय यूनानी राजा मेनान्डर की उपलब्धियाँ बताइए।
4. कुषाण कालीन समाज, धर्म व वाणिज्य–व्यापार का वर्णन करिए।
5. ''शक राजा रूद्रदमन एक महान शासक था।'' समझाइए।

उत्तरमाला (बहुचयनात्मक प्रश्नों की)

1.	(स)	2.	(अ)	3.	(ब)	4	(अ)
5.	(द)	6.	(द)	7.	(ब)	8.	(स)

.....

अध्याय 4

मुगल आक्रमण : प्रकार और प्रभाव

अरब आक्रमण

विश्व के किसी भी देश ने अरब तथा तुर्कों के आक्रमण का इतना लम्बा, दृढ़ और सफल मुकाबला नहीं किया जितना मध्य युग के हिन्दुस्तान ने। एशिया, अफ्रीका तथा यूरोप के अनेक देशों ने अरबों के आक्रमणों के आगे कुछ ही वर्षों में घुटने टेक दिए थे। अरबों ने सर्वप्रथम सीरिया पर आक्रमण किया, एक वर्ष (635–36 ई.) में ही राजधानी दमिश्क ने आत्मसमर्पण कर दिया। इराक का पतन भी बिना युद्ध के ही 637 ई. में हो गया। 637 ई. में केसेडिया के प्रसिद्ध युद्ध में विजय प्राप्त करने के पाँच वर्ष के भीतर ही अरबों का फारस के सम्पूर्ण विशाल साम्राज्य पर अधिकार हो गया और 642–50 ई. के दौरान उन्होंने मध्य एशिया को जीत लिया। 643 ई. में अरब सैनिक भारत की सीमा तक पहुँच गए। 711 ई. में सेनापति तारीक ने स्पेन के राजा राड्रिक को पराजित किया किन्तु सिंध ने पिचहत्तर वर्षों तक सफल प्रतिरोध किया।

भारत पर अरब आक्रमणों के कारण

1. इस्लाम ने अरबवासियों को संगठित कर उनमें मजहबी प्रचार की तीव्र अभिलाषा उत्पन्न कर दी थी।अन्य देशों की तरह भारत में भी इस्लाम के प्रसार के उद्देश्य ने उन्हें आक्रमण करने के लिए प्रेरित किया।

2. खलीफा इस्लामी जगत का मजहबी प्रमुख ही नहीं अपितु राजनैतिक अधिकारी भी होता था। ऐसे में साम्राज्य विस्तार की भावना होना भी स्वाभाविक था।

3. अरबवासी भारत की आर्थिक समृद्धि से परिचित थे। वे यहाँ आक्रमण कर धन प्राप्त करना चाहते थे।

अरब आक्रमण – हजरत मुहम्मद की 632 ई. में मृत्यु के बाद भारत पर अरबी आक्रमणों का सिलसिला प्रारम्भ हुआ। खलीफा उमर के शासनकाल में 636 ई. में भारतीय प्रदेशों को लूटने के लिए मुम्बई के थाना नामक स्थान पर अरबों ने आक्रमण किया, किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। कालान्तर में उम्मैया वंश के शासनकाल के दौरान अब्दुल्ला के नेतृत्व में अरबी सेना ने सिंध के उस पार किरमार, सीस्तान व मकरान पर अधिकार कर लिया। खलीफा ने अब्दुल्ला को इसके आगे बढ़ने की अनुमति नहीं दी और अरबी आक्रमण यहीं तक सीमित रह गया।

दाहिर सेन

711 ई. में सिंध के समुद्री डाकुओं द्वारा स्थानीय बन्दरगाह देवल पर अरबी जहाज को लूट लिया गया। इस समय सिंध में दाहिर नामक ब्राह्मण राजा का शासन था। दाहिर के राज्य की सीमाएँ उत्तर में कश्मीर और पूर्व में प्रतिहारों के कन्नौज तक फैली हुई थी। पश्चिम में उसकी सीमाओं में मकरान या बलूचिस्तान का प्रदेश सम्मिलित था। दाहिर द्वारा अरबी जहाज लूटने की घटना का उपयुक्त स्पष्टीकरण नहीं दिए जाने को तात्कालिक कारण बनाकर ईराक के गवर्नर हज्जाज ने खलीफा वलीद से अनुमति प्राप्त कर सिंध पर आक्रमण के लिए सेना भेज दी। प्रारम्भिक दो अभियानों में हज्जाज के सेनापतियों उबैदुल्ला तथा बुदैल को असफलता का सामना करना पड़ा और दोनों मौत के घाट उतार दिए गये। इसके बाद हज्जाज ने अपने चचेरे भाई व दामाद सत्रह वर्षीय नवयुवक मुहम्मद बिन कासिम को भेजा। देवल पहुँचते ही उसने नगर का घेरा डालने की तैयारी की परन्तु बीच में पत्थर की सुदृढ दीवार से घिरा हुआ 120 फुट ऊँचा एक विशाल मंदिर आ गया। मंदिर का एक देशद्रोही पुरोहित अरबों से जा मिला और उसने सूचना दी कि जब तक ताबीज बंधा वह लाल झण्डा मंदिर पर लहराता रहेगा, तब तक नगर को जीता नहीं जा सकता। शीघ्र ही मुहम्मद कासिम ने 'मंजनीक' द्वारा इस ध्वज को गिरा डाला। ध्वज गिरने से नगर की रक्षा करने वाले सैनिक हतोत्साहित तथा अरब सेना उत्साहित हुई। कासिम ने नगर पर अधिकार करने के बाद 17 वर्ष से अधिक अवस्था वाले तमाम लोगों को मार डाला तथा छोटे बालक व स्त्रियों को कैद कर लिया। मंदिर की लूट में काफी सामान हाथ लगा जिसका पांचवां हिस्सा हज्जाज के पास भेज दिया गया और शेष सेना में बांट दिया। इसके बाद उसने आगे बढ़कर निरून, सेहवान और सीसम पर भी अपना अधिकार कर लिया। अंत में 20 जून 712 ई. को रावर के युद्ध में भारतीय और अरबी सेनाओं के बीच भयंकर संघर्ष हुआ। दाहिर शत्रुओं को काटता हुआ अपने साथियों सहित अरब सेना के मध्य भाग तक पहुँच गया। हाथी पर सवार दाहिर अपनी सेना के साथ डटकर युद्ध कर रहा था कि अनायास ही एक तीर उसके शरीर में आ घुसा और वह वीरगति को प्राप्त हुआ। इसके बाद दाहिर की पत्नी रानी बाई ने किले की रक्षा का

प्रयत्न किया किन्तु इसमें असफल रहने पर उसने जौहर कर अपने सम्मान की रक्षा की। रावर की विजय के बाद कासिम ने ब्राह्मणवाद पर अधिकार कर लिया। यहाँ कासिम के हाथ दाहिर की दूसरी रानी लाडी और दो पुत्रियाँ सूर्यदेवी व परमलदेवी लगी। ब्राह्मणवाद के बाद कासिम ने सिंध की राजधानी आरोर (आलोर) और मुल्तान पर भी अधिकार कर लिया। मुल्तान विजय भारत में अरबों की अंतिम विजय थी। यहाँ उनको इतना धन हाथ लगा कि उन्होंने मुल्तान का नाम बदलकर 'स्वर्णनगर' रख दिया।

मुहम्मद बिन कासिम का अंत– इतिहासकार गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के अनुसार दाहिर की राजकुमारियों का रुप–लावण्य देखकर खलीफा ने उनके सामने प्रेम की याचना की। वे दोनों अपने पिता की मृत्यु का बदला लेना चाहती थी। इस कारण मौका देखकर उन्होंने खलीफा से शिकायत की कि हम आपकी शैय्या पर पैर रखने योग्य नहीं हैं, यहाँ भेजने के पहले ही कासिम ने हमारा कौमार्य भंग कर दिया। इतना सुनते ही खलीफा आगबबूला हो गया और उसने तत्काल आज्ञापत्र लिखवाया कि इसे देखते ही मुहम्मद बिन कासिम को बैल के चमड़े में जीवित सिलाई कर हमारे पास भेज दो। हुक्म की उसी समय तामील हुआ। मार्ग में तीसरे दिन कासिम मर गया और उसी अवस्था में खलीफा के पास पहुँचाया गया। खलीफा ने उन दोनों राजकुमारियों को बुलवाया और उन्हीं के सामने बैल का चमड़ा खुलवा कर कासिम का शव उन्हें दिखलाया और कहा कि खुदा के खलीफा का अपमान करने वालों को मैं इस प्रकार दण्ड देता हूँ। कासिम का मृत शरीर देखते ही राजकुमारी के मुख पर अपना मनोरथ सफल होने की प्रसन्नता छा गई, परन्तु साथ ही मंद मुस्कराइट और कटाक्ष के साथ उसने खलीफा को कहा कि 'ऐ खलीफा! कासिम ने हमारा सतीत्व नष्ट नहीं किया। उसने कभी आंख उठाकर भी हमें कुदृष्टि से नहीं देखा परन्तु उसने हमारे माता, पिता, भाई और देशबंधुओं को मारा था इसलिए उससे अपना बदला लेने के लिए हमने यह मिथ्या दोष उस पर लगाया था। वीर बालिकाओं के ये वचन सुनते ही खलीफा सन्न हो गया और उन दोनों को जिंदा जलवा दिया।'

मुहम्मद बिन कासिम के लौटने के बाद 715 ई. में सिंध में हिन्दू राजाओं का पुनर्जागरण हुआ। बालादूरी के अनुसार ''अल–हिन्द के राजाओ ने अपने साम्राज्य में वापसी की और हुल्लीशाह (दाहिर का पुत्र जयसिंह) ब्राह्मणावाद लौट कर मुखिया के पद पर आसीन हो गया।'' तारीख–ए–मासूमी में भी लिखा है कि मुहम्मद बिन कासिम की मृत्यु के कुछ समय बाद ही भारत के लोगों ने विद्रोह का शंखनाद कर अरबी शासन को उखाड़ फैंका। जयसिंह ने अपनी स्वाधीनता के लिए सिंध के सूबेदार जुनैद के साथ संघर्ष किया और लड़ता हुआ मारा गया।

भारत से सम्पर्क का अरबों पर प्रभाव – अरबों की सिंध विजय का राजनीतिक परिणाम सिर्फ यह निकला कि सिंध का सम्बन्ध कुछ समय के लिए भारत से टूट गया और वह इस्लामी साम्राज्य का हिस्सा बन गया किन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से भारत ने अरबों पर विजय प्राप्त की। भारतीय दर्शन, विज्ञान, गणित, चिकित्सा और ज्योतिष ने अरबों को बहुत प्रभावित किया। उन्होंने कई भारतीय संस्कृत ग्रंथों का अरबी भाषा में अनुवाद करवाया जिनमें ब्रह्मगुप्त का 'ब्रह्म सिद्वान्त' तथा 'खण्ड खांड्यक' अधिक प्रसिद्ध हैं। अरब के लोगों ने अंक, दशमलव पद्धति, चिकित्सा व खगोलशास्त्र के कई मौलिक सिद्धान्त भारतीयों से सीखे और कला तथा साहित्य के क्षेत्र में भी भारतीय पद्धतियों को अपनाया। भारतीय दर्शन, साहित्य व कला की अनेक बातें अरबों के माध्यम से यूरोप के लोगों ने सीखी। इस प्रकार अरबों द्वारा भारतीय ज्ञान पश्चिमी देशों में पहुँचने में सफल रहा।

अरबों की सफलता के कारण– सिंध पर अरबों की सफलता के कई कारण थे। दाहिर के शासन में सामान्य वर्ग असंतुष्ट था। राज्य के अधिकांश भागों में असंतोष और अव्यवस्था व्याप्त थी। इस कारण अरब आक्रमण के समय उसे जनसहयोग नहीं मिल पाया। दाहिर स्वयं जनता में अप्रिय था क्योंकि उसका पिता राज्य का वास्तविक अधिकारी नहीं था। समकालीन भारतीय शासकों में आपसी तालमेल, सौहार्द तथा सहयोग की भावना नहीं थी और व्यक्तिगत स्वार्थ पनप रहे थे। सैनिक शक्ति बढ़ाने और विदेशी आक्रमण की संभावना को ध्यान में रखकर किसी भी राज्य ने अपनी सैन्य शक्ति को बढ़ाने की कोशिश नहीं की थी। सैनिक गतिविधियों का उत्तरदायित्व मात्र राजपूतों के कंधों तक सिमट गया था जो पारस्परिक द्वेष और ईर्ष्या के कारण आपस में लड़ने में लगे थे। मुहम्मद बिन कासिम की योग्यता, साहस तथा नेतृत्व शक्ति के साथ अरबों में मजहबी प्रचार के जोश, धन प्राप्ति की प्रबल इच्छा और खलीफा से मिलने वाले सैनिक सहयोग ने भी उनकी सफलता में अपना योगदान दिया।

नागभट्ट

नागभट्ट प्रथम (730–756 ई.) जालौर, अवन्ति और कन्नौज के गुर्जर–प्रतिहार वंश का संस्थापक कहा जाता है। उसने चावड़ों से भीनमाल जीतने के बाद आबू, जालौर आदि स्थानों पर भी अपना अधिकार किया। इस राज्य विस्तार के बाद उसने भीनमाल के स्थान पर जालौर को अपनी राजधानी बना लिया। मालवा में राज्य विस्तार कर उसने अवन्ति (उज्जैन) को भी अपनी राजधानी बनाया।

नागभट्ट प्रथम के समय सिन्ध की दिशा से बिलोचों तथा अरबों ने भारत पर आक्रमण किया। उसने न केवल मुस्लिम आक्रमण से पश्चिम भारत की रक्षा की अपितु उनके रौंदे हुए प्रदेशों पर पुनः अधिकार कर लिया। ग्वालियर प्रशस्ति में नागभट्ट प्रथम को म्लेच्छों (विदेशी आक्रमणकारी) का दमनकारक और दीनों का उद्धारक होने के कारण 'नारायण' उपाधि से विभूषित किया गया है। मुस्लिम लेखक अल बिलादुरी के विवरण से भी ज्ञात होता है कि समकालीन अरब शासक जुनैद को मालवा के विरुद्ध सफलता नहीं मिली। नौसारी अभिलेख में अरबों द्वारा पराजित राजाओं के नाम दिए गए हैं किन्तु इस सूची में नागभट्ट प्रथम का नाम न होना उपरोक्त तथ्यों को प्रमाणित करता है। अभिलेखों में उसे राम का प्रतिहार, मेघनाथ के युद्ध का अवरोधक

तथा इन्द्र के गर्व का नाश करने वाला बताया गया है। नागभट्ट प्रथम के बाद क्रमशः कुकुस्थ, देवराज व वत्सराज शासक बने।

वत्सराज की मृत्यु के बाद सुन्दरदेवी से उत्पन्न उसका पुत्र नागभट्ट द्वितीय (795–833 ई.) गुर्जर–प्रतिहारों के सिंहासन पर बैठा। इसने अपने पराक्रम से गुर्जर–प्रतिहार वंश की खोई हुई प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित कर उसे चरम पर पहुँचा दिया। वह प्रारम्भ में दक्षिण भारत के राष्ट्रकूट वंश के साथ संघर्ष में पराजित हुआ किन्तु बाद में राष्ट्रकूट नरेश गोविन्द तृतीय की घरेलू परिस्थितियों का लाभ उठाते हुए चक्रायुद्ध को पराजित कर कन्नौज पर अधिकार कर लिया। इस विजय के बाद कन्नौज गुर्जर–प्रतिहारों की नई राजधानी बन गई।

कन्नौज का शासक चक्रायुद्ध बंगाल के शासक धर्मपाल का आश्रित था। अतः धर्मपाल ने नागभट्ट से युद्ध प्रारम्भ कर दिया। मुंगेर के युद्ध में नागभट्ट विजयी रहा और पराजित धर्मपाल बंगाल भाग गया। चाकसू अभिलेख के अनुसार शंकरगण ने गौड़ (बंगाल) नरेश को हराया और समस्त विश्व को जीतकर अपने स्वामी (नागभट्ट द्वितीय) को समर्पित कर दिया। मुंगेर के युद्ध में मारवाड़ के शासक कक्क तथा सामन्त शंकरगण की उपस्थिति यह सिद्ध करती है कि राजस्थान का बहुत बड़ा भाग नागभट्ट के नियन्त्रण में था। ग्वालियर अभिलेख के अनुसार ''आंध्र, सिंधु, विदर्भ तथा कलिंग के नरेशों ने उसकी युवाशक्ति के समक्ष इस प्रकार समर्पण किया जिस प्रकार पतंगे अग्नि में करते हैं। उसकी महान् विशेषताओं की ख्याति सभी में फैल गई जबकि उसने आनर्त, मालव, मत्स्य, किरात, तुरुष्क तथा वत्स के पर्वतीय दुर्गों के राजाओं पर बलपूर्वक विजय प्राप्त की।'' यहाँ तुरुष्कों का समीकरण सिंध के अरबों के साथ किया गया है। दलपत विजय की रचना 'खुमानरासो' से गुहिल खुम्माण की मुसलमानों पर विजय की जानकारी मिलती है, जो नागभट्ट द्वितीय का सामन्त था। अपनी विजयों के फलस्वरूप नागभट्ट द्वितीय उत्तर भारत का सबसे शक्तिशाली शासक बन गया। इस उपलक्ष में उसने परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर की उपाधि धारण की। चन्द्रप्रभा सूरि के ग्रंथ 'प्रभावक चरित' के अनुसार नागभट्ट द्वितीय ने 833 ई. में गंगा में डूब कर आत्महत्या कर ली। संभवतः यह आत्महत्या न होकर पूर्व के कुछ शासकों द्वारा किये गये अंतिम धार्मिक कृत्य के रूप में मृत्यु को वरण करने के समान था। वह अपने वंश के सबसे योग्य व सफल शासकों में से एक था। राष्ट्रकूट व पाल वंश की तुलना में न्यून साधन होते हुए

सैन्य ठिकाने के कारण पाकिस्तान के शहर का नाम रावलपिंडी पड़ा।

तुर्क आक्रमण

आठवीं शताब्दी में होने वाले अरब आक्रमणों के बाद भारत लगभग दो शताब्दियों तक मुगल आक्रमणों से सुरक्षित रहा। दसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मुगल आक्रमणों का सिलसिला एक बार फिर प्रारम्भ हुआ किन्तु इस बार आक्रमण अरबों के स्थान पर तुर्कों द्वारा किए गये थे। भारत पर आक्रमण करने वाला प्रथम तुर्क आक्रमणकारी गजनी का शासक सुबुक्तगीन था। 977 ई. में शासक बनने के बाद उसने अपने साम्राज्य की सीमाओं का प्रसार करना प्रारम्भ किया। इस समय भारत के उत्तर–पश्चिमी भाग पर शाही वंश के योग्य राजा जयपाल का शासन था। लम्बे संघर्ष के बाद धोखे व षड़यंत्र से सुबुक्तगीन विजयी रहा और उसने लमघान से पेशावर तक के भारतीय प्रदेशों पर अपना अधिकार कर लिया। 997 ई. में सुबुक्तगीन की मृत्यु हो गई जिसके बाद उसके पुत्र इस्माइल और महमूद (गजनवी) क्रमशः गजनी के शासक बने। महमूद योग्य व महत्त्वाकांक्षी शासक था। उसने भारत पर कुल 17 बार आक्रमण किए जिनमें 1025 ई. में सोमनाथ मंदिर (गुजरात) पर किया गया उसका सोलहवाँ आक्रमण सर्वाधिक कुख्यात है। महमूद के आगमन की खबर सुनकर राजा भीमदेव अपने अनुयायियों सहित राजधानी छोड़कर भाग गया किन्तु सोमनाथ की साधारण जनता और पुजारी अपने स्थानों पर डटे रहे क्योंकि उनका विश्वास था कि भगवान सोमनाथ की उपस्थिति के कारण वे लोग पूर्णतया सुरक्षित हैं।

फरिश्ता के अनुसार सोमनाथ के लोगों ने पहले दिन आक्रमणकारियों का ऐसा प्रतिरोध किया कि उन्हें पीछे हटना पड़ा। दूसरे दिन शत्रु सेना नगर की दीवारों पर चढ़ने में सफल हो गई किन्तु नगर रक्षकों ने उन्हें वापिस उतरने के लिए बाध्य कर दिया। तीसरे दिन भयंकर प्रत्यक्ष युद्ध हुआ जिसमें अपनी सेना को बिखरता देखकर महमूद खुदा की मदद के लिए इबादत करने लगा। इब्न–अल–असीर के अनुसार हिन्दूओं की नियोजित सुरक्षा टूटने लगी तो उन्होंने आस्था की चरम शक्ति को प्रदर्शित किया। ''सुरक्षाकर्ताओं के झुंड के बाद झुंड सोमनाथ के मंदिर में प्रवेश करते रहे, वे बार–बार यह प्रण करते रहे कि वे मरते दम तक लड़ते रहेंगे यद्यपि कुछ ही जीवित रहे। अन्ततः महमूद ने बिना किसी प्रतिरोध के नगर पर अधिकार कर लिया और कत्लेआम की आज्ञा दी। 50,000 से अधिक स्त्री–पुरुषों को मौत के घाट उतार दिया गया। विजय के बाद महमूद ने स्वयं सोमनाथ की मूर्ति को तोड़ा और उसके टुकड़ों को गजनी, मक्का व मदीना भिजवाकर वहाँ की प्रमुख मस्जिदों की सीढ़ियों के नीचे डलवा दिया। महमूद का अंतिम आक्रमण 1027 ई. में सिंध के जाटों के विरुद्ध हुआ क्योंकि पिछले आक्रमण के समय सोमनाथ से गजनी लौटते समय उसे इन लोगों द्वारा काफी क्षति पहुँचाई गई थी।

1173 ई. में गौर के शासक गियासुद्दीन ने गजनी पर अधिकार कर लिया और अपने छोटे भाई शिहाबुद्दीन को गजनी का शासक नियुक्त किया। यही शिहाबुद्दीन इतिहास में मुईजुद्दीन मुहम्मद गौरी के नाम से प्रसिद्ध हुआ। गौरी महत्त्वाकांक्षी शासक था। गजनी का शासक बनने के बाद उसने भारत पर आक्रमण करने का निश्चय किया। उसके भारत पर आक्रमण के निम्नलिखित उद्देश्य थे :–

1. धन सम्पदा प्राप्त करना
2. साम्राज्य विस्तार की महत्त्वाकांक्षा
3. पंजाब में गजनी और मुल्तान में इस्माइलिया वंश की सत्ता को नष्ट करना
4. इस्लाम धर्म का प्रचार करना

पृथ्वीराज चौहान (1177–1192 ई.)

मुहम्मद गौरी के भारत पर आक्रमणों के समय दिल्ली व अजमेर पर पृथ्वीराज चौहान (तृतीय) का शासन था जो इतिहास में 'रायपिथौरा' के नाम से प्रसिद्ध है। पृथ्वीराज का जन्म 1166 ई. में हुआ था। वह अपने पिता सोमेश्वर की मृत्यु के बाद मात्र 11 वर्ष की आयु में चौहान साम्राज्य का उत्तराधिकारी बना। पृथ्वीराज की माँ कर्पूरदेवी कुशल राजनीतिज्ञा थी। इस कारण उसने प्रधानमंत्री कदम्बवास और सेनापति भुवनमल्ल की सहायता से राज्य का शासन आसानी से संभाल लिया। एक वर्ष तक माता के संरक्षण में रहने के बाद 1178 ई. में पृथ्वीराज ने शासन की बागडोर अपने हाथों में ले ली। शीघ्र ही उसने उच्च पदों पर अपने विश्वसनीय अधिकारियों की नियुक्ति कर विजय नीति को क्रियान्वित करने का बीड़ा उठाया। इतिहासकार गोपीनाथ शर्मा के अनुसार इस विजय नीति के तीन पक्ष थे – स्वजनों के विरोध से मुक्ति पाना, पड़ौसी राज्यों का दमन तथा विदेशी शत्रुओं का मुकाबला।

सम्राट पृथ्वीराज चौहान

पृथ्वीराज चौहान की विजयें– पृथ्वीराज को अल्पव्यस्क देख कर उसके चाचा अपरगांग्य ने शासक बनने के लिए विद्रोह कर

दिया। पृथ्वीराज ने उसे परास्त कर उसकी हत्या कर डाली किन्तु विरोधी दल शांत नहीं हुआ। अपरगांग्य के छोटे भाई नागार्जुन ने विद्रोह का बिगुल बजाते हुए गुरूग्राम (गुड़गांव) पर अधिकार कर लिया। पृथ्वीराज द्वारा सेना भेजने पर नागार्जुन गुरूग्राम (गुड़गांव) छोडकर भाग गया। उसके सेनापति देवभट्ट ने कुछ समय तक गुरूग्राम (गुड़गांव) को बचाने का प्रयास अवश्य किया किन्तु पृथ्वीराज की सेना सफल रही। विद्रोहियों को मौत के घाट उतार दिया गया और उनके सिर नगर की प्राचीरों पर लटका दिये गये जिससे भविष्य में अन्य शत्रु उनके विरोध का साहस न कर सकें। 1182 ई. में पृथ्वीराज ने गुड़गांव व हिसार के आसपास बसी हुई भण्डानक नामक उपद्रवी जाति को पराजित कर अपने राज्य की उत्तरी सीमा को सुरक्षित किया। समसामयिक लेखक जिनपति सूरि ने पृथ्वीराज द्वारा भण्डानकों के दमन का उल्लेख किया है।

प्रारम्भिक सफलताओं के बाद पृथ्वीराज ने प्राचीन भारतीय शासकों के समान दिग्विजय नीति अपनाने का फैसला किया। भण्डानकों के दमन के बाद उसकी सीमाएँ चन्देलों के महोबा राज्य से मिलने लग गई थी। अपने कुछ सैनिकों की हत्या का बदला लेने के लिए पृथ्वीराज ने 1182 ई. में महोबा राज्य पर आक्रमण कर दिया। इस युद्ध में चंदेल शासक परमर्दीदेव के दो सेनापति आल्हा व ऊदल लड़ते हुए मारे गए। विजयी पृथ्वीराज पंजुनराय को महोबा का अधिकारी नियुक्त कर लौट आया।

पृथ्वीराज रासो के अनुसार पृथ्वीराज ने आबू की राजकुमारी इच्छिनी से विवाह कर गुजरात के चालुक्य शासक भीमदेव द्वितीय को अप्रसन्न कर दिया क्योंकि भीमदेव भी इच्छिनी के साथ विवाह का इच्छुक था। डॉ. गोपीनाथ शर्मा के अनुसार दोनों शासकों के बीच संघर्ष का वास्तविक कारण उनके राज्यों की सीमाएँ मिलना और दोनों शासकों की महत्त्वाकांक्षायें थी। दोनों शासकों के बीच छोटी–मोटी झड़पों के बाद जगदेव प्रतिहार की मध्यस्थता से संधि हो गई किन्तु इस संधि से परम्परागत वैमनस्य समाप्त नहीं हुआ और चौहान–चालुक्य द्वेष भीतर ही भीतर सुलगता रहा।

पृथ्वीराज के पूर्व में स्थित कन्नौज के गहड़वाल राज्य का शासक इस समय जयचन्द्र था। दिल्ली पर नियन्त्रण को लेकर चौहानों और गहड़वालों के बीच परम्परागत वैमनस्य चला आ रहा था। पृथ्वीराज दिग्विजय योजना को पूर्णता प्रदान करने के लिए कन्नौज को अपने राज्य में मिलाना चाहता था, वहीं जयचन्द्र भी उसकी होड़ में विजय योजनाएँ बना रहा था। इस कारण दोनों के बीच संघर्ष होना अवश्यम्भावी था। पृथ्वीराज द्वारा जयचन्द्र की पुत्री संयोगिता का बलपूर्वक अपहरण कर विवाह किया जाना दोनों शासकों के बीच संघर्ष का चरमोत्कर्ष था। अपनी पुत्री के अपहरण से जयचन्द्र पृथ्वीराज का पक्का शत्रु बन गया और बदला लेने का अवसर ढूंढने लगा। एक प्रचलित मत के अनुसार उसने सहायता का आश्वासन देकर मुहम्मद गौरी को पृथ्वीराज पर आक्रमण करने के लिए आमन्त्रित किया। पुरातन प्रबन्ध संग्रह के अनुसार गौरी के हाथों पृथ्वीराज की पराजय की खबर सुनकर जयचन्द्र ने अपनी राजधानी में खुशियाँ मनाई थी।

संयोगिता की कहानी– चन्दरबरदाई की रचना 'पृथ्वीराज रासो' के अनुसार जयचन्द्र और पृथ्वीराज चौहान के बीच संघर्ष का कारण पृथ्वीराज चौहान द्वारा जयचन्द्र की पुत्री संयोगिता का अपहरण कर उसके साथ विवाह करना था। कथानक के अनुसार पृथ्वीराज चौहान और जयचन्द्र की पुत्री संयोगिता के बीच प्रेम था किन्तु जयचन्द्र पृथ्वीराज के साथ शत्रुतापूर्ण सम्बन्धों के चलते अपनी पुत्री संयोगिता का विवाह किसी अन्य राजा के साथ करना चाहता था। इस उद्देश्य से उसने राजसूय यज्ञ के साथ संयोगिता के स्वयंवर का आयोजन किया। इस आयोजन में उसने पृथ्वीराज को छोड़कर सभी प्रमुख राजा–महाराजाओं को आमन्त्रित किया। इतना ही नहीं जयचन्द्र ने पृथ्वीराज को अपमानित करने के लिए उसकी मूर्ति बनवाकर द्वारपाल के स्थान पर लगवा दी। स्वयंवर के समय जब सभी राजा–महाराजा संयोगिता की वरमाला का इन्तजार कर रहे थे उस समय संयोगिता ने पृथ्वीराज की मूर्ति के गले में वरमाला डाल दी। इसी वक्त पृथ्वीराज अपनी सेना सहित घटनास्थल पर पहुँच गया और संयोगिता को उठाकर ले गया। जयचन्द्र के सैनिकों से पृथ्वीराज को रोकने का प्रयास किया किन्तु वे असफल रहे। डॉ. आर. एस. त्रिपाठी, गौरीशंकर हीराचन्द और विश्वेश्वरनाथ रेऊ जैसे इतिहासकारों ने इसकी ऐतिहासिकता को मात्र प्रेमाख्यान कहकर अस्वीकार कर दिया है जबकि डॉ. दशरथ शर्मा ने 'दि अर्ली चौहान डाइनेस्टीज' में संयोगिता की घटना को ऐतिहासिक तथ्य स्वीकार किया है।

पृथ्वीराज चौहान और मुहम्मद गौरी के बीच संघर्ष– गजनी का गवर्नर नियुक्त होने के बाद मुहम्मद गौरी ने 1175 ई. में मुल्तान पर आक्रमण कर अधिकार कर लिया। इसके बाद उसने गुजरात, सियालकोट और लाहौर के युद्धों में विजय हासिल कर अपनी शक्ति का परिचय दिया। राजस्थानी स्रोतों के अनुसार इस दौरान उसकी पृथ्वीराज चौहान के साथ अनेक बार लड़ाइयाँ हुई और हर बार उसे पराजय का सामना ही करना पड़ा। पृथ्वीराज रासो में 21 तथा हम्मीर महाकाव्य में सात बार गौरी पर पृथ्वीराज की विजयों का दावा किया गया है। दोनों के बीच दो निर्णायक युद्ध हुए। 1191 ई. में लाहौर से रवाना होकर मुहम्मद गौरी तबरहिन्द नामक स्थान पर अधिकार करते हुए तराइन तक पहुँच गया। यहाँ दोनों पक्षों के बीच भयंकर युद्ध हुआ जिसमें पृथ्वीराज चौहान के दिल्ली सामंत गोविन्दराज ने अपनी बर्छी के वार से मुहम्मद गौरी को घायल कर दिया। घायल गौरी अपनी सेना सहित गजनी भाग गया। पृथ्वीराज ने तबरहिन्द पर अधिकार कर काजी जियाउद्दीन को बंदी बना लिया जिसे बाद में एक बड़ी धनराशि के बदले रिहा कर दिया गया।

एक वर्ष बाद मुहम्मद गौरी अपनी सेना के साथ तराइन के मैदान में पुनः आ धमका। पृथ्वीराज उसका मुकाबला करने पहुँच गया किन्तु गौरी ने इस बार अपने शत्रु को संधि वार्ता के झांसे में फंसा लिया। कई दिन तक संधि वार्ता चलने के कारण चौहान सेना निश्चिंत होकर आमोद–प्रमोद में डूब गई। इसका फायदा उठाकर गौरी ने एक रात्रि अचानक आक्रमण कर दिया। राजपूत सेना इस अप्रत्याशित आक्रमण को झेल नहीं पाई और पराजित हुई। पराजित पृथ्वीराज चौहान को सिरसा के पास

सरस्वती नामक स्थान पर बंदी बना लिया गया। पृथ्वीराज रासो के अनुसार बंदी पृथ्वीराज को गौरी अपने साथ गजनी ले गया जहाँ शब्द भेदी बाण के प्रदर्शन के समय पृथ्वीराज ने गौरी को मार डाला। जबकि समकालीन इतिहासकार हसन निजामी के अनुसार तराइन के द्वितीय युद्ध के बाद पृथ्वीराज चौहान ने मुहम्मद गौरी के अधीनस्थ शासक के रूप में अजमेर पर शासन किया था। इसामी के कथन के पक्ष में एक सिक्के का भी संदर्भ दिया जाता है जिसके एक तरफ मुहम्मद बिन साम और दूसरी तरफ पृथ्वीराज नाम अंकित है।

पृथ्वीराज चौहान की पराजय के कारण– विजेता होने के बावजूद पृथ्वीराज चौहान में दूरदर्शिता व कूटनीति का अभाव था। उसने अपने पड़ौसी राज्यों के साथ मैत्रीपूर्व सम्बन्ध स्थापित नहीं किये अपितु उनके साथ युद्ध करके शत्रुता मोल ले ली। इसी कारण मुहम्मद गौरी के विरुद्ध संघर्ष में उसे उनका कोई सहयोग नहीं मिला। 1178 ई. में जब मुहम्मद गौरी ने गुजरात के शासक भीमदेव द्वितीय पर आक्रमण किया था, उस समय पृथ्वीराज ने गुजरात की कोई सहायता न कर एक भूल की। तराइन के प्रथम युद्ध में पराजित होकर भागती तुर्क सेना पर आक्रमण न करना भी उसकी एक भयंकर भूल सिद्ध हुई। यदि उस समय शत्रु सेना पर प्रबल आक्रमण करता तो मुहम्मद गौरी भारत पर पुनः आक्रमण करने के बारे में कभी नहीं सोचता। संयोगिता के साथ विवाह करने के बाद उसने राजकार्यों की उपेक्षा कर अपना जीवन विलासिता में व्यतीत करना प्रारम्भ कर दिया था।

पृथ्वीराज चौहान का मूल्यांकन– पृथ्वीराज एक वीर और साहसी शासक था। अपने शासनकाल के प्रारम्भ से ही वह युद्ध करता रहा जो उसके अच्छे सैनिक और सेनाध्यक्ष होने को प्रमाणित करता है। अनेक युद्धों में सफलता प्राप्त कर उसने 'दलपंगुल' (विश्वविजेता) की उपाधी धारण की। तराइन के द्वितीय युद्ध में मुहम्मद गौरी द्वारा छल–कपट का सहारा लेने से पूर्व वह किसी भी लड़ाई में नहीं हारा था। एक विजेता के साथ–साथ वह विद्यानुरागी था। उसके दरबार में अनेक विद्वान रहते थे जिनमें – विद्यापति गौड़, वागीश्वर, जनार्दन, जयानक, विश्वरूप, आशाधर आदि प्रमुख थे। चन्दरबरदाई उसका राजकवि था जिसका ग्रंथ 'पृथ्वीराज रासो' हिन्दी साहित्य का प्रथम महाकाव्य माना जाता है।

रणथम्भौर का हम्मीर चौहान (1282–1301 ई.)

हम्मीर अपने पिता जैत्रसिंह का तीसरा पुत्र था। सभी पुत्रों में योग्य होने के कारण उसका राज्यारोहण उत्सव जैत्रसिंह ने अपने जीवनकाल में ही 1282 ई. में सम्पन्न करवा दिया था। शासन का भार संभालने के बाद 1288 ई. तक हम्मीर ने दिग्विजय की नीति का अवलम्बन कर अपने राज्य की सीमाओं का विस्तार किया। विजित राज्यों को उसने धन लेकर छोड़ दिया। दिग्विजय के बाद हम्मीर ने कोटि यज्ञों का आयोजन किया जिससे उसकी प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई। मेवाड़ के शासक समरसिंह को पराजित कर हम्मीर ने अपनी धाक सम्पूर्ण राजस्थान में जमा दी।

हम्मीर और जलालुद्दीन खिलजी– हम्मीर को अपनी शक्ति बढ़ाने का मौका इसलिए मिल गया कि इस दौरान दिल्ली में कमजोर सुल्तानों के कारण अव्यवस्था का दौर चल रहा था। 1290 ई. में दिल्ली का सुल्तान बनने के बाद जलालुद्दीन खिलजी ने हम्मीर की बढ़ती हुई शक्ति को समाप्त करने का निर्णय लिया। सुल्तान ने झाँई पर अधिकार कर रणथम्भौर को घेर लिया किन्तु सभी प्रयत्नों की असफलता के बाद शाही सेना को दिल्ली लौट जाना पड़ा। सुल्तान ने 1292 ई. में एक बार फिर रणथम्भौर विजय का प्रयास किया। हम्मीर के सफल प्रतिरोध के कारण इस बार भी उसे निराशा ही हाथ लगी। इस अभियान के समय जब मुगल सेना को अत्यधिक क्षति उठानी पड़ रही थी, तब जलालुद्दीन ने यह कहते हुए दुर्ग का घेरा हटा लिया कि "मैं ऐसे सैंकड़ों किलों को भी मुसलमान के एक बाल के बराबर महत्त्व नहीं देता।" जलालुद्दीन फिरोज खिलजी के इन अभियानों का आँखों देखा वर्णन अमीर खुसरो ने 'मिफ्ता–उल–फुतूह' नामक ग्रंथ में किया है।

हम्मीर और अलाउद्दीन खिलजी– 1296 ई. में अलाउद्दीन खिलजी अपने चाचा जलालुद्दीन खिलजी की हत्या कर दिल्ली का सुल्तान बन गया। कुछ वर्षों बाद ही अलाउद्दीन खिलजी ने रणथम्भौर पर आक्रमण करने प्रारम्भ कर दिये जिनके निम्नलिखित कारण थे –

1. रणथम्भौर सामरिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण था। अलाउद्दीन खिलजी इस अभेद दुर्ग पर अधिकार कर राजपूत नरेशों पर अपनी धाक जमाना चाहता था।
2. रणथम्भौर दिल्ली के काफी निकट था। इस कारण यहाँ के चौहानों की बढ़ती हुई शक्ति को अलाउद्दीन खिलजी किसी भी स्थिति में सहन नहीं कर सकता था।
3. अलाउद्दीन खिलजी से पहले उसके चाचा जलालुद्दीन खिलजी ने इस दुर्ग पर अधिकार करने के लिए दो बार प्रयास किए थे किन्तु वह असफल रहा। अलाउद्दीन खिलजी अपने चाचा की पराजय का बदला लेना चाहता था।
4. अलाउद्दीन खिलजी एक महत्त्वाकांक्षी और साम्राज्यवादी शासक था। रणथम्भौर पर आक्रमण इसी नीति का परिणाम था।

हम्मीर द्वारा अलाउद्दीन खिलजी के विद्रोहियों को *शरण देना –* नयनचन्द्र सूरी की रचना 'हम्मीर महाकाव्य' के अनुसार रणथम्भौर पर आक्रमण का कारण यहाँ के शासक हम्मीर द्वारा अलाउद्दीन खिलजी के विद्रोही सेनापति मीर मुहम्मद शाह को शरण देना था। मुस्लिम इतिहासकार इसामी ने भी अपने विवरण में इस कारण की पुष्टि की है। उसने लिखा है कि 1299 ई. में अलाउद्दीन खिलजी ने अपने दो सेनापतियों उलूग खां व नूसरत खां को गुजरात पर आक्रमण करने के लिए भेजा था। गुजरात विजय के बाद जब यह सेना वापिस लौट रही थी तो जालौर के पास लूट के माल के बंटवारे के प्रश्न पर 'नव–मुसलमानों' (जलालुद्दीन फिरोज खिलजी के समय भारत में बस चुके वे मंगोल, जिन्होंने इस्लाम स्वीकार कर लिया था) ने विद्रोह कर दिया। यद्यपि विद्रोहियों का बर्बरता के साथ दमन

कर दिया गया किन्तु उनमें से मुहम्मदशाह व उसका भाई कैहब्रु भाग कर रणथम्भौर के शासक हम्मीर के पास पहुँचने में सफल हो गए। हम्मीर ने न केवल उन्हें शरण दी अपितु मुहम्मदशाह को 'जगाना' की जागीर भी दी। चन्द्रशेखर की रचना 'हम्मीर हठ' के अनुसार अलाउद्दीन खिलजी की एक मराठा बेगम से मीर मुहम्मदशाह को प्रेम हो गया था और उन दोनों ने मिलकर अलाउद्दीन खिलजी को समाप्त करने का एक षड़यंत्र रचा। अलाउद्दीन खिलजी को समय रहते इस षड़यंत्र की जानकारी मिल जाने के कारण मीर मुहम्मदशाह को बंदी बनाने का प्रयास किया गया किन्तु वह भागकर हम्मीर की शरण में पहुँच गया। अलाउद्दीन खिलजी की तरफ से इन विद्रोहियों को सौंप देने की माँग की गई। इस माँग को जब हम्मीर द्वारा ठुकरा दिया गया तो अलाउद्दीन खिलजी की सेना ने रणथम्भौर पर आक्रमण कर दिया।

हम्मीर की प्रारम्भिक सफलताएँ– 1299 ई. के अंत में अलाउद्दीन खिलजी ने उलूग खां, अलप खां और नुसरत खां के नेतृत्व में एक सेना रणथम्भौर पर अधिकार करने के लिए भेजी। इस सेना ने 'रणथम्भौर की कुँजी' झाँई पर अधिकार कर लिया। इसामी के अनुसार विजय के बाद उलूग खां ने झाँई का नाम बदलकर 'नौ शहर' कर दिया। 'हम्मीर महाकाव्य' में लिखा है कि हम्मीर इस समय कोटियज्ञ समाप्त कर 'मुनिव्रत' में व्यस्त था। इस कारण स्वयं न जाकर अपने दो सेनापतियों – भीमसिंह व धर्मसिंह को सामना करने के लिए भेजा। इन दोनों सेनापतियों ने खिलजी सेना को पीछे की तरफ खदेड़ दिया तथा उनसे लूट का माल छिन लिया। राजपूत सेना ने शत्रु सेना पर भयंकर हमला किया जिसमें अलाउद्दीन खिलजी की सेना को पराजय का सामना करना पड़ा। शाही सेना से लूटी गई सामग्री लेकर धर्मसिंह के नेतृत्व में सेना का एक दल तो रणथम्भौर लौट गया किन्तु भीमसिंह पीछे रह गया। इस अवसर का लाभ उठाकर बिखरी हुई शाही सेना ने अलपखां के नेतृत्व में उस पर हमला कर दिया। इस संघर्ष में भीमसिंह अपने सैंकड़ों सैनिकों सहित मारा गया।

भीमसिंह की मृत्यु के लिए हम्मीर ने धर्मसिंह को उत्तरदायी मानते हुए उसे अंधा कर दिया और उसके स्थान पर भोजराज को नया मंत्री बनाया। भोजराज रणथम्भौर की बिगड़ी हुई स्थिति को संभाल नहीं पाया और शीघ्र ही अलोकप्रिय हो गया। ऐसी स्थिति में धर्मसिंह ने हम्मीर को राज्य की आय बढ़ाने का आश्वासन देकर अपने पुराने अधिकार पुनः प्राप्त कर लिये। धर्मसिंह अपने अपमान का बदला लेना चाहता था इसलिए उसने प्रजा पर कई कर लगा कर उन्हें बलात् वसूल करना प्रारम्भ कर दिया। इससे प्रजा में असंतोष बढ़ने लगा।

उधर भोजराज हम्मीर द्वारा अपनी सेवा से निकाले जाने पर नाराज होकर अलाउद्दीन खिलजी के दरबार में चला गया। उसने सुल्तान को रणथम्भौर पर आक्रमण के लिए उकसाना प्रारम्भ कर दिया। सुल्तान ने रणथम्भौर विजय के लिए सेना भेज दी किन्तु हिन्दुवाट की घाटी में हुई मुठभेड़ में चौहान सेना ने शाही सेना को बुरी तरफ पराजित किया।

इस अपमानजनक पराजय की जानकारी मिलने पर सुल्तान ने उलूगखां और नुसरतखां के नेतृत्व में एक बड़ी सेना भेजी। इस सेना ने झाँइ के दुर्ग पर अधिकार कर लिया। झाँई विजय के बाद उलूग खां ने मेहलनसी नामक दूत के साथ हम्मीर के पास अलाउद्दीन खिलजी का संदेश पुनः भिजवाया। इस संदेश में दोनों विद्रोहियों – मुहम्मदशाह व उसके भाई कैहब्रु को सौंपने के साथ हम्मीर की बेटी देवलदी का विवाह सुल्तान के साथ करने की माँग की गई थी। यद्यपि देवलदी ने राज्य की रक्षा के लिए इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लेने की सुझाव दिया किन्तु हम्मीर ने संघर्ष का रास्ता चुना।

उलूग खां ने रणथम्भौर दुर्ग पर घेरा डालकर उसके चारों तरफ पाशिब व गरगच बनवाये और मगरबों द्वारा दुर्ग रक्षकों पर पत्थरों की बौछार की। दुर्ग में भी भैरव यंत्र, ठिकुलिया व मर्कटी यंत्र नामक पत्थर बरसाने वाले यंत्र लगे थे जिनके द्वारा फैंका गया एक पत्थर संयोग से नुसरत खां को लगा। नुसरतखां इसमें घायल हुआ और कुछ दिनों बाद उसकी मृत्यु हो गई। इससे शाही सेना में निराशा की स्थिति पैदा हो गई। हम्मीर ने इस स्थिति का फायदा उठाने के लिए दुर्ग से बाहर निकलकर शाही सेना पर आक्रमण कर दिया। इस अप्रत्याशित आक्रमण से घबराकर उलूग खां को झाँई की तरफ पीछे हटना पड़ा।

अलाउद्दीन खिलजी का रणथम्भौर आना व रणथम्भौर पर अधिकार– उलूग खां की असफलता के बाद अलाउद्दीन खिलजी स्वयं रणथम्भौर पहुँचा। अमीर खुसरो ने अपनी रचना 'खजाईन–उल–फुतूह' में इस अभियान का आंखों देखा वर्णन करते हुए लिखा है कि सुल्तान ने इस आक्रमण में पाशेब, मगरबी व अर्रादा की सहायता ली। काफी प्रयासों के बाद भी जब अलाउद्दीन खिलजी दुर्ग को जीतने में असफल रहा तो उसने छल और कूटनीति का आश्रय लेते हुए हम्मीर के पास संधि का प्रस्ताव भेजा। हम्मीर द्वारा संधि के लिए अपने सेनापति रतिपाल को भेजा गया। अलाउद्दीन खिलजी ने रतिपाल व उसकी सहायता से हम्मीर के एक अन्य सेनापति रणमल को रणथम्भौर दुर्ग का प्रलोभन देकर अपनी ओर मिला लिया। चौहान रचनाओं में इस बात का उल्लेख किया गया है कि अलाउद्दीन ने हम्मीर के एक अधिकारी को अपनी तरफ मिलाकर दुर्ग में स्थित खाद्य सामग्री को दूषित करवा दिया। इससे दुर्ग में खाद्यान सामग्री का भयंकर संकट पैदा हो गया। अमीर खुसरो ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि ''सोने के दो दानों के बदले में चावल का एक दाना भी नसीब नहीं हो पा रहा था।'' खाद्यान के अभाव में हम्मीर को दुर्ग के बाहर निकलना पड़ा किन्तु रणमल और रतिपाल के विश्वासघात के कारण उसे पराजय का मुँह देखना पड़ा। युद्ध के दौरान हम्मीर लड़ता हुआ मारा गया और उसकी रानी रंगदेवी के नेतृत्व में राजपूत वीरांगनाओं द्वारा जौहर किया गया। यह रणथम्भौर का प्रथम साका कहा जाता है। जोधराज की रचना 'हम्मीर रासो' के अनुसार इस जौहर में मुहम्मदशाह की स्त्रियाँ भी रंगदेवी के साथ चिता में भस्म हो गई। कुछ स्थानों पर उल्लेख है कि रंगदेवी ने किले में स्थित 'पदमला तालाब' में जल जौहर किया था। इस प्रकार 11 जुलाई, 1301 ई. को अलाउद्दीन खिलजी ने रणथम्भौर पर अधिकार कर लिया।

युद्ध में मीर मुहम्मदशाह भी हम्मीर की तरफ से संघर्ष करते हुए घायल हुआ। घायल मुहम्मदशााह पर नजर पड़ने पर

अलाउद्दीन खिलजी ने उससे पूछा कि 'अगर तुझे ठीक करवा दिया जाए तो तुम क्या करोगे?' इस पर बड़ी बहादूरी के साथ मुहम्मदशाह ने जवाब दिया कि ''अगर मुझे ठीक करवाया गया तो मैं दो काम करूँगा – पहला तुम्हें मार दूँगा और दूसरा हम्मीर के किसी वंशज को रणथम्भौर के सिंहासन पर बैठा दूँगा।'' ऐसा जवाब सुनकर अलाउद्दीन खिलजी काफी क्रोधित हुआ और उसने हाथी के पैरों के नीचे कुचलवा कर मुहम्मदशाह की हत्या करवा दी।

मूल्यांकन – हम्मीर ने अपने जीवन में कुल 17 युद्ध लड़े जिनमें से 16 में वह विजयी रहा। बार–बार के प्रयासों के बाद भी जलालुद्दीन खिलजी का रणथम्भौर पर अधिकार नहीं कर पाना हम्मीर की शूरवीरता व सैनिक योग्यता का स्पष्ट प्रमाण है। वह वीर योद्धा ही नहीं अपितु एक उदार शासक भी था। विद्वानों के प्रति हम्मीर की बड़ी श्रद्धा थी। विजयादित्य उसका सम्मानित दरबारी कवि तथा राघवदेव उसका गुरु था। कोटियज्ञ के सम्पादन के द्वारा उसने अपनी धर्मनिष्ठा का परिचय दिया। हम्मीर अपने वचन व शरणागत की रक्षा के लिए इतिहास में प्रसिद्ध है। उसने अपनी शरण में आए अलाउद्दीन खिलजी के विद्रोहियों को न लौटाने का हठ कर लिया। इसी हठ के कारण हम्मीर ने अपना परिवार व राज्य खो दिया :–

सिंघ सवन, सत्पुरूष वचन, कदली फलै इक बार।
तिरिया तेल, हम्मीर हठ, चढ़ै न दूजी बार।।

(शेरनी जंगल का राजा बनने वाले एक ही शिशु को जन्म देती है, सत्पुरुष द्वारा दिया गया वचन भी बदला नहीं जा सकता, कैले का पौधा भी एक ही बार फलता है, स्त्री के सिर पर (लग्नार्थ) दूसरी बार तेल सिंचित नहीं किया जाता, उसी प्रकार हम्मीर द्वारा दिया हुआ वचन कभी नहीं बदलता।)

उसके इन गुणों की प्रशंसा के बावजूद उसकी भूलों को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। उसने अपने पड़ौसी राज्यों को छेड़कर और उनसे धन की वसूली कर अपने शत्रुओं की संख्या बढ़ा ली। अलाउद्दीन खिलजी के विरुद्ध संगठन के प्रयास न करना भी उसकी रणनीतिक भूल थी। अलाउद्दीन खिलजी के आक्रमण से पहले अपनी जनता पर करवृद्धि के कारण उसकी लोकप्रियता में कमी आई। इन कमियों के बावजूद हम्मीर को इतिहास में श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है। डॉ. दशरथ शर्मा ने लिखा है कि ''यदि उसमें कोई दोष भी थे तो वे उसके वीरोचित युद्ध, वंश प्रतिष्ठा की रक्षा तथा मंगोल शरणागतों की रक्षा के सामने नगण्य हो जाते हैं।'' नयनचन्द्र सूरी की रचना हम्मीर महाकाव्य, व्यास भाण्ड रचित हम्मीरायण, जोधराज रचित हम्मीर रासो, अमृत कैलाश रचित 'हम्मीर बन्धन' और चन्द्रशेखर द्वारा रचित 'हम्मीर हठ' नामक ग्रंथों की रचना इसी हम्मीर को नायक बनाकर की गई है।

रावल रत्नसिंह (1302–1303 ई.)

रावल समरसिंह (1273–1302 ई.) की मृत्यु के बाद 1302 ई. में मेवाड़ के सिंहासन पर उसका पुत्र रत्नसिंह बैठा। रत्नसिंह को केवल एक वर्ष ही शासन करने का अवसर मिला जो दिल्ली के सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी के चित्तौड़ पर आक्रमण के लिए प्रसिद्ध है। अलाउद्दीन खिलजी के चित्तौड़ पर आक्रमण के प्रमुख कारण इस प्रकार थे :–

1. अलाउद्दीन खिलजी की साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षा– अलाउद्दीन खिलजी एक महत्त्वाकांक्षी और साम्राज्यवादी शासक था। वह सिकन्दर के समान विश्व विजेता बनना चाहता था जिसका प्रमाण उसकी उपाधि 'सिकन्दर सानी' (द्वितीय सिकन्दर) थी। दक्षिण भारत की विजय और उत्तर भारत पर अपने अधिकार को स्थायी बनाये रखने के लिए राजपूत राज्यों को जीतना आवश्यक था। चित्तौड़ पर उसका आक्रमण इसी नीति का हिस्सा था।

2. मेवाड़ की बढ़ती हुई शक्ति– जैत्रसिंह, तेजसिंह और समरसिंह जैसे पराक्रमी शासकों के काल में मेवाड़ की सीमाओं में लगातार वृद्धि होती जा रही थी। इल्तुतमिश, नासिरुद्दीन महमूद और बलबन जैसे सुल्तानों ने मेवाड़ की इस बढ़ती शक्ति पर लगाम लगाने का प्रयास किया किन्तु वे सफल नहीं हुए। 1299 ई. में मेवाड़ के रावल समरसिंह ने गुजरात अभियान के लिए जाती हुई शाही सेना का सहयोग करना तो दूर, उल्टे उससे दण्ड वसूल करके ही आगे जाने दिया। अलाउद्दीन खिलजी उस घटना को भूल नहीं पाया था।

3. चित्तौड़ का भौगोलिक एवं सामरिक महत्त्व– दिल्ली से मालवा, गुजरात तथा दक्षिण भारत जाने वाला प्रमुख मार्ग चित्तौड़ के पास से ही गुजरता था। इस कारण अलाउद्दीन खिलजी के लिए मालवा, गुजरात और दक्षिण भारत पर राजनीतिक एवं व्यापारिक प्रभुत्व बनाए रखने के लिए चित्तौड़ पर अधिकार करना आवश्यक था। मौर्य राजा चित्रांगद द्वारा निर्मित चित्तौड़ का दुर्ग अभी तक किसी भी मुस्लिम आक्रमणकारी द्वारा जीता नहीं जा सका था। यह भी अलाउद्दीन खिलजी के लिए एक बहुत बड़ी चुनौती थी।

4. पद्मिनी को प्राप्त करने की लालसा– कुछ इतिहासकारों के अनुसार अलाउद्दीन खिलजी मेवाड़ के शासक रत्नसिंह की सुन्दर पत्नी पद्मिनी को प्राप्त करना चाहता था। उसने रत्नसिंह को संदेश भिजवाया कि वह सर्वनाश से बचना चाहता है तो अपनी पत्नी पद्मिनी को शाही हरम में भेज दे। रत्नसिंह द्वारा इस प्रस्ताव को अस्वीकार किए जाने पर अलाउद्दीन खिलजी ने चित्तौड़ पर आक्रमण कर दिया। शेरशाह सूरी के समय 1540 ई. के लगभग लिखी गई मलिक मुहम्मद जायसी की रचना 'पद्मावत' के अनुसार इस आक्रमण का कारण पद्मिनी को प्राप्त करना ही था।

अलाउद्दीन खिलजी का आक्रमण– 28 जनवरी 1303 ई. को दिल्ली से रवाना होकर अलाउद्दीन खिलजी ने चित्तौड़ को घेर लिया। रत्नसिंह ने शाही सेना को मुँह तोड़ जवाब दिया जिसके कारण दो माह की घेरेबंदी के बाद भी शाही सेना कोई सफलता अर्जित नहीं कर पाई। ऐसी स्थिति में सुल्तान को अपनी रणनीति में परिवर्तन करना पड़ा। उसने दुर्ग की दीवार के पास ऊँचे–ऊँचे चबूतरों का निर्माण करवाया और उन पर 'मंजनिक' तैनात करवाये। किले की दीवारों पर भारी पत्थरों के प्रहार शुरू हुए किन्तु दुर्भेध दीवारें टस से मस नहीं हुई। लम्बे घेरे के कारण दुर्ग में खाद्यान सामग्री नष्ट होने लग गई थी। चारों तरफ सर्वनाश के चिह्न दिखाई देने पर राजपूत सैनिक किले के द्वार खोल कर मुस्लिम सेना पर टूट पड़े। भीषण संघर्ष में रत्नसिंह वीरगति को प्राप्त हुआ और उधर पद्मिनी के नेतृत्व में चित्तौड़ का पहला जौहर

हुआ। इस प्रकार 26 अगस्त 1303 ई. को चित्तौड़ पर अलाउद्दीन खिलजी का अधिकार हो गया। अगले दिन सुल्तान ने अपने सैनिकों को आम जनता के कत्लेआम का आदेश दिया। इस अभियान के दौरान मौजूद अमीर खुसरो ने अपनी रचना 'खजाईन–उल–फुतूह' (तारीखे अलाई) में लिखा है कि एक ही दिन में लगभग 30,000 असहाय लोगों को मौत के घाट उतार दिया गया। अलाउद्दीन खिलजी ने चित्तौड़ का नाम बदलकर 'खिज्राबाद' कर दिया और अपने बेटे खिज्रखां को वहाँ का प्रशासन सौंप कर दिल्ली लौट आया। खिज्रखां ने गंभीरी नदी पर एक पुल का निर्माण करवाया। उसने चित्तौड़ की तलहटी में एक मकबरा भी बनवाया जिसमें लगे हुए एक फारसी लेख में अलाउद्दीन खिलजी को ईश्वर की छाया और संसार का रक्षक कहा गया है।

पद्मिनी की कहानी– ''सिंहल द्वीप (श्रीलंका) में गंधर्वसेन नामक राजा था। उसकी पटरानी चंपावती से पद्मिनी नामक एक अत्यन्त रूपवती कन्या उत्पन्न हुई। उसके पास हीरामन नाम का एक सुन्दर और चतुर तोता था। एक दिन वह पिंजरे से उड़ गया और एक बहेलिए द्वारा पकड़ा जाकर एक ब्राह्मण के हाथ बेचा गया। उस ब्राह्मण ने उसको चित्तौड़ के राजा रत्नसिंह को एक लाख रुपये में बेच दिया। रत्नसिंह की रानी नागमती ने एक दिन श्रृंगार कर तोते से पूछा – क्या मेरी जैसे सुंदरी जगत में कोई है? इस पर तोते ने उत्तर दिया कि जिस सरोवर में हंस नहीं आया, वहाँ बगुला ही हंस कहलाता है। रत्नसिंह तोते के मुख से पद्मिनी के रूप, गुण आदि की प्रशंसा सुनकर उस पर मुग्ध हो गया और योगी बनकर तोते सहित सिंहल को चला। अनेक संकट सहता हुआ वह सिंहल द्वीप पहुँचा। तोते ने पद्मिनी के सम्मुख रत्नसिंह के रूप, कुल, ऐश्वर्य, तेज आदि की प्रशंसा कर कहा कि तेरे योग्य वर तो यही है और वह तेरे प्रेम से मुग्ध होकर यहाँ आ पहुँचा है। वसंत पंचमी के दिन वह बन–ठनकर उस मंदिर में गई, जहाँ रत्नसिंह ठहरा हुआ था। वहाँ दोनों एक दूसरे को देखते ही परस्पर प्रेम–बद्ध हो गए। अंत में गंधर्वसेन ने उसके वंश आदि का हाल जानकर दोनों का विवाह कर दिया। विवाह के बाद रत्नसिंह पद्मिनी के साथ अपनी राजधानी चित्तौड़ लौट आया।

रत्नसिंह द्वारा मेवाड़ से निकाले गए राघव चेतन नामक तांत्रिक ने अपने अपमान का बदला लेने के लिए दिल्ली जाकर सुल्तान अलाउद्दीन के समक्ष पद्मिनी के रूप की तारीफ की और उसे चित्तौड़ पर आक्रमण करने के लिए प्रोत्साहित किया। इस पर अलाउद्दीन खिलजी चित्तौड़ पर चढ़ आया। आठ वर्ष तक घेरा डालने के बाद भी जब सुल्तान चित्तौड़ को नहीं जीत पाया तो उसने प्रस्ताव रखा कि यदि उसे पद्मिनी का प्रतिबिम्ब ही दिखा दिया जाये तो वह दिल्ली लौट जायेगा। राणा ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। दर्पण में पद्मिनी का प्रतिबिम्ब देखकर जब अलाउद्दीन वापिस लौट रहा था, उस समय उसने रत्नसिंह को कैद कर लिया और रिहाई के बदले पद्मिनी की मांग की। सारा वृत्तांत ज्ञात होने पर पद्मिनी ने राणा को छुड़ाने की योजना बनाई और अलाउद्दीन के पास अपनी 1600 सहेलियों के साथ आने का प्रस्ताव भेजा। प्रस्ताव स्वीकार होने पर पद्मिनी सहेलियों के स्थान पर पालकियों में राजपूत यौद्धाओं को बैठाकर रवाना हो गई। दिल्ली के पास पहुँचकर शाही हरम में शामिल होने से पहले उसने अंतिम बार अपने पति से मिलने की इच्छा प्रकट की जिसे सुल्तान द्वारा स्वीकृति दे दी गई। जब दोनों पति–पत्नी मिल रहे थे उसी समय राजपूत योद्धा सुल्तान की सेना पर टूट पड़े और उन्हें सुरक्षित चित्तौड़ निकाल दिया। अलाउद्दीन को छल का पता लगा तो उसने ससैन्य राजपूतों का पीछा किया। रत्नसिंह अपने सेनानायकों गोरा व बादल के साथ लड़ता हुआ मारा गया और पद्मिनी ने जौहर किया।''

पद्मिनी की कहानी का ऐतिहासिक उल्लेख मलिक मुहम्मद जायसी की रचना 'पद्मावत' में किया गया है। इसके बाद अबुल फजल (अकबरनामा), फरिश्ता (गुलशन–ए–इब्राहिमी), हाजी उद्दवीर (जफरूलवली), कर्नल टॉड (एनल्स एण्ड एन्टिक्वीटिज ऑफ राजस्थान), फ्रांसीसी यात्री मनूची (स्टीरियो डी मेगोर) तथा मुहणौत नैणसी (नैणसी री ख्यात) ने भी इस कहानी का कुछ हेर–फेर के साथ उल्लेख किया है। बूंदी के प्रसिद्ध कवि सूर्यमल्ल मिश्रण व कुछ आधुनिक इतिहासकारों ने पद्मिनी की कहानी की ऐतिहासिकता को स्वीकार नहीं किया है।

महाराणा कुम्भा (1433–1468 ई.)

महाराणा कुम्भा 1433 ई. में मेवाड़ की राजगद्दी पर बैठा। उसके पिता का नाम महाराणा मोकल तथा माता का नाम सौभाग्य देवी था। शासक बनने के बाद उसने अपने यशस्वी पराक्रम द्वारा न केवल आंतरिक और बाह्य कठिनाइयों का सफलतापूर्वक सामना किया अपितु अपनी युद्धकालीन और सांस्कृतिक उपलब्धियों द्वारा मेवाड़ के गौरव को पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया।

कुम्भा की प्रारम्भिक कठिनाइयाँ– शासक बनने के समय कुम्भा के सामने अनेक आन्तरिक और बाह्य समस्याएँ थी। मेवाड़ के महाराणा क्षेत्रसिंह (1364–82 ई.) की उपपत्नी की संतान चाचा और मेरा उसके पिता मोकल की हत्या कर मेवाड़ पर अधिकार करने के लिए प्रयासरत थे। इस कारण मेवाड़ी सरदार दो भागों में विभाजित हो चुके थे – एक गुट कुम्भा समर्थक तथा दूसरा गुट उसके विरोधियों चाचा, मेरा व महपा पंवार का समर्थक। इस अव्यवस्था का लाभ उठाकर अनेक राजपूत सामन्त अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने के प्रयास करने लगे थे। कुम्भा द्वारा रणमल व राघवदेव के नेतृत्व में भेजी गई सेना ने शीघ्र ही विद्रोहियों का दमन कर दिया। चाचा और मेरा अपने अनेक समर्थकों के साथ मारे गए किन्तु चाचा का पुत्र एक्का व महपा पंवार भागकर मालवा के सुल्तान महमूद खिलजी की शरण में पहुँचने में सफल हो गए।

मेवाड़–मालवा सम्बन्ध – मेवाड़ और मालवा दोनों एक–दूसरे के पड़ौसी राज्य थे और यहाँ के शासक अपने–अपने राज्यों की सीमाओं का विस्तार करना चाहते थे। इस कारण दोनों राज्यों के बीच संघर्ष होना आवश्यक था किन्तु दोनों के बीच संघर्ष का तात्कालीक कारण मालवा के सुल्तान द्वारा कुम्भा के विद्रोही सरदारों को अपने यहाँ शरण देना बना। मोकल के हत्यारे महपा पंवार ने मालवा के सुल्तान महमूद खिलजी के पास शरण ले रखी थी। कुम्भा ने सुल्तान को पत्र लिखकर महपा की मांग की, जिसे सुल्तान द्वारा अस्वीकार कर दिया गया। इसलिए कुम्भा ने मालवा पर आक्रमण करने का फैसला किया। 1437 ई. में सारंगपुर नामक स्थान पर दोनों की सेनाओं के बीच घनघोर संघर्ष हुआ

जिसमें पराजित होकर महमूद भाग गया। कुम्भा ने महमूद का पीछा करते हुए मालवा को घेर लिया और उसे कैद कर चित्तौड़ ले आया। 6 माह तक सुल्तान को अपने यहाँ कैद रखने के बाद कुम्भा ने उसे बिना शर्त रिहा कर दिया।

महमूद खिलजी ने अपनी पहली पराजय का बदला लेने के लिए 1443 ई. में कुम्भलगढ़ पर आक्रमण कर दिया। कुम्भा ने किले के दरवाजे के नीचे बाण माता के मंदिर के पास दीपसिंह के नेतृत्व में एक मजबूत सेना नियुक्त कर रखी थी। सात दिन तक चले भयंकर संघर्ष में दीपसिंह व उसके साथियों की मृत्यु के बाद ही मंदिर पर शत्रु सेना अधिकार कर पाई। इस मोर्चे को तोड़ने में महमूद की सेना को इतनी हानि उठानी पड़ी कि मंदिर को नष्ट–भ्रष्ट कर उसकी टूटी हुई मूर्तियाँ कसाईयों को माँस तौलने के लिए दे दी गई। नन्दी की मूर्ति का चूना पकाकर राजपूतों को पान में खिलाया गया। महमूद की इस सेना ने चित्तौड़ पर अधिकार करने का प्रयास भी किया किन्तु उसे सफलता नहीं मिली। 1446 ई. में महमूद ने एक बार फिर मांडलगढ़ व चित्तौड़ पर अधिकार करने का प्रयास किया किन्तु सफलता उसे इस बार भी न मिल सकी। 1456 ई. में महमूद ने मांडलगढ़ पर अधिकार करने का अंतिम असफल प्रयास किया।

मेवाड़–गुजरात सम्बन्ध– कुम्भा के समय गुजरात की अव्यवस्था समाप्त हो चुकी थी और वहां के शासक अपने प्रभाव क्षेत्र के विस्तार के लिए लालायित थे। मालवा–मेवाड़ के बीच चलने वाले संघर्ष तथा सिरोही व गुजरात की राजनीतिक स्थिति ने मेवाड़–गुजरात के बीच के संघर्ष को आवश्यक बना दिया। 1456 ई. में फिरोज खां की मृत्यु के बाद उसका पुत्र शम्सखां नागौर का नया स्वामी बना किन्तु फिरोज के छोटे भाई मुजाहिदखां ने शम्सखां को पराजित कर नागौर पर अपना अधिकार कर लिया। शम्सखां ने महाराणा कुम्भा की सहायता से नागौर पर पुनः अधिकार कर लिया किन्तु शीघ्र ही उसने कुम्भा की शर्त के विपरीत नागौर के किले की मरम्मत करवानी प्रारम्भ कर दी। नाराज कुम्भा ने नागौर पर आक्रमण कर अपना अधिकार कर लिया।

शम्सखां ने गुजरात के सुल्तान कुतुबुद्दीन के साथ अपनी लड़की का विवाह कर उससे सहायता की मांग की। इस पर कुतुबुद्दीन मेवाड़ पर आक्रमण के लिए रवाना हुआ। सिरोही के देवड़ा शासक की प्रार्थना पर उसने अपने सेनापति मलिक शहबान को आबू विजय के लिए भेजा और स्वयं कुम्भलगढ़ की तरफ चला। इतिहासकार फरिश्ता के अनुसार राणा से धन मिलने के बाद सुल्तान गुजरात लौट आया। इसी समय कुतुबुद्दीन के सामने महमूद खिलजी के प्रतिनिधि ताजखां ने मेवाड़ पर गुजरात–मालवा के संयुक्त आक्रमण की योजना रखी जिसके अनुसार मेवाड़ के दक्षिणी भाग पर गुजरात और मेवाड़ के खास भाग व अहीरवाड़ा पर मालवा का अधिकार होना था। 1456 ई. में चम्पानेर नामक स्थान पर हुई इस आशय की संधि के बाद कुतुबुद्दीन आबू पर अधिकार कर चित्तौड़ की तरफ बढ़ा, वहीं महमूद खिलजी ने मालवा की तरफ से मेवाड़ पर आक्रमण किया। फरिश्ता के अनुसार कुम्भा ने धन देकर आक्रमणकारियों को विदा किया जबकि कीर्ति स्तम्भ प्रशस्ति और रसिकप्रिया के अनुसार कुम्भा ने दोनों सुल्तानों को पराजित कर दिया। मुगल शासकों पर विजय के कारण कुम्भा 'हिन्दू सुरत्राण' (हिन्दू बादशाह) के रूप में प्रसिद्ध हुआ।

महाराणा कुम्भा की सांस्कृतिक उपलब्धियाँ– कुम्भा एक वीर योद्धा ही नहीं अपितु कलाप्रेमी और विद्यानुरागी शासक भी था। इस कारण उसे 'युद्ध में स्थिर बुद्धि' कहा गया है। एकलिंग माहात्म्य के अनुसार वह वेद, स्मृति, मीमांसा, उपनिषद, व्याकरण, राजनीति और साहित्य में बड़ा निपुण था। महान् संगीतज्ञाता होने के कारण उसे 'अभिनव भरताचार्य' तथा 'वीणावादन प्रवीणेन' कहा जाता है। कीर्तिस्तम्भ प्रशस्ति के अनुसार वह वीणा बजाने में निपुण था। संगीतराज, संगीत मीमांसा, संगीत क्रम दीपिका व सूड प्रबन्ध उसके द्वारा लिखे प्रमुख ग्रंथ हैं। 'संगीतराज' के पाँच भाग – पाठरत्नकोश, गीतरत्नकोश, वाद्यरत्नकोश, नृत्यरत्नकोश और रसरत्नकोश हैं। उसने चण्डीशतक की व्याख्या, जयदेव के संगीत ग्रंथ गीतगोविन्द और शारंगदेव के संगीतरत्नाकर की टीकाएं भी लिखी। कुम्भा ने महाराष्ट्री (मराठी), कर्णाटी (कन्नड़) तथा मेवाड़ी भाषा में चार नाटकों की रचना की। उसने कीर्तिस्तम्भों के विषय पर एक ग्रंथ रचा और उसको शिलाओं पर खुदवाकर विजय स्तम्भ पर लगवाया जिसके अनुसार उसने जय और अपराजित के मतों को देखकर इस ग्रंथ की रचना की थी। उसका 'कामराज रतिसार' नामक ग्रंथ सात अंगों में विभक्त है।

कुम्भा को 'राणौ रासो' (विद्वानों का संरक्षक) कहा गया है। उसके दरबार में एकलिंग महात्म्य का लेखक कान्ह व्यास तथा प्रसिद्ध वास्तुशास्त्री मण्डन रहते थे। मण्डन ने देवमूर्ति प्रकरण (रूपावतार),प्रासादमण्डन, राजवल्लभ (भूपतिवल्लभ), रूपमण्डन, वास्तुमण्डन, वास्तुशास्त्र और वास्तुकार नामक वास्तु ग्रंथ लिखे। मण्डन के भाई नाथा ने वास्तुमंजरी और पुत्र गोविन्द ने उद्धारधोरिणी, कलानिधि एवं द्वारदीपिका नामक ग्रंथों की रचना की। 'कलानिधि' देवालयों के शिखर विधान पर केन्द्रित है जिसे शिखर रचना व शिखर के अंग–उपांगों के सम्बन्ध में कदाचित एकमात्र स्वतन्त्र ग्रंथ कहा जा सकता है। आयुर्वेदज्ञ के रूप में गोविन्द की रचना 'सार समुच्चय' में विभिन्न व्याधियों के निदान व उपचार की विधियाँ दी गई हैं। कुम्भा की पुत्री रमाबाई को 'वागीश्वरी' कहा गया है, वह भी अपने संगीत प्रेम के कारण प्रसिद्ध रही है।

कवि मेहा महाराणा कुम्भा के समय का एक प्रतिष्ठित रचनाकार था। उसकी रचनाओं में 'तीर्थमाला' प्रसिद्ध है जिसमें 120 तीर्थों का वर्णन है। मेहा कुम्भा के समय के दो सबसे महत्त्वपूर्ण निर्माण कार्यों कुम्भलगढ़ और रणकपुर जैन मंदिर के समय उपस्थित था। उसने बताया है कि हनुमान की जो मूर्तियां सोजत और नागौर से लाई गई थी, उन्हें कुम्भलगढ़ और रणकपुर में स्थापित किया गया। रणकपुर जैन मंदिर के प्रतिष्ठा समारोह में भी मेहा स्वयं उपस्थित हुआ था। हीरानन्द मुनि को कुम्भा अपना गुरु मानते थे और उन्हें 'कविराज' की उपाधि दी।

कविराज श्यामलदास की रचना 'वीर विनोद' के अनुसार मेवाड़ के कुल 84 दुर्गों में से अकेले महाराणा कुम्भा ने 32 दुर्गों का निर्माण करवाया। अपने राज्य की पश्चिमी सीमा व

तंग रास्तों को सुरक्षित रखने के लिए नाकाबंदी की और सिरोही के निकट बसन्ती का दुर्ग बनवाया। मेरों के प्रभाव को रोकने के लिए मचान के दुर्ग का निर्माण करवाया। केन्द्रीय शक्ति को पश्चिमी क्षेत्र में अधिक शक्तिशाली बनाने व सीमान्त भागों को सैनिक सहायता पहुँचाने के लिए 1452 ई. में परमारों के प्राचीन दुर्ग के अवशेषों पर अचलगढ़ का पुनर्निर्माण करवाया। कुम्भा द्वारा निर्मित कुम्भलगढ़ दुर्ग का परकोटा 36 किमी. लम्बा है जो चीन की दीवार के बाद विश्व की सबसे लम्बी दिवार मानी जाती है। रणकपुर (पाली) का प्रसिद्ध जैन मंदिर महाराणा कुम्भा के समय में ही धारणक शाह द्वारा बनवाया गया था।

कुम्भा को अपने अंतिम दिनों में उन्माद का रोग हो गया था और वह अपना अधिकांश समय कुम्भलगढ़ दुर्ग में ही बीताता था। यहीं पर उसके सत्तालोलुप पुत्र उदा ने 1468 ई. में उसकी हत्या कर दी।

चित्तौडगढ़ दुर्ग

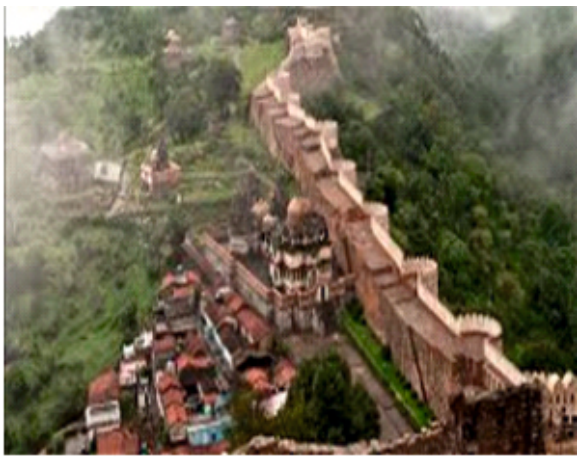

कुम्भलगढ़दुर्ग

कुम्भलगढ़ शिलालेख में उसे 'धर्म और पवित्रता का अवतार' तथा दानी राजा भोज व कर्ण से बढ़कर बताया गया है। वह निष्ठावान वैष्णव था और यशस्वी गुप्त सम्राटों के समान स्वयं को 'परमभागवत्' कहा करता था। उसने आदिवाराह की उपाधि भी अंगीकार की थी –'वसुंधरोद्धरणादिवराहेण'(विष्णु के प्राथमिक अवतार वाराह के समान वैदिक व्यवस्था का पुनर्संस्थापक)।

विजय स्तम्भ – चित्तौड़ दुर्ग के भीतर स्थित नौ मंजिले और 122 फीट ऊँचे विजय स्तम्भ का निर्माण महाराणा कुम्भा ने मालवा के सुल्तान महमूद खिलजी पर विजय की स्मृति में करवाया। इसका निर्माण प्रधान शिल्पी जैता व उसके तीन पुत्रों – नापा, पोमा और पूंजा की देखरेख में हुआ। अनेक हिन्दू देवी–देवताओं की कलात्मक प्रतिमायें उत्कीर्ण होने के कारण विजय स्तम्भ को 'पौराणिक हिन्दू मूर्तिकला का अनमोल खजाना' (भारतीय मूर्तिकला का विश्वकोष) कहा जाता है। डॉ. गोपीनाथ शर्मा ने इसे 'हिन्दू देवी–देवताओं से सजाया हुआ एक व्यवस्थित संग्रहालय' तथा गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने 'पौराणिक देवताओं के अमूल्य कोष' की संज्ञा दी है। मुख्य द्वार पर भगवान विष्णु की प्रतिमा होने के कारण विजय स्तम्भ को 'विष्णु ध्वज' भी कहा जाता है। महाराणा स्वरूपसिंह (1842–61 ई.) के काल में इसका पुनर्निर्माण करवाया गया। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान विजय स्तम्भ ने क्रांतिकारियों के लिए प्रेरणा स्रोत का कार्य किया। प्रसिद्ध क्रांतिकारी संगठन 'अभिनव भारत समिति' के संविधान के अनुसार प्रत्येक नए सदस्य को मुक्ति संग्राम से जुड़ने के लिए विजय स्तम्भ के नीचे शपथ लेनी पड़ती थी।

महाराणा कुम्भा

विजय स्तम्भ

मुगल आक्रमण

भारत में मुगल साम्राज्य की स्थापना 1526 ई. में बाबर द्वारा की गई। उसका जन्म 1483 ई. में फरगना नामक स्थान पर हुआ था। पिता उमर शेख मिर्जा की ओर से वह तैमूर का पाँचवाँ वंशज तथा माता कुतलुगनिगार खानम की ओर से चंगेजखा का चौदहवाँ वंशज था। इस प्रकार उसकी रगों में मध्य एशिया के दो महान् विजेताओं का रक्त दौड़ रहा था। (चंगेजखाँ हान वंश का मंगोल था। मंगोलों ने इस्लाम को अपना लिया और मंगाोल मुगल कहलाए।) 1494 ई. में अपने पिता की असामयिक मृत्यु के बाद बाबर मात्र 11 वर्ष की आयु में फरगाना के पैतृक राज्य का उत्तराधिकारी बना किन्तु परिस्थितियोंवश उसका शासन वहाँ स्थायी नहीं रह पाया। अंततः स्थायी शासन के लिए उसने भारत

पर अधिकार करने का निर्णय लिया। उसके आक्रमण के समय भारत का सबसे शक्तिशाली शासक मेवाड़ का महाराणा सांगा था, जो इतिहास में महाराणा संग्रामसिंह प्रथम के नाम से प्रसिद्ध है।

महाराणा सांगा (1509–1528 ई.)

सांगा अपने पिता महाराणा रायमल की मृत्यु के बाद 1509 ई. में 27 वर्ष की आयु में मेवाड़ का शासक बना। मेवाड़ के महाराणाओं में वह सबसे अधिक प्रतापी योद्धा था।

उत्तराधिकार के लिए संघर्ष – रायमल के जीवनकाल में ही सत्ता के लिए पुत्रों के बीच आपसी संघर्ष प्रारम्भ हो गया। कहा जाता है कि एक बार कुंवर पृथ्वीराज, जयमल और संग्रामसिंह ने अपनी–अपनी जन्मपत्रियाँ एक ज्योतिषी को दिखलाई। उन्हें देखकर उसने कहा कि ग्रह तो पृथ्वीराज और जयमल के भी अच्छे हैं परन्तु राजयोग संग्रामसिंह के पक्ष में होने के कारण मेवाड़ का स्वामी वही होगा। यह सुनते ही दोनों भाई संग्रामसिंह पर टूट पड़े। पृथ्वीराज ने हूल मारी जिससे संग्रामसिंह की एक

महाराणा सांगा

महाराणा उदयसिंह

आंख फूट गई। इस समय तो सारंगदेव (महाराणा रायमल के चाचा) ने बीच–बचाव कर किसी तरह उन्हें शांत किया, किन्तु दिनों–दिन कुंवरों में विरोध का भाव बढ़ता ही गया। सारंगदेव ने उन्हें समझाया कि ज्योतिषी के कथन पर विश्वास कर तुम्हें आपस में संघर्ष नहीं करना चाहिये।

इस समय सांगा अपने भाइयों के डर से श्रीनगर (अजमेर) के कर्मचन्द पंवार के पास अज्ञातवास बिता रहा था। रायमल ने उसे बुलाकर अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया।

गुजरात के सुल्तान के साथ संघर्ष – सांगा के समय गुजरात और मेवाड़ के बीच संघर्ष का तात्कालीक कारण ईडर का प्रश्न था। ईडर के राव भाण के दो पुत्र सूर्यमल और भीम थे। राव भाण की मृत्यु के बाद सूर्यमल गद्दी पर बैठा किन्तु उसकी भी 18 माह बाद ही मृत्यु हो गई। अब सूर्यमल के स्थान पर उसका बेटा रायमल ईडर की गद्दी पर बैठा। रायमल के अल्पायु होने का लाभ उठाकर उसके चाचा भीम ने गद्दी पर अपना अधिकार कर लिया। रायमल ने मेवाड़ में शरण ली, जहाँ महाराणा सांगा ने अपनी पुत्री की सगाई उसके साथ कर दी। 1515 ई. में रायमल ने महाराणा सांगा की सहायता से भीम के पुत्र भारमल को हटाकर ईडर पर पुनः अधिकार कर लिया।

भारमल को हटाकर रायमल को ईडर का शासक बनाए जाने से गुजरात का सुल्तान मुजफ्फर बहुत अप्रसन्न हुआ क्योंकि भीम ने उसी की आज्ञानुसार ईडर पर अधिकार किया था। नाराज सुल्तान मुजफ्फर ने अहमदनगर के जागीरदार निजामुल्मुल्क को आदेश दिया कि वह रायमल को हटाकर भारमल को पुनः ईडर की गद्दी पर बैठा दे। निजामुल्मुल्क द्वारा ईडर पर घेरा डालने पर रायमल पहाड़ों में चला गया और पीछा करने पर निजामुल्मुल्क को पराजित किया। ईडर के आगे रायमल का अनावश्यक पीछा किए जाने से नाराज सुल्तान ने निजामुल्मुल्क को वापिस बुला लिया। इसके बाद सुल्तान द्वारा मुवारिजुल्मुल्क को ईडर का हाकिम नियुक्त किया गया। एक भाट के सामने एक दिन मुवारिजुल्मुल्क ने सांगा की तुलना एक कुत्ते से कर दी। यह जानकारी मिलने पर सांगा वागड़ के राजा उदयसिंह के साथ ईडर जा पहुँचा। पर्याप्त सैनिक न होने के कारण मुवारिजुल्मुल्क ईडर छोड़कर अहमदनगर भाग गया। सांगा ने ईडर की गद्दी पर रायमल को बैठा दिया और अहमदनगर, बड़गनर, वीसलनगर आदि स्थानों को लूटता हुआ चित्तौड़ लौट आया।

सांगा के आक्रमण से हुई बर्बादी का बदला लेने के लिए सुल्तान मुजफ्फर ने 1520 ई. में मलिक अयाज तथा किवामुल्मुल्क की अध्यक्षता में दो अलग–अलग सेनाएं मेवाड़ पर आक्रमण के लिए भेजी। मालवा का सुल्तान महमूद भी इस सेना के साथ आ मिला किन्तु मुस्लिम अफसरों में अनबन के कारण मलिक अयाज आगे नहीं बढ़ सका और संधि कर उसे वापिस लौटना पड़ा।

दिल्ली सल्तनत के साथ संघर्ष – सांगा ने सिकन्दर लोदी के समय ही दिल्ली के अधीनस्थ इलाकों पर अधिकार करना शुरू कर दिया था किन्तु अपने राज्य की निर्बलता के कारण वह महाराणा के साथ संघर्ष के लिए तैयार नहीं हो सका। सिकन्दर लोदी के उत्तराधिकारी इब्राहीम लोदी ने 1517 ई. में मेवाड़ पर आक्रमण कर दिया। खातोली (कोटा) नामक स्थान पर दोनों पक्षों के बीच युद्ध हुआ जिसमें सांगा की विजयी हुई। सुल्तान युद्ध के मैदान से भाग निकलने में सफल रहा किन्तु उसके एक शाहजादे को कैद कर लिया गया। इस युद्ध में तलवार से सांगा का बायां हाथ कट गया और घुटने पर तीर लगने से वह हमेशा के लिए लंगड़ा हो गया। खातोली की पराजय का बदला लेने के लिए 1518 ई. में इब्राहीम लोदी ने मियां माखन की अध्यक्षता में सांगा के विरुद्ध एक बड़ी सेना भेजी किन्तु सांगा ने बाड़ी (धौलपुर) नामक स्थान पर लड़े युद्ध गए में एक बार फिर शाही सेना को पराजित किया।

मलवा के साथ सम्बन्ध – मेदिनीराय नामक एक हिन्दू सामंत ने मालवा के अपदस्थ सुल्तान महमूद खिलजी द्वितीय को पुनः शासक बनाने में सफलता प्राप्त की थी। इस कारण सुल्तान महमूद ने उसे अपना प्रधानमंत्री नियुक्त कर दिया। सुल्तान के मुस्लिम अमीरों को मेदिनीराय की बढ़ती हुई शक्ति से काफी ईर्ष्या हुई और उन्होंने सुल्तान को उसके विरुद्ध बरगलाने में सफलता प्राप्त कर ली। मेदिनीराय महाराणा सांगा की शरण में मेवाड़ आ गया, जहाँ उसे गागरोण व चंदेरी की जागीरें दे दी गई। 1519 ई. में सुल्तान महमूद मेदिनीराय पर आक्रमण के लिए

रवाना हुआ। इस बात की खबर लगते ही सांगा भी एक बड़ी सेना के साथ गागरोण पहुँच गया। यहाँ हुई लड़ाई में सुल्तान की बुरी तरह पराजय हुई। सुल्तान का पुत्र आसफखां इस युद्ध में मारा गया तथा वह स्वयं घायल हुआ। सांगा सुल्तान को अपने साथ चित्तौड़ ले गया, जहाँ उसे तीन माह कैद रखा गया।

एक दिन महाराणा सांगा सुल्तान को एक गुलदस्ता देने लगा। इस पर उसने कहा कि किसी चीज के देने के दो तरीके होते हैं। एक तो अपना हाथ ऊँचा कर अपने से छोटे को देवें या अपना हाथ नीचा कर बड़े को नजर करें। मैं तो आपका कैदी हूँ इसलिए यहाँ नजर का तो कोई सवाल ही नहीं और भिखारी की तरह केवल इस गुलदस्ते के लिए हाथ पसारना मुझे शोभा नहीं देता। यह उत्तर सुनकर महाराणा बहुत प्रसन्न हुआ और गुलदस्ते के साथ सुल्तान को मालवा का आधा राज्य सौंप दिया। सुल्तान ने अधीनता के चिह्नस्वरूप रत्नजटित मुकुट तथा सोने की कमरपेटी महाराणा को सौंप दिये। आगे के अच्छे व्यवहार के लिए महाराणा ने सुल्तान के एक शाहजादे को जमानत के तौर पर चित्तौड़ रख लिया। महाराणा के इस उदार व्यवहार की मुस्लिम इतिहासकारों ने काफी प्रशंसा की है किन्तु राज्य के लिए यह नीति हानिकारक रही।

बाबर और सांगा– पानीपत के प्रथम युद्ध (1526 ई.) में इब्राहीम लोदी को पराजित कर बाबर ने भारत में मुगल साम्राज्य की नींव डाली। शीघ्र ही बाबर और सांगा के बीच संघर्ष प्रारम्भ हो गया जिसके निम्नलिखित कारण थे :–

1. सांगा पर वचनभंग का आरोप– तुर्की भाषा में लिखी अपनी आत्मकथा 'तुजुक–ए–बाबरी' में बाबर ने लिखा है कि 'सांगा ने काबुल में मेरे पास दूत भेजकर दिल्ली पर आक्रमण करने के लिए कहा, उसी समय सांगा ने स्वयं आगरा पर हमला करने का वायदा किया था किन्तु सांगा अपने वचन पर नहीं रहा। मैंने दिल्ली और आगरा पर अधिकार जमा लिया तो भी सांगा की तरफ से हिलने का कोई चिह्न दृष्टिगत नहीं हुआ।' सांगा पूर्व में इब्राहीम लोदी को अकेला ही दो बार पराजित कर चुका था, ऐसे में उसके विरुद्ध काबुल से बाबर को भारत आमन्त्रित करने का आरोप तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता।

2. महत्त्वकांक्षाओं का टकराव– बाबर की इब्राहीम लोदी पर विजय के बाद सम्पूर्ण भारत पर अपना आधिपत्य स्थापित करना चाहता था। 'हिन्दूपत' (हिन्दू प्रमुख) सांगा को पराजित किए बिना ऐसा संभव नहीं था। दोनों का उत्तरी भारत में एक साथ बने रहना ठीक वैसा ही था जैसे एक म्यान में दो तलवारें।

3. राजपूत–अफगान मैत्री– यद्यपि पानीपत के प्रथम युद्ध में अफगान पराजित हो गए थे किन्तु वे बाबर को भारत से बाहर निकालने के लिए प्रयासरत थे। इस कार्य के लिए सांगा को उपयुक्त पात्र समझकर अफगानों के नेता हसनखां मेवाती और मृतक सुल्तान इब्राहीम लोदी का भाई महमूद लोदी उसकी शरण में पहुँच गए। राजपूत–अफगान मोर्चा बाबर के लिए भय का कारण बन गया। अतः उसने सांगा की शक्ति को नष्ट करने का फैसला कर लिया।

4. सांगा द्वारा सल्तनत के क्षेत्रों पर अधिकार करना– पानीपत के युद्ध में इब्राहीम लोदी की पराजय से उत्पन्न अव्यवस्था का लाभ उठाते हुए सांगा ने खण्डार दुर्ग (रणथम्भौर के पास) व उसके निकटवर्ती 200 गांवों को अधिकृत कर लिया जिससे वहाँ के मुस्लिम परिवारों को पलायन करना पड़ा।

दोनों शासकों ने भावी संघर्ष को देखते हुए अपनी–अपनी स्थिति सुदृढ़ करनी प्रारम्भ कर दी। मुगल सेनाओं ने बयाना, धौलपुर और ग्वालियर पर अधिकार कर लिया जिससे बाबर की शक्ति में वृद्धि हुई। इधर सांगा के निमन्त्रण पर अफगान नेता हसनखां मेवाती और महमूद लोदी, मारवाड़ का मालदेव, आमेर का पृथ्वीराज, ईडर का राजा भारमल, वीरमदेव मेड़तिया, वागड़ का रावल उदयसिंह, सलूम्बर का रावत रत्नसिंह, चंदेरी का मेदिनीराय, सादड़ी का झाला अज्जा, देवलिया का रावत बाघसिंह और बीकानेर का कुंवर कल्याणमल ससैन्य आ डटे।

फरवरी 1527 ई. में सांगा रणथम्भौर से बयाना पहुँच गया, जहाँ इस समय बाबर की तरफ से मेंहदी ख्वाजा दुर्ग रक्षक के रूप में तैनात था। सांगा ने दुर्ग को घेर लिया जिससे दुर्ग में स्थित मुगल सेना की स्थिति काफी खराब हो गई। बाबर ने बयाना की रक्षा के लिए मोहम्मद सुल्तान मिर्जा की अध्यक्षता में एक सेना भेजी किन्तु राजपूतों ने उसे खदेड़ दिया। अंततः बयाना पर सांगा का अधिकार हो गया। बयाना विजय बाबर के विरुद्ध सांगा की एक महत्त्वपूर्ण विजय थी।

इधर बाबर युद्ध की तैयारियों में जुटा था किन्तु महाराणा की तीव्रगति, बयाना की लड़ाई और वहाँ से लौटे हुए शाहमंसूर किस्मती आदि से राजपूतों की वीरता की प्रशंसा सुनकर चिंतित हो गया। इसी समय एक मुस्लिम ज्योतिषी मुहम्मद शरीफ ने भविष्यवाणी की कि 'मंगल का तारा पश्चिम में है, इसलिए पूर्व से लड़ने वाले पराजित होंगे।' बाबर की सेना की स्थिति पूर्व में ही थी। चारों तरफ निराशा का वातावरण देख बाबर ने अपने सैनिकों को उत्साहित करने के लिए कभी शराब न पीने की प्रतिज्ञा की और शराब पीने की कीमती सुराहियां व प्याले तुड़वाकर गरीबों में बांट दिये। सैनिकों के मजहबी भावों को उत्तेजित करने के लिए उसने कहा ''सरदारों और सिपाहियों! प्रत्येक मनुष्य, जो संसार में आता है, अवश्य मरता है। जब हम चले जायेंगे तब एक खुदा ही बाकी रहेगा। जो कोई जीवन का भोग करने बैठेगा, उसको अवश्य मरना भी होगा। जो इस संसाररूपी सराय में आता है, उसे एक दिन यहाँ से विदा भी होना पड़ता है। इसलिए बदनाम होकर जीने की अपेक्षा प्रतिष्ठा के साथ मरना अच्छा है। मैं भी यही चाहता हूँ कि कीर्ति के साथ मृत्यु हो तो अच्छा होगा, शरीर तो नाशवान् है। खुदा ने हम पर बड़ी कृपा की है कि इस लड़ाई में हम मरेंगे तो शहीद होंगे और जीतेंगे तो गाजी कहलायेंगे। इसलिए सबको कुरान हाथ में लेकर कसम खानी चाहिए कि प्राण रहते कोई भी युद्ध में पीठ दिखाने का विचार न करे।'' इसके साथ ही बाबर ने रायसेन के सरदार सलहदी तंवर के माध्यम से सुलह की बात भी चलाई। महाराणा ने इस प्रस्ताव पर अपने सरदारों से बात की किन्तु सरदारों को सलहदी की मध्यस्थता पसंद नहीं आई। इसलिए उन्होंने अपनी सेना की प्रबलता और बाबर की निर्बलता प्रकट कर संधि की बात बनने न दी। संधि वार्ता का लाभ उठाते हुए बाबर तेजी से अपनी तैयारी करता रहा और खानवा के मैदान में आ डटा।

कविराज श्यामलदास कृत 'वीर विनोद' के अनुसार 16 मार्च 1527 ई. को सुबह खानवा (भरतपुर) के मैदान में युद्ध प्रारम्भ हुआ। पहली मुठभेड़ में बाजी राजपूतों के हाथ लगी किन्तु अचानक सांगा के सिर में एक तीर लगने के कारण उसे युद्ध भूमि से हटाना पड़ा। युद्ध संचालन के लिए अब सरदारों ने सलूम्बर के रावत रत्नसिंह चूण्डावत से सैन्य संचालन के लिए प्रार्थना की। रत्नसिंह ने यह कहते हुए उक्त प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया कि मेरे पूर्वज मेवाड़ का राज्य छोड़ चुके हैं इसलिए मैं एक क्षण के लिए भी राज्य चिह्न धारण नहीं कर सकता परन्तु जो कोई राज्यछत्र धारण करेगा, उसकी पूर्ण रूप से सहायता करूंगा और प्राण रहने तक शत्रु से लडूंगा। इसके बाद झाला अज्जा को हाथी पर बिठा कर युद्ध जारी रखा गया। राजपूतों ने अंतिम दम तक लड़ने का निश्चय किया किन्तु बाबर की सेना के सामने उनकी एक न चली और उन्हें पराजय का सामना करना पड़ा। विजय के बाद बाबर ने गाजी की पदवी धारण की और विजय–चिह्न के रूप में राजपूत सैनिकों के सिरों की एक मीनार बनवाई।

सांगा की पराजय के कारण

1. इतिहासकार गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के अनुसार सांगा की पराजय का मुख्य कारण बयाना विजय के तुरन्त बाद ही युद्ध न करके बाबर को तैयारी करने का पूरा समय देना था। लम्बे समय तक युद्ध को स्थगित रखना महाराणा की बहुत बड़ी भूल सिद्ध हुई। महाराणा के विभिन्न सरदार देशप्रेम के भाव से इस युद्ध में शामिल नहीं हो रहे थे। सभी के अलग–अलग स्वार्थ थे, यहाँ तक कि कईयों में तो परस्पर शत्रुता भी थी। संधि वार्ताओं के कारण कई दिन शांत बैठे रहने से उनमें युद्ध के प्रति वह जोश व उत्साह नहीं रहा जो युद्ध के लिए रवाना होते समय था।

2. राजपूत सैनिक परम्परागत हथियारों से युद्ध लड़ रहे थे। वे तीर–कमान, भालों व तलवारों से बाबर की तोपों के गोलों का मुकाबला नहीं कर सकते थे।

3. हाथी पर सवार होकर भी सांगा ने बड़ी भूल की क्योंकि इससे शत्रु को उस पर ठीक निशाना लगाकर घायल करने का मौका मिला। उसके युद्ध भूमि से बाहर जाने से सेना का मनोबल कमजोर हुआ।

4. राजपूत सेना में एकता और तालमेल का अभाव था क्योंकि सम्पूर्ण सेना अलग–अलग सरदारों के नेतृत्व में एकत्रित हुई थी।

5. अपनी गतिशीलता के कारण राजपूतों की हस्ति सेना पर बाबर की अश्व सेना भारी पड़ी। बाबर की तोपों के गोलों से भयभीत हाथियों ने पीछे लौटते समय अपनी ही सेना को रौंद कर नुकसान पहुँचाया।

खानवा युद्ध के परिणाम

1. भारत में राजपूतों की सर्वोच्चता का अंत हो गया। राजपूतों का वह प्रताप–सूर्य जो भारत के गगन के उच्च स्थान पर पहुँच कर लोगों में चकाचौंध उत्पन्न कर रहा था, अब अस्तांचल की ओर खिसकने लगा।

2. मेवाड़ की प्रतिष्ठा और शक्ति के कारण निर्मित राजपूत संगठन इस पराजय के साथ ही समाप्त हो गया।

3. भारतवर्ष में मुगल साम्राज्य स्थापित हो गया और बाबर स्थिर रूप से भारत का बादशाह बन गया।

अंतिम दिन– खानवा के युद्ध के बाद मूर्छित सांगा को बसवा ले जाया गया। होश आने पर सारा वृतांत जानकर सांगा काफी दुःखी हुआ और युद्ध स्थल से इतनी दूर लाने के लिए अपने सरदारों को भला–बुरा कहा। बाबर से अपनी पराजय का बदला लेने के लिए जब सांगा चंदेरी जा रहा था तब मार्ग में इरिच नामक स्थान पर उसके युद्ध विरोधी सरदारों ने जहर दे दिया। विष का प्रभाव होने पर कालपी नामक स्थान पर 30 जनवरी 1528 ई. को मात्र 46 वर्ष की आयु में सांगा का देहान्त हो गया। अमरकाव्य वंशावली के अनुसार सांगा का अंतिम संस्कार माण्डलगढ़ में किया गया।

मूल्यांकन– महाराणा सांगा वीर, उदार, कृतज्ञ, बुद्धिमान और न्यायपरायण शासक था। अपने शत्रु को कैद करके छोड़ देना और राज्य वापिस लौटा देने का कार्य सांगा जैसा वीर पुरुष ही कर सकता था। प्रारम्भ से ही विपत्तियों में पलने के कारण वह एक साहसी वीर योद्धा बन गया था। अपने भाई पृथ्वीराज के साथ झगड़े में उसकी एक आंख फूट गई, इब्राहीम लोदी के साथ हुए खातोली के युद्ध में उसका हाथ कट गया और एक पैर से वह लंगड़ा हो गया। मृत्यु समय तक उसके शरीर पर तलवारों व भालों के कम से कम 80 निशान लगे हुए थे जो उसे 'एक सैनिक का भग्नावशेष' सिद्ध कर रहे थे। शायद ही उसके शरीर का कोई अंश ऐसा हो जिस पर युद्धों में लगे हुए घावों के चिह्न न हो। अपने पुरुषार्थ द्वारा सांगा ने मेवाड़ को उन्नति के शिखर पर पहुँचा दिया। अपने समय का वह सबसे बड़ा हिन्दू नरेश था जिसके आगे बड़े–बड़े शासक सिर झुकाते थे। जोधपुर और आमेर के राज्य भी उसका सम्मान करते थे। ग्वालियर, अजमेर, सीकरी, रायसेन, कालपी, चन्देरी, बूंदी, गागरोन, रामपुरा और आबू के राजा उसके सामंत थे। वह भारत का अंतिम नरेश था जिसके नेतृत्व में राजपूत नरेश विदेशियों को भारत से निकालने के लिए इकट्ठे हुए थे। बाबर ने उसकी प्रशंसा में लिखा है कि ''राणा सांगा अपनी बहादुरी और तलवार के बल पर बहुत बड़ा हो गया था। मालवा, दिल्ली और गुजरात का कोई अकेला सुल्तान उसे हराने में असमर्थ था। उसके राज्य की वार्षिक आय दस करोड़ थी। उसकी सेना में एक लाख सैनिक थे। उसके साथ 7 राजा, 9 राव और 104 छोटे सरदार रहा करते थे।'' आपसी वैमनस्य के लिए प्रसिद्ध राजपूत शासकों को एक झण्डे के नीचे लाना सांगा की सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी।

सांगा धर्म और राजनीति के बड़े मर्मज्ञ थे। अंगहीन होने पर एक बार उन्होंने अपने सरदारों के सम्मुख प्रस्ताव रखा कि 'जिस प्रकार एक टूटी हुई मूर्ति पूजने योग्य नहीं रहती, उसी प्रकार मेरी आंख, भुजा और पैर अयोग्य होने के कारण मैं सिंहासन पर बैठने का अधिकारी नहीं हूँ। इस स्थान पर जिसे उचित समझें, बैठावें। राणा के इस विनीत व्यवहार से सरदार बहुत प्रसन्न हुए और बोले कि रणक्षेत्र में अंग–भंग होने से राजा का गौरव घटता नहीं अपितु बढ़ता है।' महमूद खिलजी को गिरफ्तार करने की खुशी में सांगा ने चारण हरिदास को चित्तौड़ का सम्पूर्ण राज्य दे दिया था, किन्तु हरिदास ने सम्पूर्ण राज्य न

लेकर 12 गांवों में ही अपनी खुशी प्रकट की।

एक बड़ा राज्य स्थिर करने वाला होने के बावजूद भी सांगा को राजनीति में अधिक निपुण नहीं कहा जा सकता। अपने शत्रु को पकड़कर छोड़ देना उदारता की दृष्टि भले ही उत्तम कार्य हो परन्तु राजनीति के विचार से बुरा ही था। इसी तरह गुजरात के सुल्तान को हराकर उसके इलाकों पर अधिकार न करना भी उसकी भूल थी। अपने छोटे लड़कों को रणथम्भौर जैसी बड़ी जागीर देकर उसने भविष्य के लिए कांटा बो दिया। राणा की विशेष प्रीतिपात्रा होने के कारण हाड़ी रानी कर्मावती ने अपने दोनों पुत्रों विक्रमादित्य और उदयसिंह के लिए रणथम्भौर की जागीर लेकर अपने भाई सूरजमल हाड़ा को उनका संरक्षक नियुक्त करवा लिया था।

राव चन्द्रसेन (1562–1581 ई.)

राव चन्द्रसेन जोधपुर के प्रसिद्ध शासक राव मालदेव (1532–62 ई.) के कनिष्ठ पुत्र थे। राव मालदेव के समय दिल्ली के शासक शेरशाह सूरी ने मारवाड़ पर आक्रमण किया था। दोनों पक्षों के बीच 1544 ई. में लड़े गए गिरी–सुमेल (पाली) युद्ध में छल–कपट के सहारे शेरशाह जीत हासिल करने में सफल रहा किन्तु राव मालदेव के पराक्रमी सेनापतियों जैता और कूंपा ने युद्ध के दौरान उसे ऐसी कड़ी टक्कर दी कि इतिहासकार फरिश्ता के अनुसार शेरशाह अपने घोड़े से नीचे उतर कर सफलता के लिए अल्लाह से दुआ मांगने लगा। शेरशाह के भय का पता उसकी इस स्वीकारोक्ति से चलता है, जिसमें उसने युद्ध के बाद कहा था कि 'मैं एक मुट्ठी भर बाजरे के लिए हिन्दूस्तान की बादशाहत खो बैठता।'

जोधपुर राज्य की ख्यात के अनुसार चन्द्रसेन का जन्म 1541 ई. में हुआ। राव मालदेव अपने ज्येष्ठ पुत्र राम से अप्रसन्न था, जबकि उससे छोटे पुत्र उदयसिंह को पटरानी स्वरूपदे (चन्द्रसेन की माँ) ने राज्याधिकार से वंचित करवा दिया। इस कारण मालदेव की मृत्यु के बाद उसकी इच्छानुसार 31 दिसम्बर 1562 ई. को चन्द्रसेन जोधपुर की गद्दी पर बैठा। मालदेव के काल में उसे बीसलपुर और सिवाना की जागीर मिली हुई थी।

आन्तरिक विद्रोह का दमन– शासक बनने के कुछ ही समय बाद चन्द्रसेन ने आवेश में आकर अपने एक चाकर की हत्या कर दी। इससे जैतमाल और उससे मेल रखने वाले कुछ अन्य सरदार अप्रसन्न हो गए। नाराज सरदारों ने चन्द्रसेन को दण्डित करने के लिए उसके विरोधी भाइयों राम, उदयसिंह और रायमल के साथ गठबंधन कर उन्हें आक्रमण के लिए आमन्त्रित किया। राम ने सोजत और रायमल ने दूनाड़ा प्रान्त में उपद्रव शुरू कर दिया तथा उदयसिंह ने गांगाणी और बावड़ी पर अधिकार कर लिया। सूचना मिलते ही चन्द्रसेन ने इन उपद्रवों को शांत करने के लिए अपनी सेना भेजी जिससे राम और रायमल तो अपनी–अपनी जागीरों में लौट गए किन्तु उदयसिंह ने लोहावट नामक स्थान पर संघर्ष किया। इस युद्ध में उदयसिंह घायल हुआ और चन्द्रसेन विजयी रहा। 1563 ई. में राव चन्द्रसेन और उदयसिंह की सेनाओं के बीच नाडोल नामक स्थान पर पुनः संघर्ष हुआ किन्तु विजय की आशा न देखकर उदयसिंह बादशाह अकबर के पास चला गया।

जोधपुर पर मुगलों का अधिकार– राव चन्द्रसेन के नाराज भइयों राम, उदयसिंह व रायमल के साथ आपसी कलह के कारण अकबर को हस्तक्षेप करने का मौका मिल गया। उसने शीघ्र ही हुसैनकुली खां की अध्यक्षता में एक सेना भेजी जिसने जोधपुर पर अधिकार कर लिया। जोधपुर की ख्यात में मुगल अभियान का अतिरंजित वर्णन करते हुए कहा गया है कि शाही सेना ने जोधपुर पर तीन बार हमला किया और लगभग दस माह के घेरे के बाद चन्द्रसेन को अन्न–जल की कमी के कारण गढ़ का परित्याग कर भाद्राजूण जाना पड़ा। जोधपुर हाथ से निकलने के बाद चन्द्रसेन की आर्थिक स्थिति बिगड़ने लगी और वह अपने रत्न आदि बेचकर खर्च चलाने लगा।

पं. विश्वेश्वरनाथ रेऊ ने अकबर द्वारा जोधपुर पर आक्रमण का प्रमुख कारण जोधपुर के राव मालदेव द्वारा उसके पिता हुमायूं के प्रति किए गए असहयोग को माना है।

नगौर दरबार– 1570 ई. में अपनी अजमेर यात्रा के समय अकबर मारवाड़ क्षेत्र में दुष्काल की खबरें सुनकर नागौर पहुंचा। इस अवसर पर उसने अपने सैनिकों से दुष्काल निवारणार्थ एक तालाब खुदवाया, जो 'शुक्र तालाब' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। वास्तव में इस दरबार का उद्देश्य मारवाड़ की राजनीतिक स्थिति का अध्ययन करना था।

चन्द्रसेन के खिलाफ मुगल अभियान– नागौर दरबार के कुछ समय बाद मुगल सेना ने भाद्राजूण पर आक्रमण कर दिया। फरवरी 1571 ई. में चन्द्रसेन भाद्राजूण का परित्याग कर सिवाणा की तरफ चला गया। 1572 ई. में एक तरफ जहाँ गुजरात में विद्रोह फैला हुआ था, वहीं दूसरी तरफ महाराणा प्रताप के शासक बनने से मेवाड़ के भी आक्रामक होने का खतरा पैदा हो गया। ऐसी स्थिति में अकबर ने बीकानेर के रायसिंह को जोधपुर का शासक बनाकर गुजरात की तरफ भेजा ताकि महाराणा प्रताप गुजरात के मार्ग को रोककर हानि न पहुँचा सके।

1573 ई. में अकबर ने चन्द्रसेन को अपने अधीन बनाने के लिए शाहकुली खाँ के साथ जगतसिंह, केशवदास मेड़तिया, बीकानेर के रायसिंह आदि को भेजा। यह सेना सोजत में चन्द्रसेन के भतीजे कल्ला को पराजित करते हुए सिवाना पहुँची। अपने सेनानायकों के परामर्श के अनुसार चन्द्रसेन किले की रक्षा का भार पत्ता राठौड़ को सौंपकर पहाड़ों में चला गया और वहीं से किले को घेरने वाली मुगल सेना के पार्श्वों पर छापामार पद्धति से आक्रमण कर उसे क्षति पहुँचाने लगा। पत्ता राठौड़ और चन्द्रसेन के सम्मिलित सफल प्रतिरोध के कारण रायसिंह ने अकबर से अतिरिक्त सैन्य सहायता की मांग की। अकबर की तरफ से एक बड़ी सेना भेजे जाने पर चन्द्रसेन पहाड़ों में चला गया। यद्यपि मुगल सेना ने उसका पीछा किया किन्तु चन्द्रसेन को पकड़ने में वह असफल रही। इस असफलता से निराश अकबर ने अपने अमीरों को कड़ी फटकार लगाई।

चन्द्रसेन को अपने अधीन बनाने के लिए अकबर ने 1575 ई. में जलाल खाँ के नेतृत्व में सिवाना की तरफ एक बड़ी सेना भेजी जिसमें सैयद अहमद, सैयद हाशिम, शिमाल खाँ आदि अमीर भी शामिल थे। लम्बे संघर्ष के दौरान एक दिन अवसर

पाकर चन्द्रसेन ने अपने सहयोगी देवीदास के साथ मुगल सेना पर आक्रमण कर दिया। इस आक्रमण में जलाल खाँ मारा गया। इस घटना से शाही सेना की प्रतिष्ठा को गहरा धक्का पहुँचा। अब अकबर ने शाहबाज खां को भेजा। उसने शीघ्र ही देवकोर और दूनाड़ा पर अधिकार कर सिवाना को घेर लिया। खाद्य सामग्री समाप्त होने के कारण सिवाना दुर्ग के रक्षक को किला छोड़ना पड़ा। इस प्रकार 1575 ई. में सिवाना के दुर्ग पर अकबर का अधिकार हो गया।

'संकटकालीन राजधानी' सिवाणा हाथ से निकलने के बाद अक्टूबर 1575 ई. में जैसलमेर के रावल हरराय ने पोकरण पर आक्रमण कर दिया। इस समय पोकरण में राव चन्द्रसेन की तरफ से किलेदार आनन्दराम पंचोली था। चार माह के घेरे के बाद रावल हरराय ने चन्द्रसेन के सामने प्रस्ताव रखा कि 'एक लाख फदिये के बदले मुझे पोकरण दे दो, जोधपुर पर अधिकार होने के बाद एक लाख फदिये लौटाकर पोकरण मुझसे वापिस ले लेना।' संकटापन्न आर्थिक दशा के कारण चन्द्रसेन ने यह प्रस्ताव स्वीकार कर जनवरी 1576 ई. में पोकरण भाटियों को दे दिया।

पोकरण के रूप में अंतिम आश्रयस्थल भी हाथ से निकल जाने के उपरान्त भी चन्द्रसेन हताश नहीं हुआ। लगभग डेढ़–दो वर्ष तक सिरोही, डूंगरपुर और बांसवाड़ा में घूमते रहने के बाद 1579 ई. में चन्द्रसेन ने सरवाड़ के मुगल थाने को लूटकर अपने अधिकार में ले लिया। इसके बाद उसने अजमेर प्रांत पर भी धावे मारने शुरू कर दिये। यह समाचार मिलने पर बादशाह अकबर ने पायंदा मोहम्मद खाँ के नेतृत्व में सेना भेजी। चन्द्रसेन ने 1580 ई. में इस सेना का सामना किया किन्तु उसे असफल होकर पुनः पहाड़ों में लौटना पड़ा। कुछ दिनों बाद चन्द्रसेन ने सेना को पुनः संगठित किया और 7 जुलाई 1580 ई. को सोजत पर हमला कर दिया। सोजत पर अधिकार कर उसने सारण के पर्वतों में अपना निवास कायम किया। यहीं 11 जनवरी 1581 ई. को उसकी मृत्यु हो गई। जोधपुर राज्य की ख्यात के अनुसार चन्द्रसेन के एक सामंत वैरसल ने विश्वासघात कर भोजन में जहर दे दिया, जिससे उसकी मृत्यु हो गई।

राव चन्द्रसेन अकबरकालीन राजस्थान का प्रथम स्वतन्त्र प्रकृति का शासक था। उसके भाई शाही सत्ता का सुख भोगते रहे, वहीं उसे अपने रत्न–आभूषण बेचकर गुजारा चलाना पड़ा। चन्द्रसेन ने जोधपुर राज्य को छोड़कर रात–दिन पहाड़ों में घूमना और मुगल सेना से लड़ते रहना अंगीकार कर लिया किन्तु अधीनता स्वीकार नहीं की। संघर्ष की जो शुरूआत चन्द्रसेन ने की थी उसी राह पर आगे चलकर महाराणा प्रताप ने बड़ा नाम कमाया। इस कारण चन्द्रसेन को 'प्रताप का अग्रगामी' तथा 'मारवाड़ का प्रताप' भी कहा जाता है।

इतिहास में समुचित महत्व न मिलने के कारण चन्द्रसेन को 'मारवाड़ का भूला बिसरा नायक' कहा जाता है। चन्द्रसेन का नाम इतिहास में विस्मृत होने का प्रमुख कारण यही है कि एक तरफ प्रताप की मृत्यु के बाद जहाँ मेवाड़ का राज्य उनके पुत्र–पौत्रादि के हाथों में रहा, वहीं चन्द्रसेन की मृत्यु के बाद मारवाड़ की गद्दी पर उसके भाई उदयसिंह का अधिकार हो गया। चन्द्रसेन और उदयसिंह के बीच विरोध चलता आया था।

चन्द्रसेन और प्रताप– राव चन्द्रसेन और महाराणा प्रताप दोनों मुगल बादशाह अकबर के साथ आजीवन संघर्ष के लिए प्रसिद्ध हैं। उनके बारे में कहा गया कि –

अणदगिया तुरी ऊजला असमर, चाकर रहण न डिगियो चीत।
सारे हिन्दुस्तान तणै सिर पातल नै चन्द्रसेण प्रवीत।।

(उस समय सारे हिन्दुस्तान में महाराणा प्रताप और राव चन्द्रसेन, यही दो वीर ऐसे थे, जिन्होंने न तो अकबर की अधीनता स्वीकार की और न अपने घोड़ों पर शाही दाग लगने दिया तथा जिनके शस्त्र हमेशा ही मुगल–सम्राट के विरुद्ध चमकते रहे।)

चन्द्रसेन व प्रताप दोनों को अपने भाई–बन्धुओं के विरोध का सामना करना पड़ा। प्रताप की भांति चन्द्रसेन के अधिकार में मारवाड़ के कई भाग नहीं थे। मेवाड़ के माण्डलगढ़ और चित्तौड़ पर तो मारवाड़ के मेड़ता, नागौर, अजमेर आदि स्थानों पर मुगलों का अधिकार था। समानता के साथ दोनों शासकों की गतिविधियों में मूलभूत अन्तर भी पाया जाता है। दोनों शासकों ने अपने–अपने पहाड़ी क्षेत्रों में रहकर मुगलों को खूब छकाया किन्तु प्रताप के समान चन्द्रसेन चावंड जैसी कोई स्थायी राजधानी नहीं बसा पाया। विशेष अवसर पर चन्द्रसेन की उपस्थिति व मुगल सेना को विकेन्द्रित करने से प्रताप को सहयोग मिला।

महाराणा प्रताप (1572–1597 ई.)

अकबर द्वारा चित्तौड़ आक्रमण और जयमल–पत्ता का प्रतिरोध– मेवाड़ के महाराणा उदयसिंह के समय 23 अक्टूबर 1567 को अकबर ने चित्तौड़ दुर्ग पर आक्रमण कर दिया। उदयसिंह के सेनापति जयमल और पत्ता ने लम्बे समय तक दुर्ग की रक्षा के लिए सफल प्रतिरोध किया किन्तु चार माह के लम्बे घेरे के बाद मुगल सेना बारूद की सहायता से दुर्ग की दीवार तोड़ने में सफल रही। प्रत्यक्ष संघर्ष में अकबर की बन्दूक से घायल होने के बावजूद जयमल ने अपने कुटुम्बी कल्ला के कंधों पर बैठकर शत्रु से लोहा लिया। जयमल और पत्ता की मृत्यु के बाद ही अकबर 25 फरवरी 1568 को चित्तौड़ पर अधिकार कर पाया।

इस सम्बन्ध में एक कहावत भी प्रचलित है–

भूख न मेटे मेड़तो, न मेटे नागोर।
रजवट भूख अनोखड़ी, मर्‌याँ मिटे चित्तौड़।।

अकबर इन दोनों योद्धाओं की वीरता से इतना मुग्ध हुआ कि आगरा के किले के प्रवेश द्वार पर उनकी गजारूढ़ प्रतिमायें स्थापित करवाई जिनको देखने का उल्लेख फ्रांसीसी यात्री बर्नियर ने अपने यात्रा वृत्तांत 'ट्रेवल्स इन द मुगल एम्पायर' में किया है। धर्मांध औरंगजेब के समय इन मूर्तियों को कालान्तर में हटवा दिया गया।

प्रारम्भिक जीवन व राज्यारोहण– महाराणा प्रताप का जन्म विक्रम संवत् 1597, ज्येष्ठ शुक्ला तृतीया (9 मई, 1540 ई.) को कुम्भलगढ़ दुर्ग में हुआ। वे मेवाड़ के महाराणा उदयसिंह के जयेष्ठ पुत्र थे तथा उनकी माँ का नाम जैवन्ता बाई (जीवंत कंवर या जयवंती बाई) था। किन्तु उदयसिंह की एक अन्य रानी धीरकंवर थी। धीरकंवर अपने पुत्र जगमाल को मेवाड़ की गद्दी पर बैठाने के लिए उदयसिंह को राजी करने में सफल रही। उदयसिंह की मृत्यु के बाद जगमाल ने स्वयं को मेवाड़ का

महाराणा घोषित कर दिया किन्तु सामन्तों ने प्रताप का समर्थन करते हुए उसे मेवाड़ के सिंहासन पर बैठा दिया। इस प्रकार होली के त्यौंहार के दिन 28 फरवरी, 1572 ई. को गोगूंदा में महाराणा प्रताप का राजतिलक हुआ।

महाराणा प्रताप के राज्यारोहण के समय मेवाड़ की स्थितियाँ काफी खराब थी। मुगलों के साथ चलने वाले दीर्घकालीन युद्धों के कारण मेवाड़ की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था अस्त–व्यस्त हो चुकी थी। चित्तौड़ सहित मेवाड़ के अधिकांश भागों पर मुगलों का अधिकार हो चुका था और अकबर मेवाड़ के बचे हुए क्षेत्र पर भी अपना अधिकार करना चाहता था। इस समय के चित्तौड़ के विध्वंस और उसकी दीन दशा को देखकर कवियों ने उसे 'आभूषण रहित विधवा स्त्री' की उपमा तक दे दी थी।

शासक बनने पर प्रताप ने आमेर, बीकानेर व जैसलमेर जैसी रियासतों की तरह अकबर की अधीनता स्वीकार न कर मातृभुमि की स्वधीनता को महत्व दिया और अपने वंश की प्रतिष्ठा के अनुकूल संघर्ष का मार्ग चुना। मेवाड़ पर मुगलों के आक्रमणों से प्रताप के अन्य सांमतों के साहस में कमी आने लगी। ऐसी स्थिति में प्रताप ने सब सांमतों को एकत्रित कर उनके सामने रघुकुल की मर्यादा की रक्षा करने और मेवाड़ को पूर्ण स्वतंत्र करने का विश्वास दिलाया और प्रतिज्ञा की कि जब तक मेवाड़ को स्वतंत्र नहीं करा लूंगा तब तक राज महलों में नहीं रहुंगा, पलंग पर नहीं सोऊंगा और पंच धातु (सोना, चांदी, तांबा और पीतल, काँसा) के बर्तनों में भोजन नहीं करूँगा। आत्मविश्वास के साथ मेवाड़ के स्वामीभक्त सरदारों तथा भीलों की सहायता से शक्तिशाली सेना का संगठन किया और मुगलों से अधिक दूर रहकर युद्ध का प्रबन्ध करने के लिए अपनी राजधानी गोगुन्दा से कुंभलगढ़ स्थानान्तरित की।

अकबर को प्रताप द्वारा मेवाड़ राज्य में उसकी सत्ता के विरुद्ध किए जा रहे प्रयत्नों की जानकारी मिलने लगी। अतः अकबर ने पहल करते हुए प्रताप के राज्यारोहण के वर्ष से ही उसे अधीनता स्वीकार करवाने के लिए एक के बाद एक चार दूत भेजे। महाराणा प्रताप के सिंहासन पर बैठने के छः माह बाद सितम्बर 1572 ई. में अकबर ने अपने अत्यन्त चतुर व वाक्पटु दरबारी जलाल खां कोरची के साथ संधि प्रस्ताव भेजा। अगले वर्ष अकबर ने प्रताप को अपने अधीन में करने के लिए क्रमशः तीन अन्य दरबारी – मानसिंह, भगवंतदास और टोडरमल भेजे किन्तु प्रताप किसी भी कीमत पर अकबर की अधीनता स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हुआ।

हल्दीघाटी का युद्ध– मेवाड़ पर आक्रमण की योजना को कार्यरूप में परिणत करने के लिए मार्च 1576 ई. में अकबर स्वयं अजमेर जा पहुँचा।वहीं पर मानसिंह को मेवाड़ के विरूद्ध भेजी जाने वाली सेना का सेनानायक घोषित किया। 3 अप्रेल 1576 ई. को मानसिंह सेना लेकर मेवाड़ विजय के लिए चल पड़ा। दो माह माण्डलगढ़ में रहने के बाद अपने सैन्य बल में वृद्धि कर मानसिंह खमनौर गांव के पास आ पहुँचा। इस समय मानसिंह के साथ गाजीखां बदख्शी, ख्वाजा गयासुदीन अली, आसिफ खां, सैयद अहमद खां, सैयद हाशिम खां, जगन्नाथ कछवाह, सैयद राजू, मिहत्तर खां, भगवंतदास का भाई माधोसिंह, मुजाहिद बेग आदि सरदार उपस्थित थे। मुगल इतिहास में यह पहला अवसर था जब किसी हिन्दू को इतनी बड़ी सेना का सेनापति बना कर भेजा गया था। मानसिंह को मुगल सेना का प्रधान सेनापति बनाये जाने से मुस्लिम दरबारियों में नाराजगी फैल गई। बदायूंनी ने अपने संरक्षक नकीब खां से भी इस युद्ध में चलने के लिए कहा तो उसने उत्तर दिया कि ''यदि इस सेना का सेनापति एक हिन्दू न होता, तो मैं पहला व्यक्ति होता जो इस युद्ध में शामिल होता।''

ग्वालियर के राजा रामशाह और पुराने अनुभवी यौद्धाओं ने राय दी कि मुगल सेना के अधिकांश सैनिकों को पर्वतीय भाग में लड़ने का अनुभव नहीं है। अतः उनको पहाड़ी भाग में घेर कर नष्ट कर देना चाहिए। किन्तु युवा वर्ग ने इस राय को चुनौती देते हुए इस बात पर जोर दिया कि मेवाड़ के बहादुरों को पहाड़ी भाग से बाहर निकल कर शत्रु सेना को खुले मैदान में पराजित करना चाहिए। अंत में मानसिंह ने बनास नदी के किनारे मोलेला में अपना शिविर स्थापित किया तथा प्रताप ने मानसिंह से छः मील दूर लोसिंग गांव में पड़ाव डाला।

मुगल सेना में हरावल (सेना का सबसे आगे वाला भाग) का नेतृत्व सैयद हाशिम कर रहा था। उसके साथ मुहम्मद बादख्शी रफी, राजा जगन्नाथ और आसफ खां थे। प्रताप की सेना के दो भाग थे, प्रताप की सेना के हरावल में हकीम खां सूरी, अपने पुत्रों सहित ग्वालियर का रामशाह, पुरोहित गोपीनाथ, शंकरदास, चारण जैसा, पुरोहित जगन्नाथ, सलूम्बर का चूड़ावत कृष्णदास, सरदारगढ़ का भीमसिंह, देवगढ़ का रावत सांगा, जयमल मेड़तिया का पुत्र रामदास आदि शामिल थे। दूसरे भाग का नेतृत्व सेना के केन्द्र में रह कर स्वयं महाराणा कर रहे थे, जिनके साथ भामाशाह व उनका भाई ताराचन्द था।

चेतक स्मारक

महाराणा प्रताप

18 जून 1576 प्रातःकाल प्रताप ने लोसिंग से हल्दीघाटी में गोगुन्दा की ओर बढ़ती सेना का सामना करने का निश्चय कर कूच किया। युद्ध के प्रथम भाग में मुगल सेना का बल तोड़ने के लिए राणा ने अपने हाथी लूना को आगे बढ़ाया जिसका मुकाबला मुगल हाथी गजमुख (गजमुक्ता) ने किया। गजमुख घायल होकर भागने ही वाला था कि लूना का महावत तीर लगने से घायल हो गया और लूना लौट पड़ा। इस पर महाराणा के विख्यात हाथी रामप्रसाद को मैदान में उतारना पड़ा।

युद्ध का प्रारम्भ प्रताप की हरावल सेना के भीषण आक्रमण से हुआ। मेवाड़ के सैनिकों ने अपने तेज हमले और वीरतापूर्ण युद्ध–कौशल द्वारा मुगल पक्ष की अग्रिम पंक्ति व बायें पार्श्व को छिन्न–भिन्न कर दिया। बदायूंनी के अनुसार इस हमले से घबराकर मुगल सेना लूणकरण के नेतृत्व में भेड़ों के झुण्ड की तरह भाग निकली। इस समय जब प्रताप के राजपूत सैनिकों और मुगल सेना के राजपूत सैनिकों के मध्य फर्क करना कठिन हो गया तो बदायूंनी ने यह बात मुगल सेना के दूसरे सेनापति आसफ खां से पूछी। आसफ खां ने कहा कि ''तुम तो तीर चलाते जाओ। राजपूत किसी भी ओर का मारा जाय, इससे इस्लाम का तो लाभ ही होगा।'' मानसिंह को मुगल सेना का सेनापति बनाने का बदायूंनी भी विरोधी था, किन्तु जब उसने मानसिंह को प्रताप के विरूद्ध बड़ी वीरता और चातुर्य से लड़ते देखा तो प्रसन्न हो गया।

युद्ध के दौरान सैयद हाशिम घोड़े से गिर गया और आसफ खां ने पीछे हटकर मुगल सेना के मध्य भाग में जाकर शरण ली। जगन्नाथ कछवाहा भी मारा जाता किन्तु उसकी सहायता के लिए चंदावल (सेना में सबसे पीछे की पंक्ति) से सैन्य टुकड़ी लेकर माधोसिंह कछवाहा आ गया। मुगल सेना के चंदावल में मिहतर खां के नेतृत्व में आपात स्थिति के लिए सुरक्षित सैनिक टुकड़ी रखी गई थी। अपनी सेना को भागते देख मिहतर खां आगे की ओर चिल्लाता हुआ आया कि ''बादशाह सलामत एक बड़ी सेना के साथ स्वयं आ रहे हैं।'' इसके बाद स्थिति बदल गई और भागती हुई मुगल सेना नये उत्साह और जोश के साथ लौट पड़ी।

राणा प्रताप अपने प्रसिद्ध घोड़े 'चेतक' पर सवार होकर लड़ रहा था और मानसिंह 'मरदाना' नामक हाथी पर सवार था। रणछोड़ भट्ट कृत संस्कृत ग्रंथ 'अमरकाव्य' में वर्णन है कि प्रताप ने बड़े वेग के साथ चेतक के अगले पैरों को मानसिंह के हाथी के मस्तक पर टिका दिया और अपने भाले से मानसिंह पर वार किया। मानसिंह ने होदे में नीचे झुक कर अपने को बचा लिया किन्तु उसका महावत मारा गया। इस हमले में मानसिंह के हाथी की सूंड पर लगी तलवार से चेतक का एक अगला पैर कट गया। प्रताप को संकट में देखकर बड़ी सादड़ी के झाला बीदा ने राजकीय छत्र स्वयं धारण कर युद्ध जारी रखा और प्रताप ने युद्ध को पहाड़ों की ओर मोड लिया। हल्दीघाटी से कुछ दूर बलीचा नामक स्थान पर घायल चेतक की मृत्यु हो गई, जहाँ उसका चबूतरा आज भी बना हुआ है। हल्दीघाटी के युद्ध में महाराणा प्रताप की तरफ से झाला बीदा, मानसिंह सोनगरा, जयमल मेड़तिया का पुत्र रामदास, रामशाह और उसके तीन पुत्र (शालिवाहन, भवानीसिंह व प्रतापसिंह) वीरता का प्रदर्शन करते हुए मारे गए। सलूम्बर का रावत कृष्णदास चूड़ावत, घाणेराव का गोपालदास, भामाशाह, ताराचन्द आदि रणक्षेत्र में बचने वाले प्रमुख सरदार थे।

जब युद्ध पूर्ण गति पर था,तब प्रताप ने युद्ध स्थिति में परिवर्तन किया। युद्ध को पहाड़ों की ओर मोड़ दिया। मानसिंह ने मेवाड़ी सेना का पीछा नहीं किया। मुगलों द्वारा प्रताप की सेना का पीछा न करने के बदायूनी ने तीन कारण बताये हैं–

1.जून माह की झुलसाने वाली तेज धूप
2.मुगल सेना की अत्यधिक थकान से युद्ध करने क्षमता न रहना।
3. मुगलों को भय था कि प्रताप पहाड़ों में घात लगाए हुए है और उसके अचानक आक्रमण से अत्यधिक सैनिकों का जीवन खतरे में पड़ जाएगा।

इस तरह अकबर की इच्छानुसार वह न तो प्रताप को पकड़ सका अथवा मार सका और न ही मेवाड़ की सैन्य शक्ति का विनाश कर सका।अकबर का यह सैन्य अभियान असफल रहा तथा पासा महाराणा प्रताप के पक्ष में था। युद्ध के परिणाम से खिन्न अकबर ने मानसिंह और आसफ खां की कुछ दिनों के लिये ड्योढ़ी बंद कर दी अर्थात् उनको दरबार में सम्मिलित होने से वंचित कर दिया। शंहशाह अकबर की विशाल साधन सम्पन्न सेना का गर्व मेवाड़ी सेना ने ध्वस्त कर दिया।

जब राजस्थान के राजाओं में मुगलों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर उनकी अधीनता मानने की होड़ मची हुई थी, उस समय प्रताप द्वारा स्वतन्त्रता का मार्ग चुनना निसंदेह सराहनीय कदम था।

शाहबाज खां के अभियान– हल्दीघाटी युद्ध के बाद अकबर ने प्रताप को पूरी तरह से कुचलने के लिए मीरबख्शी शाहबाज खां को तीन बार प्रताप के विरूद्ध भेजा। 15 अक्टूबर 1577 ई. को शाहबाज खां को प्रथम बार मेवाड़ के लिए रवाना किया गया। प्रथम आक्रमण के समय शाहबाज खां ने केलवाड़ा गांव पर अधिकार कर कुम्भलगढ़ का घेरा डाला, फिर भी उसको लेने में सफलता नहीं मिली और कुछ समय बाद प्रताप ने पुनः अधिकार कर लिया।प्रताप राव अक्षयराज के पुत्र भाण सोनगरा को किलेदार नियुक्त कर अपने सैनिकों के साथ ईडर की तरफ निकल गया और चुलिया गांव में ठहरा। यहाँ भामाशाह और उसके भाई ताराचन्द ने पच्चीस लाख रूपये एवं बीस हजार अशर्फियां राणा को भेंट की। भामाशाह की सैनिक एवं प्रशासनिक क्षमता को देखकर प्रताप ने इसी समय रामा महासहाणी के स्थान पर उसे मेवाड़ का प्रधानमंत्री नियुक्त कर दिया।

भामाशाह से आर्थिक सहायता प्राप्त हो जाने के बाद प्रताप ने सेना का पुनर्गठन किया और जुलाई 1582 ई. में अवसर देखकर दिवेर (राजसमंद) के दर्रे पर कायम मुगल थाने पर हमला किया। इस थाने पर अकबर के चाचा सुल्तान खां का नियन्त्रण था। संघर्ष के दौरान अमरसिंह ने अपना भाला इतनी शक्ति से मारा कि वह सुल्तान खां मुगल को बेधता हुआ उसके घोड़े के भी आर–पार हो गया। दिवेर की विजय के बाद इस पर्वतीय भाग पर प्रताप का अधिकार हो गया। कर्नल टॉड ने दिवेर के युद्ध को 'मेवाड़ के मेराथन' की संज्ञा दी है।

प्रताप के विरूद्ध अंतिम अभियान– अकबर ने 6 दिसम्बर 1584 ई. को जगन्नाथ कछवाहा (आमेर के राजा भारमल का छोटा पुत्र) को अजमेर का सूबेदार बनाकर मेवाड़ पर आक्रमण के लिए भेजा। जगन्नाथ कुछ भी विशेष नहीं कर पाया और निराश होकर

1585 ई. में मेवाड़ से चला गया। जगन्नाथ कछवाह का आक्रमण मेवाड़ पर प्रताप के समय अंतिम आक्रमण सिद्ध हुआ। अब अकबर को विश्वास हो गया कि महाराणा प्रताप को पकड़ पाना अथवा उससे अपनी प्रभुसत्ता स्वीकार कराने का प्रयत्न केवल एक कल्पना मात्र है। साथ ही अकबर अब पश्चिमोत्तर समस्या में उलझ गया गया था। इस कारण प्रताप के विरुद्ध अभियान हमेशा के लिए बंद कर दिए गए।

धनुष की प्रत्यंचा खींचने के प्रयत्न में प्रताप घायल हो गया और उनका 19 जनवरी 1597 ई. को 57 वर्ष की आयु में देहान्त हो गया। चावंड से ढ़ाई किलोमीटर दूर बण्डोली गांव के निकट बहने वाले नाले के किनारे उनका दाह–संस्कार किया गया। दूरसा आढ़ा ने प्रताप के बारे में लिखा है :–

अस लेगो अणदाग पाघ लेगो अणनामी।
गौ आडा गवड़ाय, जिको बहतो धुरवामी।।
नवरोजे नह गयो, नगौ आतसां नवल्ली।
नगौ झरोखा हेठ, जेठ दुनियाण दहल्ली।।

(जिसने कभी अपने घोड़ों को शाही सेना में भेज कर दाग नहीं लगवाया, जिसने अपनी पगड़ी किसी के आगे नहीं झुकाई, जो सदा शत्रुओं के प्रति व्यंग्य भरी कविताएं गाता था, जो समस्त भारत के भार की गाड़ी को बायें कन्धे से खींचने में समर्थ था, जो कभी नौरोज में नहीं गया, जो शाही डेरों में नही गया और जिस अकबर के झरोखे की प्रतिष्ठा विश्व भर में व्याप्त थी, वह उसके नीचे भी नहीं आया। ऐसा गहलोत (महाराणा प्रताप) विजय के साथ मृत्यु के पास चला गया।)

प्रताप को लगभग 12 वर्ष शांति और स्वाधीनता का उपयोग करने का अवसर मिला। इस अवसर का लाभ उठाकर उसने मेवाड़ के उत्तर–पश्चिम, उत्तर–पूर्व तथा मध्य भाग में फैले हुए मुगल थानों पर धावे बोलने प्रारम्भ कर दिये। शीघ्र ही उसने 36 स्थानों के मुगल थाने उठा दिये, जिनमें उदयपुर, मोही, गोगुन्दा, मांडल, पानरवा आदि प्रमुख थे। उदयपुर से प्राप्त 1588 ई. के एक लेख में प्रताप द्वारा त्रिवेदी सादुलनाथ को जहाजपुर के निकट मंडेर की जागीर प्रदान करने का उल्लेख है। इससे पता चलता है कि प्रताप ने उस समय तक मेवाड़ के उत्तर–पूर्वी प्रदेश पर पुनः अधिकार कर लिया था और अपने विश्वसनीय अनुयायियों को जागीरें प्रदान कर पुनर्निर्माण के कार्य में व्यस्त था।1585 ई. के बाद उसने अपनी राजधानी चावण्ड के विकास पर पूरा ध्यान दिया और यहाँ अनेक महल व मंदिर बनवाए। जीवधर की रचना 'अमरसार' के अनुसार प्रताप ने ऐसा सुदृढ़ शासन स्थापित कर लिया था कि महिलाओं और बच्चों तक को किसी से भय नहीं रहा। आन्तरिक सुरक्षा भी लोगों को इतनी प्राप्त हो गई थी कि बिना अपराध के किसी को कोई दण्ड नहीं दिया जाता था। उसने शिक्षा प्रसार के भी प्रयत्न किए।

विद्वानों के संरक्षक के रूप में प्रताप– 1588 ई. के अंत तक प्रताप ने चित्तौड़, माण्डलगढ़ तथा अजमेर से उनको जोड़ने वाले अंतर्वर्ती क्षेत्रों के अतिरिक्त प्रायः सम्पूर्ण मेवाड़ पर अधिकार कर लिया। मुगल आक्रमण बंद होने के कारण प्रताप ने अपने जीवन के अंतिम वर्ष चावंड में शांतिपूर्वक राज्य करते हुए बिताए। शांतिकाल में राजधानी चावंड ने बड़ी तरक्की की। यहाँ कलात्मक भवनों एवं मंदिरों का निर्माण हुआ। व्यापार–वाणिज्य, कला, साहित्य और संगीत को प्रोत्साहन मिलने लगा। प्रताप के संरक्षण में चावण्ड में रहते हुए चक्रपाणि मिश्र ने तीन संस्कृत ग्रंथ – राज्याभिषेक पद्धति, मुहुर्त्तमाला एवं विश्ववल्लभ लिखे। ये ग्रंथ क्रमशः गद्दीनशीनी की शास्त्रीय पद्धति, ज्योतिषशास्त्र और उद्यान विज्ञान के विषयों से सम्बन्धित है। प्रताप के राज्यकाल में भामाशाह के भाई ताराचंद की प्रेरणा से 1595 ई. में हेमरत्न सूरि द्वारा 'गोरा बादल कथा पद्मिनी चौपई' काव्य ग्रंथ की रचना की गई। सैनिकों में त्याग और बलिदान की भावना उत्पन्न करने के लिए चारण कवि रामा सांदू और माला सांदू प्रताप की सेना के साथ रहते थे। रामा सांदू ने प्रताप के शौर्य का गुणगान करते हुए लिखा है कि 'अकबर एक पक्षी के समान है जिसने अनन्त आकाश रुपी प्रताप की थाह पाने के लिए उड़ान भर ली, पर वह उसका पार नहीं पा रहा है। अंत में हार कर उसे अपनी हद में रहना पड़ा।' इसी काल में चावंड में प्रसिद्ध चित्रकार निसारदी (नासिरूद्दीन) हुआ।

महाराणा की चारित्रिक विशेषताएं

1.निहत्थे पर वार नहीं करना– उन्होंने कभी भी निहत्थे पर वार नहीं करने का प्रण ले रखा था। वे सदैव दो तलवार रखते थे– एक तलवार दुश्मन को देने के लिए भी रखते थे।

2. मेवाड का राजचिह्न सामाजिक समरसता प्रतीक है। एक तरफ क्षत्रिय व एक तरफ भील योद्धा, सर्व समाज समभाव का सूचक है। महाराणा प्रताप सभी के प्रिय थे, सब लोग उनके लिए प्राण देने के लिए तैयार रहते थे।

3. स्वतंत्रता प्रेमी– महाराणा प्रताप स्वाधीनता प्रेमी थे। अनेक कष्टों के बाद भी किसी भी कीमत पर अकबर की अधीनता स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हुए।

4. धर्म रक्षक व राजचिह्न सम्मान – धर्म रक्षक व राजचिह्न की सदैव रक्षा की। उनकी मान्यता थी, जो दृढ़ राखे धर्म को तिहि राखे करतार।

5. शील–स्त्री सम्मान – नारी सम्मान के लिए भारतीय परम्परा का उदाहरण प्रस्तुत किया। कुंवर अमरसिंह ने 1580 ई. में जब अचानक शेरपुर के मुगल शिविर पर आक्रमण कर सूबेदार अब्दुर्रहीम खानखाना के परिवार को बंदी बना लिया गया, तब प्रताप ने खानखाना की स्त्रियों एवं बच्चों को ससम्मान एवं सुरक्षित वापस लौटाने के आदेश भिजवाये।

6. प्रेरणा पुरूष– महाराणा प्रताप बाद में शिवाजी, छत्रसाल से लेकर अंग्रेजों के विरूद्ध स्वाधीनता संग्राम में स्वातंत्र्य योद्धाओं के प्रेरता बने।

7. उनकी विलक्षण सहयोगी प्रतिभा के कारण ही भामाशाह ने अपनी समस्त सम्पदा महाराणा के चरणों में समर्पित कर दी।

वीर दुर्गादास राठौड़ (1638–1718 ई.)

प्रारम्भिक जीवन – दुर्गादास का जन्म 1638 ई. में सालवा गांव में हुआ। वे जोधपुर के महाराजा जसवंतसिंह की सेवा में रहने वाले आसकरण की तीसरी पत्नी की संतान थे। आसकरण को मारवाड़

में सालवा की जागीर मिली हुई थी और कालान्तर में मुहणौत नैणसी के बाद उसे मारवाड़ का प्रधानमंत्री भी नियुक्त किया गया था। अपनी पत्नी से प्रेम न रहने के कारण उसने पत्नी–पुत्र दोनों को अलग कर दिया। बालक दुर्गादास अपनी माता के साथ लूणावे गांव में रहकर खेती–बाड़ी द्वारा गुजारा चलाने लगा। 1655 ई. में आपसी कहा–सुनी के बाद उसने अपने खेत से होकर सांडनियाँ (मादा ऊँट) ले जाने पर राजकीय चरवाहे को मार डाला। खबर मिलने पर महाराजा ने आसकरण से सफाई मांगी। आसकरण ने कहा कि उसके सब बेटे राज्य की सेवा में हैं और गांव में कोई बेटा नहीं है। तब महाराजा ने दुर्गादास को बुलाकर सारी बात पूछी। दुर्गादास ने अपना अपराध स्वीकार करते हुए कहा कि उक्त चरवाहे की लापरवाही के कारण न केवल किसानों की फसल नष्ट हो रही थी अपितु उसने आपके दुर्ग को भी अपशब्दों के साथ 'बिना छज्जे का धोळा ढूंढा' (बिना छत का सफेद खण्डहर) कहा। इस कारण मैंने उसकी हत्या कर दी। पूरी जानकारी प्राप्त कर महाराजा ने आसकरण से जब यह पूछा कि 'तुम तो कहते थे गांव में मेरा कोई बेटा नहीं है' तो आसकरण ने कहा कि 'कपूत को बेटों में नहीं गिनते।' महाराजा जसवंतसिंह बोले 'यह आपका भ्रम है। यही कभी डगमगाते हुए मारवाड़ को कंधा देगा' और इसके बाद दुर्गादास को अपनी सेवा में रख लिया।

1667 ई. में दुर्गादास को 12,000 रुपये की वार्षिक आय वाले पांच गांव झांवर, समदड़ी, जगीसा कोठड़ी, आम्बा–रो–वाड़ो और अमरसर प्रदान किए गये। कालान्तर में जसवंतसिंह द्वारा मारवाड़ के रायमल बालो, जवण देसर और बांभसेण गांवों के साथ रोहतक परगने का लुणोद गांव भी दुर्गादास को जागीर के रूप में दिया गया।

जोधपुर पर शाही नियन्त्रण स्थापित होना– महाराजा जसवंतसिंह और मुगल बादशाह औरंगजेब के बीच प्रायः विरोध की स्थिति बनी रही। इस कारण औरंगजेब ने जसवंतसिंह को मारवाड़ से बहुत दूर जमरूद (अफगानिस्तान) के थाने पर नियुक्त कर दिया। 1678 ई. में जमरूद में जसवंतसिंह की मृत्यु की खबर सुनते ही औरंगजेब के मुँह से निकल पड़ा – 'दरवाजा ए कुफ्र शिकस्त' (आज मजहब विरोध का दरवाजा टूट गया)। पर जब महल में बेगम ने यह हाल सुना तो कहा –आज शोक का दिन है कि बादशाहत का ऐसा स्तम्भ टूट गया। जसवंतसिंह की मृत्यु के बाद औरंगजेब ने जोधपुर को खालसा घोषित कर ताहिर खां को फौजदार, खिदमतगुजार खां को किलेदार, शेर अनवर को अमीन और अब्दुर्रहीम को कोतवाल बनाकर प्रबन्ध के लिए नियुक्त कर दिया।

मारवाड़ पर पूरी तरह नियन्त्रण स्थापित हो जाने के बाद खानजहां बहादुर मन्दिरों के तोड़ने से एकत्रित हुई मूर्तियों को गाड़ियों में भरवाकर अप्रैल 1679 ई. में दिल्ली पहुँच गया। बादशाह ने उसकी बड़ी प्रशंसा की और मूर्तियां दरबार के जलूखाने (आंगन) तथा जुमा मस्जिद की सीढ़ियों के नीचे डाली जाने की आज्ञा दी ताकि ये लोगों के पैरों के नीचे कुचली जा सकें।

26 मई 1679 ई. को औरंगजेब ने इन्द्रसिंह देना स्वीकार कर लिया। इन्द्रसिंह न तो जोधपुर का प्रबन्ध कर पाया और न वहाँ होने वाले उपद्रवों को शांत कर पाया जिसके कारण बादशाह ने लगभग दो माह बाद ही उसे वापस बुला लिया।

जसवंतसिंह की मृत्यु के बाद राठौड़ सरदार उनकी दोनों गर्भवती रानियों को लेकर जमरूद से रवाना हुए किन्तु शाही परवाना न होने के कारण अटक नदी पर अफसरों ने उन्हें रोक लिया। इन अफसरों से लड़ाई कर राठौड़ दल ने अटक नदी को पार किया। वहीं दोनों रानियों ने 19 फरवरी 1679 ई. को आधे घण्टे के अन्तराल पर क्रमशः अजीतसिंह और दलथंभन नामक पुत्रों को जन्म दिया। जोधपुर की ख्यात के अनुसार इन कुंवरों के जन्म का समाचार मिलने पर बादशाह ने व्यंग्य से मुस्कराते हुए कहा कि ''बंदा कुछ सोचता है और खुदा उससे ठीक उल्टा करता है।'' शाही आज्ञा ने इन बालकों को वहाँ से दिल्ली ले जाया गया।

दिल्ली में दोनों कुंवरों व रानियों को किशनगढ़ के राजा रूपसिंह की हवेली में ठहराया गया। बादशाह की नियत साफ न देखकर राठौड़ रणछोड़दास, भाटी रघुनाथ, राठौड़ रूपसिंह, राठौड़ दुर्गादास आदि सरदारों ने फैसला किया कि यहाँ रहकर मरने में कोई लाभ नहीं, यदि जिंदा रहे तो संघर्ष कर जोधपुर पर अधिकार कर लेंगे। इसलिए प्रमुख–प्रमुख राठौड़ सरदारों को दिल्ली से जो

जब राठौड़ सरदार एक–एक कर दिल्ली से विदाई लेने लगे तो औरंगजेब ने इनकी शक्ति कम होती देख राजपरिवार के प्रति अधिक कठोर नीति अपनानी प्रारम्भ कर दी। उसने कोतवाल फौलाद खां को आदेश दिया कि राठौड़ रानियों और राजकुमारों को रूपसिंह की हवेली से हटाकर नूरगढ़ पहुँचा दिया जाए और अगर राठौड़ इससे आनाकानी करें तो उन्हें दण्ड दिया जाये। सौभाग्य से इसके एक दिन पहले ही दुर्गादास और चांपावत सोनिंग अजीतसिंह को लेकर मारवाड़ के लिए निकल गए थे। बादशाह को जब राजकुमारों के भागने की खबर लगी तो उसने पीछा करने का आदेश दिया। दुर्गादास ने मार्ग में शाही सेना को रोक दिया जिसके कारण अजीतसिंह सुरक्षित जोधपुर पहुँचने में सफल रहा। इधर बादशाह ने एक जाली अजीतसिंह का नाम मोहम्मदीराज रखकर अपनी पुत्री जेबुन्निसा को परवरिश के लिए सौंप दिया।

अजीतसिंह को लेकर मारवाड़ के सरदार जोधपुर पहुँचे किन्तु जोधपुर पर शाही अधिकार हो जाने के कारण वे अजीतसिंह की सुरक्षा को लेकर चिंतित थे। इस कारण बालक अजीतसिंह को उनकी विमाता देवड़ाजी की सलाह पर कालिंद्री (सिरोही) भेज दिया गया। यहाँ उसे पुष्करणा ब्राह्मण जयदेव के संरक्षण में रखा गया और सुरक्षा के लिए गुप्त रूप से मुकुन्ददास खींची को नियुक्त कर दिया गया।

महाराजा जसवंतसिंह की सबसे बड़ी रानी जसवंतदे बूंदी के राव छत्रसाल की पुत्री थी। उसकी सौतेली बहन काननकुमारी का विवाह महाराणा राजसिंह के साथ हुआ था। इस कारण दुर्गादास ने काननकुमारी के माध्यम से उनके बहनोई महाराणा राजसिंह के पास अजीतसिंह को सुरक्षा देने की प्रार्थना भिजवाई। पूरे मामले से मेवाड़ की सुरक्षा भी जुड़ी हुई थी। इस

1707 ई. में औरंगजेब की मृत्यु की खबर मिलने के बाद अजीतसिंह ने जोधपुर के नायब फौजदार जाफरकुली को भगाकर अपने पैतृक राज्य पर कब्जा कर लिया। यह आक्रमण इतना जल्दी हुआ कि किले में मौजूद 'कुछ मुसलमानों को जान बचाने के लिए हिन्दुओं का वेश बनाकर भागना पड़ा।'

जोधपुर राज्य की ख्यात में लिखा गया है कि सांभर विजय (3 अक्टूबर 1708 ई.) के बाद वहाँ डेरे होने पर दुर्गादास ने अपनी सेना सहित अलग डेरा किया। महाराजा ने उसे मिसल (सरदारों की पंक्ति) में डेरा करने को कहा तो उसने उत्तर दिया कि मेरी तो उमर अब थोड़ी रह गई है, मेरे पीछे के लोग मिसल में डेरा करेंगे। अजीतसिंह के व्यवहार से आहत दुर्गादास मेवाड़ के महाराणा अमरसिंह द्वितीय की सेवा में चला गया और वहाँ से बुलाने पर भी जोधपुर नहीं लौटा।

अजीतसिंह ने दुर्गादास की अभिरक्षा में अकबर के बच्चों की सुरक्षा करने वाले रघुनाथ सांचोरा को सार्वजनिक रूप से कोड़े मारकर अपमानित किया और काल–कोठरी में भूखा–प्यासा रखकर मरने के लिए बाध्य कर दिया (अक्टूबर 1707 ई.)। जुलाई 1708 ई. में अपने महामंत्री मुकुन्ददास चांपा

हूण का खजाना मिला। शिवाजी ने इस धन से

मुगल–मराठा संधि सम्पन्न हो गई जिसके अनुसार औरंगजेब ने शिवाजी को स्वतन्त्र शासक स्वीकार कर 'राजा' की उपाधि को मान्यता दे दी। संधि के बावजूद औरंगजेब शिवाजी के विरुद्ध चाल चलने से बाज नहीं आया। इस कारण 1670 ई. में शिवाजी ने सूरत को पुनः लूट लिया और अपने खोये हुए प्रदेशों पर अधिकार करना प्रारम्भ कर दिया।

शिवाजी ने बनारस के गंगाभट्ट नामक ब्राह्मण को बुलाकर जून 1674 ई. को राजधानी रायगढ़ में अपना राज्याभिषेक करवाया और 'छत्रपति', 'हिन्दू धर्मोद्धारक', 'गौ ब्राह्मण प्रतिपालक' आदि उपाधियाँ धारण की।

शिवाजी के अंतिम दिन चिंता में बीते। एक तरफ तो वे अपने पुत्र शम्भाजी के मुगलों की शरण में जाने से दुःखी थे, दूसरी तरफ उनकी पत्नी सोयराबाई अपने पुत्र राजाराम को उत्तराधिकारी बनाने के लिए षड्यंत्र रच रही थी। इन परिस्थितियों में अप्रैल 1680 ई. में शिवाजी की मृत्यु हो गई। शिवाजी ने देश के लोगों में नवजीवन का संचार करने तथा स्वतन्त्र हिन्दू राज्य की स्थापना के उद्देश्य से आजीवन संघर्षरत रहे। एक बड़ी सीमा तक वे अपने उद्देश्य में सफल रहे। सर जदूनाथ सरकार के अनुसार शिवाजी 'हिन्दू प्रजाति का अंतिम प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति और राष्ट्र निर्माता शासक' था। जिस समय वह महाराष्ट्र के रंगमंच पर आये, उस समय मराठे विदेशी शासकों के

दी। दक्खन में चौथ और सरदेशमुखी की वसूली के अधिकार प्राप्त करना बालाजी विश्वनाथ की बहुत बड़ी सफलता थी। उसे मराठा साम्राज्य का 'द्वितीय संस्थापक' (संस्थापक – शिवाजी) कहा जाता है।

पेशवा बालाजी विश्वनाथ की मृत्यु के बाद उसके बड़े पुत्र बाजीराव (1720–40 ई.) को पेशवा पद पर नियुक्त किया गया। इस समय उसकी आयु मात्र 20 वर्ष थी। मुगल साम्राज्य की शोचनीय दशा का लाभ उठाकर वह उसके अधिक से अधिक प्रदेशों को छीन लेना चाहता था। उसने अपनी तर्कपूर्ण व्याख्या द्वारा यह कहते हुए शाहू का समर्थन हासिल कर लिया कि ''हमारे लिए यही समय है कि हम विदेशियों को देश से निकालकर कीर्ति प्राप्त कर लें। हमें सूखे वृक्ष की जड़ों पर प्रहार करना चाहिए, शाखाएँ तो अपने आप गिर जायेंगी।'' पेशवा की योजना से प्रभावित होकर शाहू ने कहा ''तुम मराठा पताका को हिमालय की चोटी पर फहरा दोगे। तुम वास्तव में योग्य पिता के योग्य पुत्र हो।''

अपनी नीति के अनुसार बाजीराव ने नर्मदा पार कर 1724 ई. में मालवा जीत लिया। शाही सेवा में मौजूद जयपुर का शासक सवाई जयसिंह मराठों से सहानुभूति रखने के कारण शीघ्र ही पेशवा का मित्र बन गया। इस कारण पेशवा को बहुत कम विरोध का सामना करना पड़ा। पेशवा को सबसे जटिल समस्या का सामना मुगल साम्राज्य के सबसे शक्तिशाली सरदार निजाम–उल–मुल्क के साथ सम्बन्धों को व्यवस्थित करने में करना पड़ा। निजाम स्वयं को दक्खन का न्यायोचित शासक मानता था। इस क्षेत्र में मराठा अभियानों के कारण वह उन्हें अपना सबसे बड़ा शत्रु समझने लगा। इस कारण उसने 1719 ई. की संधि का उल्लंघन करना प्रारम्भ कर दिया और शाहू के स्थान पर उसके विरोधी शम्भाजी को मराठा साम्राज्य के मुखिया के रूप में मान्यता प्रदान कर दी। मार्च 1728 ई. को औरंगाबाद के पास पालखेड़ नामक स्थान पर पेशवा ने निजाम की सेनाओं को पराजित कर उसे मुंगी शिवगांव की संधि पर हस्ताक्षर करने के लिए बाध्य कर दिया। इस संधि के अनुसार –

1. निजाम ने शम्भाजी की सुरक्षा की जिम्मेदारी छोड़कर उसे पन्हाला भेजना स्वीकार कर लिया।

2. छीने गये मराठा प्रदेश तथा मराठा कैदियों को छोड़ देने का निर्णय लिया गया।

3. 1719 ई. की संधि के अनुसार शाहू के चौथ तथा सरदेशमुखी कर की वसूली के अधिकार को मान लिया।

कुछ समय बाद चौथ और सरदेशमुखी के बदले पेशवा ने प्रतिज्ञा कर ली कि वह निजाम के प्रदेशों पर आक्रमण नहीं करेगा और निजाम ने मराठों के उत्तरी भारत पर आक्रमण में तटस्थ रहना स्वीकार कर लिया। अब पेशवा ने उत्तर भारत पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हुए 1728 ई. में मालवा और बुन्देलखण्ड के मुगल प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। मार्च 1737 ई. में अवध के सूबेदार सआदतखाँ ने मराठा सेनापति मल्हारराव होल्कर को पराजित किया और इस विजय की डींग मारते हुए दिल्ली में सूचना भेजी कि उसने मराठों को चम्बल के पार खदेड़ दिया। बाजीराव इस विजय का खण्डन करने के लिए 14 दिन का सफर मात्र दो दिन में तय कर दिल्ली पर टूट पड़ा। इस आक्रमण से भयभीत मुगल सम्राट को बाजीराव ने संदेश भेजा कि उसके अभियान का उद्देश्य कुछ प्राप्त करना नहीं अपितु सिर्फ यह दिखाना है कि वह अभी तक जिन्दा है। दिल्ली से लौटने के बाद पेशवा ने निजाम को पराजित कर 17 जनवरी 1738 ई. को दोराहा सराय की संधि करने के लिए बाध्य किया। इस संधि के अनुसार उसने सम्पूर्ण मालवा तथा नर्बदा से लेकर चम्बल तक के प्रदेश को बाजीराव के आधिपत्य में छोड़ दिया। 1740 ई. में बाजीराव ने निजाम–उल–मुल्क के द्वितीय पुत्र नासिरजंग को परास्त कर मुंगी शिवगांव की संधि पर हस्ताक्षर करने के लिए बाध्य किया। इसके अनुसार नासिरजंग ने हांडिया और खरगांव के जिले मराठों को सौंप दिये। 8 मई 1740 ई. को नर्मदा नदी के किनारे रावर नामक स्थान पर अचानक बाजीराव की मृत्यु हो गई।

अध्ययन बिन्दु

- रामप्रसाद : 'रामप्रसाद' महाराणा प्रताप के प्रसिद्ध हाथी का नाम था। अकबर इस अत्यन्त कुशल और प्रशिक्षित हाथी को प्राप्त करने का इच्छुक था। हल्दीघाटी के युद्ध में इस पर अधिकार करने के बाद बदायूंनी के साथ इसे अकबर के पास फतेहपुर सीकरी भेजा गया। अकबर ने रामप्रसाद का नाम बदलकर 'पीरप्रसाद' रख दिया।
- हल्दीघाटी : हल्दीघाटी राजसमंद जिले में स्थित प्रसिद्ध युद्ध का मैदान है। 18 जून 1576 ई. को महाराणा प्रताप और मानसिंह कछवाह (अकबर का सेनापति) के मध्य लड़े गए युद्ध को कर्नल जेम्स टॉड ने हल्दीघाटी का युद्ध व हल्दीघाटी को 'मेवाड़ की थर्मोपली' कहा है। अकबरनामा के लेखक अबुल फजल ने इस युद्ध को 'खमनौर का युद्ध' तो 'मुन्तखब–उल–तवारीख' के लेखक अब्दुल कादिर बदायूंनी ने 'गोगुन्दा का युद्ध' कहा है। बदायूंनी ने अपने उक्त ग्रंथ में युद्ध का आंखों देखा वर्णन किया है।
- फारस के शासक दारा द्वारा यूनान पर आक्रमण किए जाने पर मेराथन के युद्ध (490 ई.पू.) में यूनानी सेना ने फारसी सेना को पराजित कर खदेड़ दिया। इस पराजय का बदला लेने के लिए दारा के उत्तराधिकारी जेरेक्सीज ने 480 ई.पू. में यूनान पर आक्रमण किया। थर्मोपली के युद्ध में लियोनिडास अपने देश की रक्षा करता हुआ मारा गया और फारसी सेनाएँ विजयी रही। कर्नल जेम्स टॉड ने लिखा है कि ''राजपूताने में छोटे से छोटा राज्य भी ऐसा नहीं है, जहाँ लियोनिडास जैसा वीर और थर्मोपली जैसा युद्ध का मैदान न हो।''
- निसारदी : महाराणा प्रताप के संरक्षण में उनकी संकटकालीन राजधानी चावण्ड में रहने वाला मुस्लिम चित्रकार। 1605 ई. में महाराजा अमरसिंह के काल में उसके द्वारा बनाये गए 'रागमाला' चित्र काफी प्रसिद्ध

हुए। निसारदी की चित्रकला चावंड शैली के नाम से प्रसिद्ध हुई।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

1. यह किसने कहा था कि ''हमें सूखे वृक्ष की जड़ों पर प्रहार करना चाहिए, शाखाएँ तो अपने आप गिर जाएँगी''?
   (अ) शिवाजी (ब) शाहू
   (स) बालाजी विश्वनाथ (द) बाजीराव प्रथम
2. इनमें से कौनसी एक उपाधि बप्पा रावल ने धारण नहीं की थी?
   (अ) हिन्दू सूर्य (ब) राजगुरु
   (स) चक्कवै (द) हिन्दू सुरत्राण
3. पृथ्वीराज चौहान और मुहम्मद गौरी के बीच युद्ध किस स्थान पर लड़े गए?
   (अ) तराइन (ब) पानीपत
   (स) खानवा (द) हल्दीघाटी
4. रणथम्भौर पर अलाउद्दीन खिलजी ने किस वर्ष अधिकार किया?
   (अ) 1299 ई. (ब) 1300 ई.
   (स) 1301 ई. (द) 1303 ई.
5. मलिक मुहम्मद जायसी की रचना 'पद्मावत' के अनुसार अलाउद्दीन खिलजी के चित्तौड़ पर आक्रमण का कारण था?
   (अ) अलाउद्दीन खिलजी की साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षा
   (ब) मेवाड़ की बढ़ती हुई शक्ति
   (स) चित्तौड़ का भौगोलिक एवं सामरिक महत्त्व
   (द) पद्मिनी को प्राप्त करने की लालसा
6. कौनसा राजस्थानी शासक अपनी सांस्कृतिक उपलब्धियों के लिए इतिहास में प्रसिद्ध है?
   (अ) महाराणा सांगा (ब) महाराणा कुम्भा
   (स) महाराणा प्रताप (द) पृथ्वीराज चौहान
7. महाराणा सांगा ने बाबर की सेना को किस स्थान पर पराजित किया?
   (अ) खानवा (ब) बयाना
   (स) बाड़ी (द) खातोली
8. दुर्गादास राठौड़ ने राजस्थान की किस रियासत की रक्षा के लिए औरंगजेब से लम्बे समय तक संघर्ष किया?
   (अ) आमेर (ब) मारवाड़
   (स) मेवाड़ (द) कोटा

अति लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. महाराणा प्रताप को समझाने के लिए अकबर द्वारा किन–किन दरबारियों को भेजा गया?
2. भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में चित्तौड़ के विजय स्तम्भ का क्या महत्त्व है?
3. शिवाजी का जन्म कब और कहाँ हुआ?
4. हल्दीघाटी का युद्ध कब और किनके मध्य लड़ा गया?
5. मारवाड़ के राव चन्द्रसेन को 'प्रताप का अग्रगामी' क्यों कहा जाता है?
6. चम्पानेर की संधि किन–किन के मध्य हुई?
7. महमूद गजनवी का अंतिम भारतीय अभियान कब और किस शक्ति के विरुद्ध हुआ?
8. दिल्ली की गद्दी पर बैठने वाला अंतिम हिन्दू सम्राट कौन था?
9. हम्मीर देव चौहान की जानकारी के कोई चार साहित्यिक स्त्रोतों का नाम लिखिए।
10. 'हिन्दूपत' किस राजस्थानी शासक को क्या जाता है और क्यों?
11. मारवाड़ की संकटकालीन राजधानी किसे कहा जाता है?
12. किस मुस्लिम इतिहासकार ने हल्दीघाटी के युद्ध में अकबर की तरफ से भाग लिया था?
13. कौन–कौन सी दो उपाधियाँ महाराणा कुम्भा के महान् संगीतज्ञाता होने की प्रमाण हैं?
14. महाराणा सांगा को 'एक सैनिक का भग्नावशेष' क्यों कहा गया है?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. भारत पर अरबों के आक्रमण के क्या कारण थे?
2. अरबों की सिंध विजय के सांस्कृतिक परिणामों का उल्लेख कीजिए।
3. नागभट्ट प्रथम के मुस्लिम प्रतिरोध का वर्णन कीजिए।
4. मुहम्मद गौरी के विरुद्ध पृथ्वीराज चौहान की असफलता के क्या कारण थे?
5. मारवाड़ के इतिहास में राव चन्द्रसेन को समुचित महत्त्व क्यों नहीं मिल पाया?
6. आप कैसे कह सकते है कि महाराणा प्रताप धार्मिक रूप से सहिष्णु शासक था?
7. खानवा के युद्ध में महाराणा सांगा की पराजय के क्या कारण थे?
8. औरंगजेब के विरुद्ध राठौड़–सिसोदिया गठबंधन का मूल्यांकन कीजिए।
9. पुरन्दर की संधि की प्रमुख शर्तों का उल्लेख कीजिए।
10. महाराणा सांगा के समय मेवाड़ और दिल्ली सल्तनत के मध्य संघर्ष का वर्णन कीजिए।
11. शिवाजी की धार्मिक नीति का मूल्यांकन कीजिए।
12. महाराणा प्रताप और राव चन्द्रसेन में क्या–क्या समानता व

असमानता थी?

13. अगर हम्मीर चौहान के स्थान पर आप होते तो अलाउद्दीन खिलजी के विद्रोहियों को लौटाने के प्रति क्या निर्णय लेते और क्यों?
14. एक विजेता के रूप में बप्पा रावल की उपलब्धियों का वर्णन कीजिए।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. महाराणा कुम्भा की राजनैतिक एवं सांस्कृतिक उपलब्धियों का मूल्यांकन कीजिए।
2. महाराणा सांगा व बाबर के मध्य संघर्ष का वर्णन कीजिए।
3. दुर्गादास राठौड़ के जीवन चरित्र व उपलब्धियों पर प्रकाश डालिए।
4. चित्तौड़ पर अलाउद्दीन खिलजी के आक्रमण के कारणों का उल्लेख करते हुए पद्मिनी की कहानी अपने शब्दों में लिखिए।
5. महाराणा प्रताप द्वारा किए गये मुगल प्रतिरोध का मूल्यांकन कीजिए।

उत्तरतालिका – 1. द 2. द 3. अ 4. स 5. द 6. ब 7. ब 8. ब

.....

पश्चिमी राष्ट्रों ने अपने आर्थिक हितों की पूर्ति करने के लिए नये देशों की खोज करके वहां अपना प्रभाव स्थापित किया, व्यापार की सुविधाए प्राप्त की और बाद में साम्राज्य स्थापित किया। 16वीं शताब्दी से 18वीं शताब्दी के मध्य पश्चिमी देशों ने अपने आर्थिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए पुर्तगाल, स्पेन, इंग्लैण्ड, हालैण्ड और फ्रांस ने भौगोलिक खोजों के माध्यम से उचित व अनुचित तरीकों से औपनिवैशिक आक्रमण किये।

अफ्रीका महाद्वीप में इनका व्यवहार अमानवीय था।अफ्रीकीयों को गुलाम बनाकर अमेरिका भेजा जाता था और उन पर अमानुषिक अत्याचार किया जाता था, कोड़े बरसाये जाते थे।

दक्षिणी अफ्रीका में मुख्य रूप से इंग्लैण्ड और फ्रांस दो शक्तियों का औपनिवैशिक आधिपत्य रहा। अंग्रेजों ने यहां भी रंग भेद की नीति अपनायी। अश्वेतों का शोषण एवं उन पर अत्याचार किया जाता था। यहाँ दास प्रथा का प्रचलन था। पश्चिमी देशों के लोग दासों का व्यापार करते थे।

भारत प्राचीन काल से ही एक समृद्धशाली देश रहा है। भारत की सांस्कृतिक धरोहर आर्थि

से होता हुआ मिस्र तक और भूमध्य सागर पार करके यूरोप जाता था। 15वीं शताब्दी में ये मार्ग असुरक्षित होने लगे और 1453 ई. में कुस्तुनतुनिया पर तुर्कों के अधिकार में आने पर ये मार्ग बन्द हो गये। अब भारतीय माल, वस्त्र, मसाले आदि प्राप्त करने के लिए यूरोपीय लोग नये समुद्री मार्ग खोजने लगे। स्पेनवासी कोलम्बस 1492 में भारत की खोज में निकला लेकिन वह अमेरिका पहुँच गया।

प्रथम यूरोपीय जिसने यूरोप से भारत के लिए सीधे समुद्री मार्ग की खोज की वह वास्को–डि– गामा था, जो आशा अन्तरीप के रास्ते होता हुआ मोजाँबिक पहुँचने पर एक भारतीय पथ प्रदर्शक द्वारा 17 मई 1498 में कालीकट पहुँचा, जहाँ हिन्दू शासक जमोरिन ने अतिथि देवोभव की परम्परा से उसका स्वागत किया तथा कुछ सुविधाएँ प्रदान की। लगभग तीन माह भारत में रहकर वह वापस चला गया। 1502 में वास्को–डि –गामा दूसरी बार भारत आया और कन्नानोर, कालीकट, कोचीन में व्यापारिक केन्द्र स्थापित किये।

भारत में पुर्तगाली अधिकृत प्रदेशों का पहला वायसराय था। उसने अपनी समुद्री सैन्य शक्ति को बढ़ाया जिसे नीले पानी की नीति (Blue Water Policy) कहा जाता है। अलफांसो डि अलबुकर्क, भारत में दूसरा पुर्तगाली वायसराय था। इसके समय में पुर्तगाली शक्ति एवं प्रभाव में वृद्धि हुई। बीजापुर शासक युसूफ़ आदिल खां से संघर्ष कर 1510 में गोवा पर अधिकार कर लिया, अब गोआ पुर्तगालियों का प्रधान केन्द्र बन गया। 17वीं शताब्दी के आरम्भ से पुर्तगाली शक्ति का ह्रास होना शुरू हो गया और केवल गोआ, दमन तथा दीव तक सीमित होकर रह गये। 1961 ई. में पुर्तगाली सरकार से स्वतन्त्र होकर ये राज्य भारत के अविभाज्य अंग बन गए।

डच हॉलैण्ड निवासी थे। डच यूनाईटेड ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना कुछ व्यापारियों ने मिलकर 1602 ई. में की। डच सरकार ने कम्पनी को पूर्वी देशों के साथ व्यापार करने का एकाधिकार दे दिया। डचों नें बांटम, मलक्का, जावा, सुमात्रा भारत के मछलीपट्टनम तथा निजामपट्टम में व्यापारिक केन्द्र स्थापित कर दिये।

भारत में डच और अंग्रेज पूर्व में मित्र रूप में दाखिल हुए लेकिन आगे चलकर दोनों शक्तियों में प्रतिस्पर्धा इतनी बढ़ी की 1623 में डचों ने इण्डोनेशिया के अम्बो

स्थापना कर उसे विकसित किया। चन्द्र नगर, बालासोर, कासिम बाजार, में भी फ्रांसीसियों की अपनी बस्तियाँ थी। कम्पनी ने मालाबार तट पर माही तथा कोरोमण्डल तट पर कारीकल में व्यापार का विस्तार किया।

1742 में डूप्ले फ्रांसीसी गवर्नर बनकर भारत आया। इसके समय भारत में अपनी श्रेष्ठता स्थापित करने के उद्देश्य से फ्रांसीसियों और अंग्रेजों के मध्य संघर्ष आरम्भ हुए, जिन्हें कर्नाटक के युद्धों के नाम से जाना जाता है। इसमें अंग्रेजों ने फ्रांसीसियों को परास्त कर भारत में उनके प्रभाव का अंत कर दिया।

ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कंपनी एक निजी कम्पनी होने के कारण अपने काम काज में स्वतन्त्र थी, जबकि फ्रांसीसी कम्पनी को धन के लिए अपने देश (फ्रांस) पर निर्भर रहना पडता था। इससे उसका व्यापार अंग्रेजों जितना सम नही हो सका और अत्यधिक सरकारी हस्तक्षेप के कारण उसका संगठन भी अच्छा ना रह सका।

1. अंग्रेजों का जहाजी बेड़ा फ्रांसीसियों से कहीं अधिक मजबूत था।
2. फ्रांसीसी कर्मचारियों में आपसी समन्वय नहीं था।
3. अंग्रेजों के अधीन भारत का समृद्ध बंगाल प्रान्त आ गया, जिससे उन्हें भोजन तथा अन्न मिलता था। जबकि फ्रांसीसियों को इस प्रकार की कोई सहायता प्राप्त नहीं थी।
4. अंग्रेजों ने फ्रांसीसियों से युद्ध के समय भी व्यापार की तरफ ध्यान दिया जबकि फ्रांसीसियों ने ऐसा नहीं किया जिससे उन्हें अधिक कठिनाइयों का सामना करना पडा।
5. फ्रांसीसी गर्वनर डुप्ले को फ्रांस सरकार ने ऐसे मौके पर भारत से वापस बुला लिया जब यहाँ (भारत) पर उसकी बहुत जरूरत थी।

औरंगजेब की मृत्यु के साथ ही भारत के इतिहास में एक नये युग का पदार्पण हुआ, मुगल साम्राज्य शक्तिहीन हो गया और अंत में उसका पतन हो गया । इस राजनैतिक अस्थिरता में विभिन्न क्षेत्रीय शक्तियों ने अपने आपको

विरूद्व संघर्ष किया, लेकिन हारने के बाद इलाहाबाद की सन्धि कर ली, जिससे अवध कम्पनी का आश्रित राज्य बन गया। 1801 में वेलेजली ने अवध के साथ सहायक सन्धि की और 1856 में डलहौजी ने इसे ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया।

बंगाल– बंगाल मुगल साम्राज्य का सबसे महत्वपूर्ण और समृद्ध प्रदेश था। मुर्शीद कुली खां ने बंगाल में स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की। 1727 में उसकी मृत्यु के बाद उसका दामाद शुजाउद्दीन सूबेदार बना। 1739 में शुजाउद्दीन की मृत्यु के पश्चात सरफराज खां नवाब बना। उसके एक अधिकारी अलीवर्दी खां ने सरफराज को हरा स्वयं को नवाब घोषित कर, मुगल सम्राट से फरमान जारी करवा लिया। अलीवर्दी खां के अंग्रेजों से अच्छे सम्बंधो के बावजूद बंगाल में उन्हें किलेबन्दी नहीं करने दी। अलीवर्दी खां के बाद सिराजुद्दौला नवाब बना। जून 1757 को अंग्रेजों और सिराजुद्दौला के मध्य प्लासी के युद्ध में सिराजुद्दौला पराजित हुआ। बंगाल से ही भारत में अंग्रेजी सत्ता की स्थापना हुई।

मैसूर– 1761 ई. में हैदर अली ने मैसूर की सत्ता पर अपना प्रभाव स्थापित कर लिया और 1766 में राजा की मृत्यु के बाद वह मैसूर का शासक बन गया। उसने सेना का पुर्नगठन व राज्य का विस्तार किया। हैदर अली की मृत्यु के बाद उसका पुत्र टीपू सुल्तान शासक बना। दोनों ने अंग्रेजों से कड़ा संघर्ष किया।

जाट राज्य– जाटों में औरंगजेब की धार्मिक और दमनात्मक नीति के विरोध का नेतृत्व राजाराम और चूडामन ने सम्भाला। चूडामन की मृत्यु के बाद उसके भतीजे बदन सिंह ने जाटों का नेतृत्व सम्भाला। बदन सिंह ने डीग, कुम्हेर, भरतपुर और बेर में सुदृढ दुर्गों का निर्माण करवाया। बदन सिंह भरतपुर का प्रथम शासक था, उसकी मृत्यु के बाद सूरजमल जाट राज्य का शासक बना। उसने अपनी रियासत में शांति एवं समृद्धि प्रदान की।

1732ई. में सूरजमल ने सोगर के जागीर डॉ. खेमकरण सिंह को पराजित किया। इसी वर्ष भरतपुर में किले का निर्माण शुरू किया। 1745 ई. में मुगल सम्राट मुहम्मदशाह व रूहेलों को हराया। 1756 ई. में राजा सूरजमल ने अलवर को अधीन कर लिया। सूरजमल ने अपनी कूटनीति से 1754 ई. मुगल व मराठों की संयुक्त सेना को कुम्हेर से लौटा दिया।

पानीपत के तीसरे युद्ध के समय सदाशिवराव भाऊ की सेना के लिए खाद्य सामग्री व अन्य सामान की व्यवस्था की। पानीपत की पराजय के बाद लगभग एक लाख मराठे भरतपुर आये। महाराजा सूरजमल ने उनके लिए भोजन व वस्त्रों की व्यवस्था की। अपनी तटस्थ नीति के कारण अब्दाली के प्रकोप से अपने राज्य को बताया।

25 दिसम्बर 1763 ई. में हिण्डन नदी के किनारे 6 हजार घुड़सवारो के साथ मुगलों पर आक्रमण किया। मुगल सेना को भागकर जगंल में छिपना पड़ा। महाराज सूरजमल वीर साहसी, कुशाग्र, बुद्धिमान व जाट राज्य का सर्वाधिक योग्य शासक था। अपनी वीरता साहस और चतुराई से अपनी दो जागीरों से राज्य को पूर्व में आगरा, एटा, दक्षिण में धौलपुर, चम्बल, उत्तर में मथुरा, अलीगढ़, लक्ष्मणगढ़, पंजाब व हरियाणा तक विस्तृत था। बुद्विमता और राजनैतिक कुशलता के कारण उसे जाट जाति का ''प्लेटो'' कहा जाता है। महाराजा सूरजमल के समय जाट राज्य

महाराजा सूरजमल

सदाशिवराव भाउ

अपने चर्मोत्कर्ष पर था। 1763 में सूरजमल की मृत्यु के बाद जाट राज्य की शक्ति कमजोर होने लगी।

सिक्ख राज्य– एक प्रमुख राजनैतिक शक्ति के रूप में पंजाब में सिक्ख राज्य का उदय हो चुका था। अहमदशाह अब्दाली के आक्रमण के समय सिक्खों ने पंजाब में उसे टिकने नहीं दिया। समस्त पंजाब को सिक्ख सरदारों ने 12 मिसलों में बांट दिया। आगे चल कर रणजीत सिंह ने इन मिसलों को मिला कर एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की।

राजपूत राज्य– मुगलकाल में केन्द्रीय शक्ति के कमजोर होने पर कुछ राजपूत राज्यों ने स्वतन्त्र होने के प्रयास किए। औरंगजेब की मृत्यु के बाद अजीत सिंह ने पूरे मारवाड पर अपना अधिकार कर लिया। उधर आमेर दूसरा महत्वपूर्ण राज्य था जिसके शासक सवाई जयसिंह के मुगल और मराठों से घनिष्ठ संबंध थे। जयसिंह और बाजीराव दोनो ही मालवा मे हिन्दू प्रभुत्व स्थापित करने को उत्सुक थे। लेकिन आगे चल कर बूँदी के उत्तराधिकारी के प्रश्न को लेकर राजपूत व मराठा सबंध खराब हो गए।

रूहेलखण्ड– अली मुहम्मद खां ने नादिर शाह के आक्रमण पश्चात फैली अव्यवस्था का लाभ उठा रूहेलखण्ड में अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर ली। यह उपजाऊ प्रदेश गंगा तट से कुमायुँ की पहाड़ियों तक फैला हुआ था। आन्दला (बरेली) को अपनी राजधानी बनाया। रूहेलों का जाटों, मराठों से लगातार संघर्ष होता रहता था।

पानीपत का तृतीय युद्ध–

मुगल साम्राज्य के पतन ने उत्तरी भारत को शक्ति शून्य कर दिया था। उधर अफगानिस्तान के शासक अहमद शाह अब्दाली अपने पूर्व में नादिरशाह द्वारा अधिकृत भारतीय प्रदेशों पर अपना अधिकार मानता था। कुछ रूहेल और अफगान पठान भी अब्दाली को भारत पर आक्रमण के लिए प्रेरित कर रहे थे। दूसरी ओर मराठा शक्ति का उत्तर भारत में विस्तार हो चुका था। उन्होंने मुगलों से 1752 में सन्धि कर सुरक्षा व सहायता का वायदा किया। 1757 में अब्दाली ने दिल्ली पर आक्रमण किया और बिना प्रतिरोध प्रचुर धन सम्पदा लेकर वह पुनः

अफगानिस्तान लौट गया। लेकिन लाहौर और पश्चिमोत्तर क्षेत्र को अपने अधिकार में ले लिया। पेशवा बालाजी बाजीराव ने रघुनाथ राव को उत्तर भारत में भेजा। रघुनाथ राव ने दिल्ली में अब्दाली के प्रतिनिधि नजीबुद्दौला को अपदस्थ कर 1758 में पंजाब की ओर बढा और अब्दाली के पुत्र को निकाल कर साबाजी सिन्धिया को पंजाब का गवर्नर बनाया गया। लाहौर भी अब इनके अधिकार में आ गया।

पानीपत का तृतीय युद्ध– (14 जनवरी 1761)

1759 के अन्तिम दिनों में अब्दाली पंजाब में मराठा प्रतिनिधि को खदेड कर दिल्ली के निकट पहुँच गया। पेशवा ने अपने चचेरे भाई सदाशिव राव भाऊ व पुत्र विश्वास राव के नेतृत्व में विशाल सेना अब्दाली के विरूद्ध भेजी, जिसने दिल्ली को अपने नियन्त्रण में ले, पानीपत के मैदान में पहुँच गई। 14 जनवरी 1761 दोनों के मध्य पानीपत का तृतीय युद्ध हुआ। प्रारम्भिक सफलता के बाद मराठों की अन्त में पराजय हुई। सदाशिव राव भाऊ और विश्वास राव वीर गति को प्राप्त हुए। पेशवा इस घटना को अधिक समय तक सहन नहीं कर सका और कुछ समय बाद उसकी मृत्यु हो गई।

मराठों की पराजय के कारण और महत्व– मराठों की दोषपूर्ण सेन्य संगठन व अनुशासन की कमी तथा भारतीय राजाओं और सरदारों में एकता का अभाव हार का प्रमुख कारण था। मराठों को जाट, राजपूत आदि भारतीय शक्तियों से आपसी तालमेल के अभाव में उनके सहयोग से वंचित होना पडा और कुछ देशद्रोही शासकों के अब्दाली को सहयोग करने के कारण मराठों को अकेले संघर्ष करना पडा। इस युद्ध से उत्तरी भारत में मराठा शक्ति को गहरा आघात लगा। मुगल और कमजोर हो गये। ऐसे में पंजाब में सिक्ख शक्ति का विकास हुआ और भारत में अंग्रेजों की सत्ता स्थापना का मार्ग प्रशस्त हुआ।

भारत में उपनिवेशवादी आक्रमण– 18वीं शताब्दी के पूर्वाद्ध में भिन्न भिन्न यूरोपिय शक्तियां पतनोन्मुख मुगल साम्राज्य का स्थान लेने एवं भारतीय व्यापार पर एकाधिकार प्राप्त करने हेतु संघर्षरत थी। धीरे–धीरे पुर्तगालियों और डचों की शक्तियां कमजोर होती चली गई और भारत में अंग्रेज और फ्रांसिसी ही मुख्य प्रतिद्वन्द्वी रह गये । दोनो शक्तियों ने भारत के देशी राज्यों के पारस्परिक झगड़ों तथा उनके उत्तराधिकार के मामलों ने हस्तक्षेप कर उन्हें सैनिक सहायता देना आरम्भ कर दिया । सहायता के बदले उन्होने भारतीय शासकों से भूमि, धन और व्यापारिक सुविधाऐं प्राप्त कर ली, धीरे–धीरे ये व्यापारी एक राजनैतिक शक्ति बन गये और भारत में राजनैतिक प्रभुत्व के लिए संघर्ष आरम्भ हो गया। दक्षिण भारत में फ्रांसिसीयों और अंग्रेजों के मध्य तीन संघर्ष हुए जिन्हे कर्नाटक के युद्ध के नाम से जाना जाता है । प्रथम युद्ध 1746–48 के मध्य, द्वितीय 1749–54 के मध्य और तृतीय 1758–63 के मध्य हुए इन युद्धों ने पूर्ण रूप से भारत में फ्रासिसी साम्राज्य की स्थापना की सम्भावना नष्ट कर दी। अलफ्रेड लायल के कथनानुसार '' भारत में व्यापारिक एवं सैनिक सफलता की दो मुख्य शर्ते थी – तटीय प्रदेशों में दृढ़ मोर्चाबन्दी तथा ऐसी नौ सेना का होना जो यूरोप के साथ संचार का मार्ग खोल सकें। अंग्रेज समुद्र पर अपना गौरव बढ़ा चुके थें और फ्रासिसी स्थल पर भी अपनी शक्ति खो रहे थे।''

बंगाल– मुगल साम्राज्य के अन्तर्गत आने वाले प्रान्तों में बंगाल सर्वाधिक सम्पन्न प्रान्त था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी को 1717 ई. मे मुगल शासक फर्रूखसियर द्वारा दी गई सुविधाओं के परिणाम स्वरूप बंगाल से सीधा सम्पर्क हो गया और उनका हस्तक्षेप बढ़ गया। 1740 ई. में अलीवर्दी खान ने बंगाल में स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया। उसने अंग्रेज और फ्रांसीसीयों को बंगाल में किलेबन्दी की आज्ञा नहीं दी। 1756 ई. में अलवर्दी खान की मृत्यु के पश्चात उसका पोता सिराजुद्दौला बंगाल का नवाब बना। नवाब के राजनीतिक, आर्थिक व अन्य मामलों में अंग्रेजों से मतभेद बढ़ते चले गये जिसके परिणाम स्वरूप 1757 ई. में प्लासी का युद्ध हुआ।

प्लासी के युद्ध के कारण

(1) राजनीतिक– नवाब के विरोधी घसीटी बेगम, राज बल्लभ, शौकत जंग आदि उसको हटाने का षडयंत्र रच रहे थे। दूसरी तरफ अंग्रेजों का यह विश्वास था नवाब भावी संघर्ष में हार जायेगा। इसलिए इन्होंने विरोधियों का साथ दिया और नवाब के किलेबंदी न करने के आदेश की अवहेलना की ताकि भविष्य में उन्हें अधिक सुविधाएँ उपलब्ध हो सके।

(2) नवाब के प्रति अशिष्टता– भारत में प्रायः राज्याभिषेक के अवसर पर शासक के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के लिए महत्वपूर्ण व्यक्ति मूल्यवान भेंट प्रदान करते थे।जब सिराजुद्दौला का सिंहासनारोहण हुआ तो अंग्रेजो ने न तो भेंट दी और न ही उपस्थित हुए। नवाब ने अंग्रेजों की कासिम बाजार फैक्ट्री को देखने की इच्छा व्यक्त की तो अंग्रेजों ने दिखाने से मना कर दिया। उनकी यह कार्यवाही एक प्रकार से नवाब के प्रति अशिष्टता थी।

(3) व्यापारिक झगडा– 1717 ई. में मिले अपने अधिकारों का अंग्रेज दुरूपयोग कर रहे थे। वे अपने दस्तक (Free Pass) को भारतीय व्यापारियों को बेच देते थे। इससे नवाब को आर्थिक नुकसान हो रहा था।

(4) किलेबन्दी करना और आज्ञा का पालन न करना– आंग्ल फ्रांसिसी प्रतिस्पर्धा के कारण अपनी अपनी बस्तियों में किले बन्दी कर रहे थे। नवाब के किलेबंदी न करने के आदेश को फ्रांसीसियों ने मान लिया। नवाब ने अंग्रेजो को लिखा भी "तुम व्यापारी हो, तुम्हें किले की क्या आवश्यकता है, मेरी सुरक्षा में रहते हुए तुम्हें किसी शत्रु का भय नहीं होना चाहिये" लेकिन अंग्रेजों ने किलेबंदी जारी रखी।

(5) नवाब के शत्रुओं को संरक्षण देना– अंग्रेजो की बस्ती नवाब के शत्रुओं के लिए आश्रय स्थल बनी हुई थी। जिनमें दीवान राजवल्लभ और उसका पुत्र कृष्ण वल्लभ प्रमुख थे। जब नवाब ने अंग्रेजों से इन्हें माँगा तो अंग्रेजो ने ऐसा करने से मना कर दिया।

इस प्रकार सिराजुद्दौला और अंग्रेजों के मध्य संघर्ष आरम्भ होने के कारण बन गये। 4 जून 1756 को नवाब ने अंग्रेजों की कासिम बाजार कोठी पर आक्रमण कर कब्जा कर लिया। 15 जून को नवाब की सेना ने फोर्ट विलियम पर घेरा डाला। पराजय

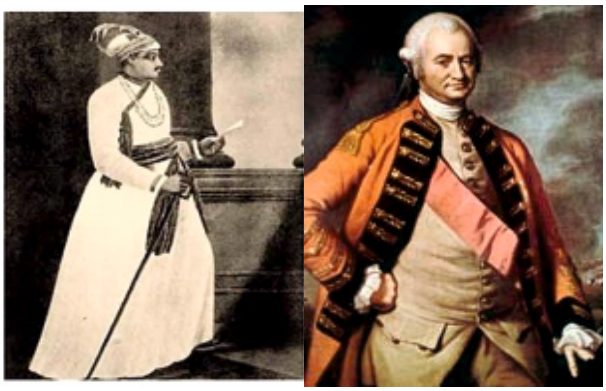

सिराजुद्दौला लॉर्ड क्लाइव

और मृत्यु को सामने देख गवर्नर डेक व अन्य अंग्रेज अधिकारी फुल्टा टापू चले गए।

ब्लैक हॉल दुर्घटना – (कलकत्ता की काल कोठरी घटना)

विद्वानों के अनुसार कलकत्ता के एक छोटे कक्ष जो 18 फुट लम्बे और 14 फुट 10 इंच चौडे छोटे कक्ष में सिराजुद्दौला द्वारा 146 अंग्रेज बन्दियों को 20 जून को रात्रि को बन्द कर दिया गया तथा उनमें से अगले दिन प्रातः मात्र 23 व्यक्ति ही बचे। 123 व्यक्ति दम घुटने से मारे गये। जे. जैड. हॉलवेल जो शेष जीवित में से एक था उसे इसे कथा का रचयिता माना जाता है, जो काल्पनिक प्रतीत होती है, क्योंकि इतने छोटे कक्ष में 146 व्यक्तियों को एकसाथ बन्द करना सम्भव नहीं था। कहा जाता है कि ब्लेक हॉल की कहानी केवल इसनिए गढ़ी गई ताकि भारत स्थित अंग्रेजों के क्रोध को भड़काया जा सके। अंग्रेजों ने छल व कूटनीति के द्वारा अमीचन्द, जगत सेठ, सेनापति सादिक खॉ, राजा मानक चन्द व मीर जाफर के सहयोग से एडमिरल वाटसन व रोबर्ट क्लाइव के नेतृत्व में 2 जनवरी 1757 को कलकत्ता पर पुनः नियन्त्रण कर लिया। 9 फरवरी 1757 को नवाब को अंग्रेजों से अलीनगर की संधि करनी पडी जिससे अंग्रेजों को कलकत्ता की किलेबन्दी, सिक्के ढालने का अधिकार व पुनः व्यापारिक सुविधाएँ बहाल की गई। क्षतिपूर्ति के रूप में नवाब ने कम्पनी को 3 लाख रूपये देना स्वीकारा, बदले में कम्पनी ने नवाब की सुरक्षा का आश्वासन दिया।सप्त वर्षीय युद्ध छिड़ने के कारण अंग्रेजों नें फ्रांसीसियों से चन्द्रनगर छीन लिया। राबर्ट क्लाइव कुटिल व घूर्त था उसने दिखावे के तौर पर सिराजुद्दौला से समझौता किया परन्तु उसके अस्तित्व को समाप्त करने के लिए षडयंत्र रचना आरम्भ कर दिए।

अलीनगर की संधि की पालना को लेकर दोनों में मतभेद बढ गए। क्लाइव ने नवाब के प्रधान सेनापति मीरजाफर को बंगाल का नवाब बनाने का आश्वासन, प्रभावशाली साहूकार जगत सेठ राय दुर्लभ व अमीचन्द को धन का लालच दे अपनी ओर मिला लिया। क्लाइव ने अमीचन्द को तीन लाख रूपये देने का एक संधि पत्र जिस पर 30,000 पाउण्ड एडमिनरल वाटसन के जाली हस्ताक्षर थे, तैयार किया।

प्लासी का युद्ध– मुर्शिदाबाद के दक्षिण में 22 मील की दूरी पर प्लासी के मैदान में 23 जून 1757 को यह युद्ध नाम मात्र का लड़ा गया। नवाब के पास 50000 सैनिक थे जबकि क्लाइव के पास 950 पैदल, 100 तोपची, 50 नाविक तथा 2100 भारतीय सैनिक थे। मोहनलाल व मीरमदान ने नवाब की ओर से वीरतापूर्वक अंग्रेजों का सामना किया तो दूसरी तरफ षड़यन्त्र के अनुरूप मीर जाफर व दुर्लभ राय के नेतृत्व वाला नवाब की सेना का दल निष्क्रिय रहा। नवाब को युद्ध के मैदान से भागना पड़ा। लेकिन पकड़ा गया और मीरजाफर के पुत्र मीरन के हाथों मारा गया।

प्लासी के युद्ध के परिणाम

यद्यपि सैनिक दृष्टि से प्लासी का युद्ध कोई बड़ा युद्ध नहीं था। मेलीसन ने इस युद्ध को निर्णायक युद्ध बताया है, लेकिन यह एक सैनिक झड़प से अधिक कुछ नहीं था। के. एम. पन्निकर के अनुसार "यह एक सौदा था जिसमें बंगाल के धनी सेठों तथा मीर जाफर ने नवाब को अंग्रेजों के हाथ बेच डाला।"

1. बंगाल अंग्रेजों के अधीन हो गया व फिर स्वतन्त्र नहीं हो सका।
2. बंगाल का नवाब मीर जाफर को बनाया गया जो अंग्रेजों की कठपुतली था।
3. 24 परगनो का प्रदेश अंग्रेजों को जागीर के रूप में प्राप्त हुआ तथा कम्पनी के कर्मचारियों को बिना कर चुकाए व्यापार की सुविधा प्राप्त हुई।
4. कलकत्ता में स्वतन्त्र टकसाल की शुरूआत हुई और अगस्त 1757 कम्पनी ने प्रथम सिक्का जारी किया।
5. कम्पनी के बड़े बड़े अधिकारियों व स्वयं क्लाईव को भेंट स्वरूप नवाब द्वारा बहुमूल्य उपहार दिए गए।

प्लासी की विजय वीरता का नहीं बल्कि विश्वासघात एवं षड़यन्त्र का परिणाम थी।

मीर जाफर व बंगाल की द्वितीय क्रांति– 1757–60 तक मीर जाफर बंगाल का कठपुतली नवाब बना रहा इस दौरान वास्तविक शक्ति क्लाइव के हाथों में रही। नवाब ने अपने समय 3 करोड़ रूपये अंग्रेजो को दिये लेकिन अंग्रेजों की मॉग बढती गई। खजाना खाली हो गया, राज्य में कई स्थानों पर विद्रोह आरम्भ हो गये। 1760 में क्लाइव इंग्लैण्ड लौट गया। कार्यवाहक गवर्नर हौलवेल के बाद वेन्सीटार्ट गवर्नर बनकर आया। उसने मीर जाफर द्वारा धन की पूर्ति न किये जाने के कारण बंगाल का नया नवाब मीर कासिम को बना दिया।

वेन्सीटार्ट सन्धि– (27 सितम्बर 1760)

मीर कासिम को भावी नवाब बनाने के लिए वेन्सीटार्ट की यह एक गुप्त संधि थी जिसकी प्रमुख शर्तें निम्न थीः–

1. कम्पनी को बर्दवान मिदनापुर व चटगांव के जिले मिले सैनिक व्यय के रूप में देगा।
2. तीन वर्ष तक सिल्हट के चूने के व्यापार में आधा भाग कम्पनी का होगा।
3. मीर कासिम कम्पनी के मित्र अथवा शत्रुओं को अपना मित्र अथवा शत्रु मानेगा।
4. कम्पनी के दक्षिण अभियान के लिए मीर कासिम 5 लाख रूपये देगा।
5. मीर कासिम वेन्सीटार्ट को 50,000 पोण्ड हालवेल को 27000 पोण्ड, तथा कलकत्ता कोन्सिल के अन्य सदस्यों को 25000 पोण्ड प्रति सदस्य देना स्वीकार किया।

सुरक्षा एवं पेंशन (निर्वाह भत्ता) का आश्वासन के बाद मीर जाफर ने मीर कासिम के लिए गद्दी छोड़ दी और कलकत्ता चला गया।

बक्सर का युद्ध– (22 अक्टूबर 1764)

बंगाल में कम्पनी एक कठपुतली शासक चाहती थी जो समझदार और भीरू हो, जो उनके हितों को पूरा करता रहे। मीर कासिम अंग्रेजों की शक्ति को अधिक बढने से और अपनी शक्ति को कम होने से रोकना चाहता था। इसके लिए उसने प्रशासनिक पुर्नगठन का प्रयास किया, लेकिन भ्रष्टाचार और ब्रिटिश हस्तक्षेप के कारण वह सफल नहीं हुआ। अब आर्थिक मामलों व विभिन्न सुविधाओं को लेकर दोनों में मतभेद बढ़ने लगे जिसका परिणाम बक्सर के युद्ध के रूप में निकला।

युद्ध के कारण

1. नवाब की सम्प्रभुता की चाह अंग्रेजों को पसन्द नहीं आई, नवाब का राजधानी मुर्शिदाबाद से मुंगेर ले जाना, सेना को यूरोपियन विशेषताओं से प्रशिक्षित कराना, शस्त्र निर्माण व गोला बारूद के कारखाने खोलने जैसे कार्यों ने अंग्रेज और नवाब के मतभेद बढ़ा दिए।
2. मुगल सम्राट शाहआलम को अंग्रेजों द्वारा नवाब को नजराने के रूप में 12 लाख रूपये देने के लिए विवश करने को नवाब ने अपनी स्वतन्त्रता पर आघात माना।
3. कम्पनी व उसके अधिकारी बंगाल में मिली व्यापारिक सुविधाओं का दुरूपयोग कर रहे थे। इससे नवाब को राजकोष हानि हो रही थी। नवाब ने भारतीय व्यापारियों को भी यह छूट दे दी। इससे अंग्रेज नवाब से नाराज हो गए।
4. 1760 की संधि में सैनिक व्यय के लिए कम्पनी को मिले तीन जिले बर्दवान, मिदनापुर व चटगांव व उनसे वसूले गये राजस्व को नवाब द्वारा लौटाने की माँग की गई, क्योंकि सेना का प्रयोग नवाब के विरूद्धकिया जा रहा था।

5. मीर कासिम व अंग्रेज के मध्य संघर्ष– कलकत्ता कौंसिल व नवाब के मध्य समझौते के प्रयास असफल रहे दोनों के मध्य युद्ध छिड़ गया। जून 1763 में मेजर ऐंडमज को मीर कासिम के विरूद्ध युद्ध करने के लिये भेजा गया। नवाब की सेनाओं के साथ बहुत सी लड़ाईयाँ लड़ी गई तथा इनमें सबसे प्रसिद्ध लड़ाई कटवाह, गिरिआ, सूती तथा उदयनाला की थी। जब मीर कासिम का पक्ष दुर्बल पड़ गया तो वह पटना की ओर चला गया। अंग्रेजों ने मीर जाफर को पुनः नवाब बनाया।

6. गठबन्धन का निर्माण– मीर कासिम पराजित होने के बाद बचकर अवध के नवाब शुजाउद्दौला के पास सहायता के लिए पहुंचा। इस समय मुगल सम्राट शाह आलम भी अवध मे था। तीनों ने मिलकर अंग्रेजों को बंगाल से बाहर निकालने की योजना बनाई।

बक्सर का युद्ध– 22 अक्टूबर 1764 को बक्सर में अंग्रेजों और तीनों की सम्मिलित सेना (बंगाल का नवाब मीर कासिम, अवध का नवाब शुजाउद्दौला व मुगल सम्राट शाह आलम) के मध्य हुआ। इस युद्ध में अंग्रेज विजयी हुए।

महत्व– इस युद्ध ने प्लासी के निर्णयों पर पक्की मोहर लगा दी। राजनैतिक व सैनिक दृष्टि से इसका महत्व ज्यादा है। भारत में अब अंग्रेजों को चुनौती देने वाला कोई दूसरा नहीं रह गया था। अब नया नवाब इनकी कठपुतली था तो अवध का नवाब उनका आभारी तथा मुगल सम्राट उनका पेन्शनर था। स्मिथ के शब्दों में "बक्सर के युद्ध ने प्लासी के अधूरे कार्य को पूरा किया" के.के. दत्ता ने लिखा है प्लासी के युद्ध की अपेक्षा बक्सर का युद्ध परिणामों की दृष्टि से अधिक निर्णायक था। इस युद्ध से इलाहाबाद तक का प्रदेश अंग्रेजों के नियन्त्रण में आ गया तथा दिल्ली का मार्ग भी खुल गया। इलाहाबाद की संधि द्वारा बंगाल, बिहार और उड़ीसा के दीवानी अधिकार भी कम्पनी के पास चले गये। इस युद्ध ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी को अखिल भारतीय शक्ति बना दिया। अब वे समस्त भारत पर दावा करने लगे थे।

अंग्रेजों का मराठा व मैसूर पर आक्रमण

18वीं शताब्दी में मराठा शक्ति भारत में एक प्रमुख शक्ति के रूप में स्थापित हो चुकी थी। अंग्रेजों का शिवाजी के राज्यरोहण के समय से, पेशवाओं के दरबार में लगातार आवागमन चलता रहा। प्रारम्भ में शक्तिशाली मराठों से टक्कर

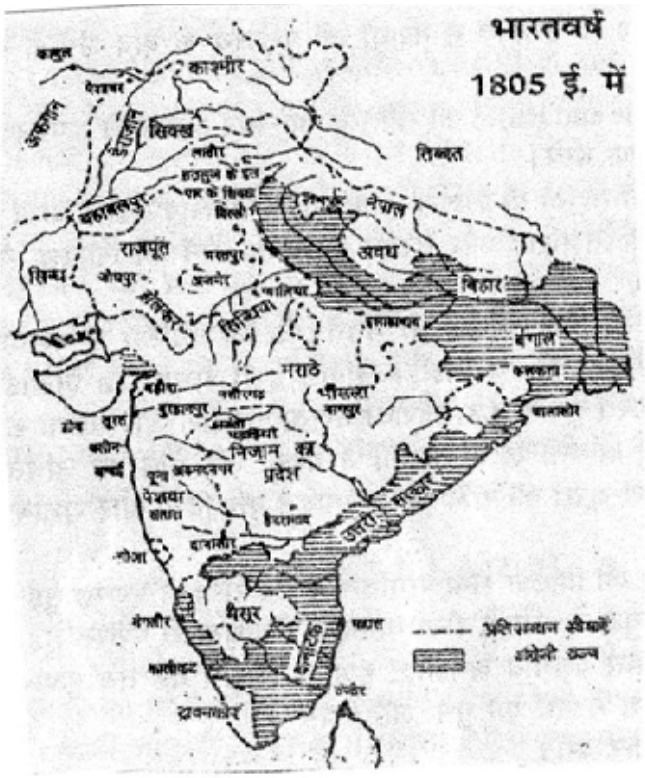

लेने का साहस अंग्रेजों मे नही था। 14 जनवरी 1761 को पानीपत के तृतीय युद्ध में मराठों की पराजय से उनकी शक्ति को करारा आघात लगा। अंग्रेज़ अवसर की तलाश में थे क्योंकि मराठा शक्ति ही उनके लिए सबसे बड़ी चुनौती थी।

1772 ई. में पेशवा माधवराव की मृत्यु के पश्चात उसका भाई नारायण राव पेशवा बना, किन्तु चाचा रघुनाथ राव (राघोबा) जो पेशवा का अंगरक्षक भी था, ने नारायण राव की हत्या कर

1773 में पेशवा बन गया। मराठा नेताओं द्वारा राघोबा के अनैतिक काम का विरोध किया गया और मराठा सरदारों की सभा ने नाना फडनवीस के संरक्षण में नारायण राव के नवजात बच्चे को माधवराव द्वितीय के नाम से पेशवा बना दिया। पेशवा पद प्राप्त करने के लिए अपदस्थ राघोबा ने बम्बई की कम्पनी सरकार से सहायता मांगी और सूरत की संधि कर ली। संधि के अनुसार :–

1. अंग्रेज पेशवा बनने में सहयोग करेंगे और 2500 ब्रिटिश सैनिक पेशवा की रक्षा के लिए पूना में रखे जायेंगे।
2. रघुनाथ राव अंग्रेजों को बम्बई के पास बेसिन, साल्सिट, भडोच व सूरत के लगान का आधा हिस्सा देगा।
3. कम्पनी की अनुमति के बिना किसी से न तो संधि करेगा, न ही किसी यूरोपीयन को नौकरी पर रखेगा।

प्रथम आंग्ल मराठा युद्ध – (1775–1782)

संघर्ष के कारण

रघुनाथ राव के पेशवा बनने की महत्वाकांक्षा और अंग्रेजों द्वारा की गई उसके साथ सूरत की संधि ने संघर्ष को आवश्यक बना दिया।

1. मराठा चुनौती ने अब तक अंग्रेजों की महत्वाकांक्षा को रोक रखा था लेकिन पानीपत के तृतीय युद्ध (1761) में मराठों की पराजय से ये स्थिति बदल गई।
2. मराठा सरदारों की आपसी फूट ने भी अंग्रेजों को मराठों के विरूद्व आक्रमण का अवसर प्रदान किया।
3. बम्बई सरकार के गर्वनर हार्नवे की साल्सिट तथा बेसिन का प्रदेश प्राप्त करने की लालसा ने मराठा राजनीति में हस्तक्षेप को प्रोत्साहित किया।
4. अपदस्थ पेशवा राघोबा के साथ अंग्रेजों द्वारा की गई संधि इस युद्ध का कारण बनी।
5. राघोबा ने सैनिक व्यय के लिए बम्बई सरकार को 6 लाख रूपये दिये और बम्बई सरकार ने कर्नल कीटिंग के नेतृत्व में पेशवा के विरूद्व सेना भेज दी। इस सेना ने ''अर्रा'' के युद्ध में मराठों को पराजित कर दिया। लेकिन इसी समय गर्वनर जनरल वारेन हेस्टिंग्ज ने सूरत की संधि को अवैध घोषित कर पेशवा से पुरन्दर की संधि (1 मार्च 1776) कर ली। लेकिन कम्पनी संचालकों ने बम्बई की संधि को मान्यता दी। परिस्थितियों को देख वारेन हेस्टिंग्ज ने सूरत की संधि का अनुमोदन कर राघोबा को सहायता देने का निश्चय किया।

पुनः युद्ध का आरम्भ– 1778 में संगठित मराठा सेना ने कर्नल इंगर्टन की अंग्रेज सेना को पराजित कर दिया। अतः 29 जनवरी 1779 को मराठा और अंग्रेजों के मध्य बड़गांव की अपमानजनक संधि हुई जिसमें यह तय हुआः–

1. अंग्रेजों द्वारा मराठों के विजित क्षेत्र पुनः मराठों को लौटा देंगे।
2. हर्जाने के रूप में अंग्रेज मराठों को 41000 रूपये देंगे।
3. राघोबा को पेशवा को सौंप दिया जाएगा।
4. भड़ोच जिले की आय सिन्धिया को दी जाएगी।
5 बन्धक के रूप में दो अंग्रेज अधिकारी (फारमर और स्टीवर्ट) मराठों के पास रहेंगे।

यह संधि संगठित मराठा शक्ति की सफलता थी और अंग्रेजों के लिए अपमानजनक घूँट था। वे मराठों से बदला लेने के लिए आतुर थे। वारेन हेस्टिंग्ज ने संधि को अस्वीकार करते हुए कहा था "संधि की शर्तों को पढ़ते ही मैं शर्म से डूब गया" और 1780–81 में पुनः संघर्ष आरम्भ हो गया। अंग्रेज सेनापती गोडार्ड ने पेशवा के विरूद्व पूना पर आक्रमण किया, लेकिन पराजित हुआ। हेस्टिंग्ज की दूसरी सेना जो पोफम के नेतृत्व में थी उसने सिन्धिया को पराजित किया। सीपरी में सिन्धिया पुनः कर्नल कामक की अंग्रेज सेना से पराजित हुआ। सिन्धिया ने पेशवा और अंग्रेजों के मध्य सालबाई (1782) को सन्धि करवा दी। इस सन्धि के साथ ही प्रथम आंग्ल मराठा युद्ध समाप्त हुआ।

1 माधवराव (द्वितीय) को पेशवा के रूप में मान्यता देना तथा राघोबा को वार्षिक पेंशन दे दी गई। अंग्रेजों ने राघोबा का साथ छोड़ने का आश्वासन दिया गया।
2 साल्सिट पर अंग्रेज अधिकार स्वीकार कर लिया गया तथा शेष सभी क्षेत्र मराठों को अंग्रेजों द्वारा लौटा दिये गयो। जिसमें यमुना के पश्चिम में सिन्धिया के क्षेत्र पुनः सिधिंया को मिल गये।
3 फतह सिंह गायकवाड़ को बड़ौदा का शासक स्वीकार कर उसके सारे प्रदेश लौटा दिये गए।

परिणाम – इस संधि से अंग्रेजों व मराठों के मध्य लगभग 20 वर्षों तक शान्ति बनी रही लेकिन संधि से अंग्रेजो को मराठा शक्ति का आकलन करने का अवसर मिला और अपनी शक्ति में वृद्वि का समय मिला। नाना फड़नवीस और सिन्धिया के मतभेद खुलकर सामने आ गये।

यह युद्ध दो चरणों में हुआ पहला 1802–04 व द्वितीय युद्ध 1804–05 तक। 1798 ई. में साम्राज्यवादी लार्ड वैलेजली गवर्नर जनरल बनकर आया। 1800ई. में मराठा दरबार में सिन्धिया और होल्कर में नाना फडनवीस की मृत्यु के बाद अपना वर्चस्व स्थापित करने को लेकर मतभेद प्रारम्भ हो गया। इस समय बाजीराव द्वितीय पेशवा पर सिन्धिया नियन्त्रण स्थापित करने में सफल रहा। 1801 में पेशवा ने जसवन्त राव होल्कर के भाई बिट्टू जी होल्कर की हत्या करवा दी। होल्कर ने पेशवा पर आक्रमण कर दिया। अक्टूबर 1802 को होल्कर ने पेशवा और सिन्धिया

मृत्यु के पश्चात् मराठों को एक करने वाला कोई नेता नहीं रहा। परिणाम स्वरूप मराठा सरदारों में आपसी कलह बढ़ता चला गया और जिसकी परिणिति युद्ध के रूप में हुई।

1798 में लार्ड वेलेजली गवर्नर जनरल बनकर भारत आया जिसका प्रमुख उद्देश्य अपने अंग्रेज साम्राज्य का प्रसार करना था। मराठों पर आक्रमण करने के उद्देश्य से अंग्रेजों ने अपदस्थ पेशवा के साथ बेसिन की संधि कर ली।

1 स्थायी रूप से एक अंग्रेज सेना पूना दरबार में रहेगी जिसका वार्षिक खर्चा 26 लाख रूपये पेशवा अंग्रेजों को देगा।
2 कम्पनी की सहमति के बिना पेशवा न तो किसी से युद्ध अथवा सन्धि करेगा, और न ही किसी यूरोपीयन को अपनी सेना में रखेगा।
3 सूरत शहर अंग्रेजों को सौंप दिया जाएगा।
4 निजाम, गायकवाड़ के साथ सभी विवाद अंग्रेजों को पंच बनाकर निपटाएगा।
5 पेशवा ने निजाम के राज्य से चौथ वसूली का दावा त्याग दिया।

1803ई. में बाजीराव पुनः अंग्रेज सेना के संरक्षण में पेशवा बन गया। जी. एस. सरदेसाई ने लिखा है– "बेसिन की संधि ने शिवाजी द्वारा स्थापित मराठा स्वतन्त्रता का अंत कर दिया"। लार्ड केलसर ने लिखा है– "इस संधि ने अंग्रेजों को अन्तहीन और विवादास्पद झगड़ों में फंसा दिया है और साथ ही तीन महान शक्तियों से शत्रुता में उलझा दिया है।"

यह युद्ध मराठा सरदारों से उत्तर भारत व दक्षिण भारत में एक साथ लड़ा गया। दक्षिण भारत में अंग्रेजी सेना का नेतृत्व आर्थर वेलेजली(ड्यूक ऑफ वेंलिग्टन) के पास था। भौंसले ने अंग्रेजों से संघर्ष किया। अरगांव के युद्ध(1803) में पराजित होने पर भौंसले ने अंग्रेजों से देवगांव की संधि कर ली। उत्तर में जनरल लेक नें सिन्धिया की राजधानी ग्वालियर पर अधिकार कर लिया। लासवाड़ी के युद्ध में पराजित होने पर सिन्धिया ने दिसम्बर 1803 में सुर्जी अर्जुनगांव की सन्धि कर ली। सन्धि से गंगा जमुना के दोआब का प्रदेश अंग्रेजों के पास आ गया। उसने अंग्रेज सहायक सेना रखना स्वीकार कर लिया।

अंग्रेजों का अभी मराठा नेता होल्कर से संघर्ष शेष था। अंग्रेज जब सिन्धिया और भौंसले से युद्ध में व्यस्त थे तब व्यस्तता का लाभ उठाकर होल्कर ने जयपुर पर आक्रमण कर दिया। जयपुर के अंग्रेजों के साथ अच्छे संबंध हो

हाथों में थी। 1761 में हैदर अली मैसूर के नंदराज से सत्ता छीन स्वयं सर्वे सर्वा बन गया। अंग्रेजों को उसकी बढ़ती हुई शक्ति खटकने लगी।

प्रथम आंग्ल– मैसूर युद्ध के कारण(1767–69)

1 हैदर अली और फ्रांसीसियों के मित्रतापूर्ण सम्बन्धों से अंग्रेज नाराज थे।

2 कर्नाटक के नवाब और हैदर अली की शत्रुता थी जबकि अंग्रेज कर्नाटक के मित्र थे इससे भी हैदर अली और अंग्रेजों के सम्बन्ध खराब हुए।

टीपू सुल्तान

हैदर अली

3 मालाबार जो अंग्रेजों का मित्र था, हैदर अली द्वारा उसके भूभाग पर अधिकारी करने से अंग्रेज नाराज हो गये।

अंग्रेजों ने मराठों व निजाम के साथ मिलकर हैदर अली के विरूद्ध एक त्रिगुट संगठन बना लिया। हैदर अली अपनी शक्ति को जानता था, उसने कूटनीति से काम लिया। मराठों को 35 लाख रूपये देकर युद्ध में तटस्थ रहने की बात स्वीकार करवा ली, निजाम को प्रादेशिक लोभ देकर अपनी ओर मिला लिया। 1767 में हैदर अली व निजाम की संयुक्त सेना ने कर्नाटक पर आक्रमण कर दिया। लेकिन वे अंग्रेजों से पराजित हुए। निजाम ने अंग्रेजों से संधि कर ली। मैंगलोर को हैदर अली ने अंग्रेजों को पराजित कर अपने अधिकार में ले लिया। 1769ई से हैदर अली ने मद्रास पर आक्रमण कर उसे घेर लिया। लाचार अंग्रेजों ने उसके साथ 4 अप्रेल 1769 को मद्रास की संधि कर ली। इस संधि के अनुसार दोनों ने एक दूसरे के जीते प्रदेश लौटा दिये तथा बाह्य आक्रमण के समय एक दूसरे को सहयोग देने का वचन दिया।

द्वितीय आंग्ल–मैसूर युद्ध (1780–84)

कारण –

1 अंग्रेज प्रथम युद्ध की हार व अपमान का बदला लेने के लिए आतुर थे।

2 मद्रास की संधि की पालना की दृष्टि से अंग्रेज निष्ठावान नहीं थे और जब मराठों ने मैसूर पर आक्रमण किया तो हैदर अली को सैनिक सहयोग नहीं किया, इससे हैदर अली नाराज था।

3 गुंटूर पर अंग्रेजी अधिकार से हैदर अली नाराज हो गया।

इस बार हैदर अली ने अंग्रेजों के विरूद्ध त्रिगुट बना लिया जिसमें वह स्वयं, निजाम और मराठा शामिल थे। हैदर अली ने जुलाई 1780 में कर्नाटक पर आक्रमण कर अकार्ट घेर लिया, नवाब पराजित हो अंग्रेजों की शरण में मद्रास चला गया। हैदर अली को सफलता मिल रही थी कि दुर्भाग्य से 1782 में उसकी मृत्यु हो गई। मराठा युद्ध से अलग हो गये। हैदर अली के पुत्र टीपु सुल्तान ने युद्ध जारी रखा। युद्ध से परेशान दोनों ने 11 मार्च 1784 को मंगलोर की संधि कर ली, जिसके अनुसार दोनों ने एक दूसरे के विजित क्षेत्र व बन्दियों को रिहा कर दिया तथा अंग्रेजों ने मैसूर में हस्तक्षेप न करने का वचन दिया।

तृतीय आंग्ल–मैसूर युद्ध (1790 –92)

मंगलोर की संधि दोनों पक्षों की मजबूरी थी। मैसूर के प्रभाव को समाप्त करने के लिए अंग्रेज, मराठा और निजाम से मिल गये। टीपू ने फ्रांसिसी सहायता प्राप्ति के लिए असफल प्रयास किये। वह मालाबार की सुरक्षा के लिए कोचीन में स्थित डच दुर्ग खरीदना चाहता था, लेकिन अंग्रेज समर्थित ट्रावनकोर के राजा ने इन्हें खरीद टीपू को नाराज कर दिया, यही तृतीय आग्ल मैसूर युद्ध का तात्कालिक कारण था। कार्नवालिस ने विशाल सेना लेकर मैसूर पर आक्रमण कर दिया। टीपू अधिक समय तक संघर्ष नहीं कर सका और 1792 में श्रीरंगपट्टम की संधि कर ली। इसके अनुसार टीपू का आधा राज्य उससे छीन अंग्रेज और उसके समर्थकों को मिल गया। टीपू ने अंग्रेजों को 3 करोड रूपये क्षतिपूर्ति की राशि और बन्धक के रूप में अपने दो पुत्रों को भी रखना स्वीकार किया।

चतुर्थ–आंग्ल मैसूर युद्ध (1799)

कारण–

1 श्रीरंग पट्टम की संधि टीपू के लिए अपमानजनक थी और राज्य के अंग भंग से वह अंग्रेजों से बदला लेना चाहता था।

2 टीपू द्वारा फ्रांसीसियों से सहयोग व भारत आने के लिए नेपोलियन से किया गया पत्र व्यवहार ने भी मतभेद बढा दिए।

3 टीपू सुल्तान ने वैलेजली की सहायक सन्धि करने के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया।

4 टीपू ने फ्रांसीसियों को सेना में ऊँचे पद दिये व सम्मानित किया जिससे अंग्रेज नाराज हो गए।

5 वैलेजली मैसूर को ब्रिटिश सत्ता के अधीन करना चाहता था। फरवरी 1799 में वैलेजली ने युद्ध की घोषणा कर दी। विशाल अंग्रेज सेना का मुकाबला टीपू ने बड़ी वीरता के साथ किया और मारा गया, उसी के साथ उसका राज्य समाप्त हो गया। जुलाई 1799 में नवस्थापित मैसूर के नये शासक के साथ सहायक संधि करके उसे ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन कर लिया गया।

लार्ड वैलेजली व सहायक सन्धि

अंग्रेजों ने भारत में देशी रियासतों के साथ सन्धि करके अपने अधीन लाने और भारत में अपनी सर्वोच्चता स्थापित करने का नया तरीका अपनाया जिसे सहायक संधि प्रथा के नाम से जाना जाता है। इसका श्रेय सामान्यतया लार्ड वैलेजली को दिया जाता है।

सहायक संधि प्रथा की प्रमुख शर्तें

1 इस संधि को स्वीकार करने वाले राज्यों को अपने यहाँ सुरक्षा व शान्ति के लिए एक अंग्रेज सेना रखनी पड़ती थी। जिसका पूर्ण नियंत्रण कम्पनी के अंग्रेज अधिकारियों के हाथ में था। इसका

व्यय राज्यों को ही वहन करना होता था।
2 राज्यों को कम्पनी की अनुमति के पश्चात् ही किसी यूरोपीय को राज्य की सेवा में रखा जा सकता था।
3 राज्य की राजधानी में एक अंग्रेज रेजिडेन्ट रखना होता था।
4 कम्पनी की अनुमति के बिना वह अपने विदेशी सम्बन्ध नहीं रख सकता था।
5 इसके बदले कम्पनी राज्यों की सुरक्षा की जिम्मेदारी अपने पर लेती थी।
6 कम्पनी राज्यों को आश्वासन देती थी कि वे उनके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगी।
इस संधि से भारतीय राज्य निःशक्त हो कम्पनी पर आश्रित हो गये, अब कम्पनी को रियासतों के व्यय पर विशाल सेना मिल गई। फ्रांसीसियों का रियासतों में प्रभाव पूर्णतया समाप्त हो गया और कम्पनी का रियासतों की विदेश नीति पर नियन्त्रण हो गया।
सहायक सन्धि स्वीकार करने वाले प्रमुख राज्य–
(1) हैदराबाद 1798 (2) मैसूर 1799
(3) अवध 1801 (4) पेशवा 1802

सहायक सन्धि

कम्पनी को लाभः–

1. यह प्रणाली साम्राज्य निर्माण के कार्य में भेदिए शत्रु की भूमिका निभाने लगी। भारतीय राज्य निःशस्त्र हो गए।
2. भारतीय राज्यों के व्यय पर एक बड़ी सेना मिल गई।
3. भारतीय राजाओं की राजधानियों में कम्पनी की सेना रखने से कम्पनी का बहुत से सामरिक महत्व के स्थानों पर नियंत्रण हो गया है।
4. कम्पनी की सेना उसकी राजनीतिक सीमाओं से बहुत आगे चले जाने में सफल हुई।
5. भारत में अन्य यूरोपीय देशों विशेषकर फ्रांसिसी चालों को विफल करने में पूर्णतः सफल हो गई।
6. भारतीय शासकों के आपसी विवादों में मध्यस्थ बन गई।
7. राज्यों में स्थित अंग्रेज रेजिडेन्ट प्रभावशाली हो गए और इनके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने लगे।

देशी राज्यों को हानियाँ

1. निशस्त्रीकरण से और विदेशी सम्बन्धों को कम्पनी के अधीन स्वीकार करने से वे अपनी स्वतन्त्रता खो बैठे।
2. रेजिडेन्टो ने राज्यों के प्रशासन में अत्यधिक हस्तक्षेप करना आरम्भ कर दिया।
3. कमजोर और उत्पीड़क राजा की रक्षा हुई लेकिन जनता को अपनी अवस्था सुधारने से वंचित रखा।

सन्धि स्वीकार करने वाले राज्य शीघ्र ही दिवालिया हो गये। कम्पनी ने प्रायः राज्य की आय का 1/3 भाग आर्थिक सहायता के रूप में राज्यों से लिया।

पंजाब पर आक्रमण और उसका विलय

सिक्खों के 10वें गुरू गोविन्द सिंह जी ने व्यक्तिरूप गुरू के सिद्धान्त को समाप्त करके खालसा पंथ की स्थापना की। अब सिक्खों की पवित्र पुस्तक ''गुरू ग्रन्थ साहिब'' ने गुरू का स्थान ले लिया। कालान्तर में दल खालसा की स्थापना की गई, जिसे छोटे छोटे जत्थों में बाँट दिया। इन्हें मिसल कहा जाता था, ये 12 थीं। इनमें से एक मिसल सुकरचकियां के नेता रणजीत सिंह थे जिन्होंने पँजाब में सिक्ख राज्य स्थापित किया। रणजीत सिंह ने बिखरे हुए सिक्ख राज्यों को एक संगठित राज्य में परिवर्तित करने के प्रयास किये। उनकी निगाहें सतलज नदी के पूर्व में स्थित राज्यों पर थी, जिस पर अंग्रेज भी अपना आधिपत्य चाहते थे। अंग्रेजों ने एक मिशन मैंत्री प्रस्ताव के लिए चार्ल्स मेटकांफ के नेतृत्व में रणजीत सिंह के पास भेजा, फरवरी 1809 में ऑक्टर लोनी ने सतलज के पूर्वी प्रदेशों पर अंग्रेजी नियन्त्रण की घोषणा कर दी। अप्रेल 1809 में अंग्रेजों और रणजीत सिंह के बीच अमृतसर की संधि हुई।

गुरूगोविन्द सिंह

महाराजा रणजीत सिंह

–सतलज नदी को सीमा मान पूर्वी प्रदेशों पर अंग्रेजों के नियन्त्रण को स्वीकार कर लिया गया तथा उत्तर पश्चिम में रणजीत सिंह को विस्तार की छूट दे दी गई।
–संधि की किसी धारा का उल्लंघन पर संधि समाप्त मानी जायेगी।
–दोनों ने एक दूसरे के मित्र बने रहने का वादा किया। लेकिन अंग्रेजों ने उसके बाद राज्य पर आक्रमण कर उसे अपने राज्य में मिला लिया। इस संधि से अंग्रेजों का वर्चस्व सतलज तक कायम हो गया वे उत्तर में सिक्खों के भय से मुक्त हो गए। इससे सिक्ख राज्य के स्थायित्व पर विपरीत प्रभाव पड़ा। रणजीत सिंह की कमजोरी भी प्रकट हो गई। 1831 में अलेक्जेन्डर बर्न्स ने सिन्ध के मार्ग का सर्वेक्षण किया। 1838 में त्रिपक्षीय संधि (रणजीत सिंह, अग्रेंज और शाहशुजा) के अनुसार सिंध के मामले में रणजीत सिंह ने ब्रिटिश मध्यस्थता को स्वीकार कर लिया। रणजीत सिंह संघर्ष नहीं चाहता था लेकिन अफगान युद्ध के समय ब्रिटिश सेना को पँजाब से निकलने की अनुमति नहीं दी। 27 जून, 1839 को लकवे के कारण उनकी मृत्यु हो गई।

प्रथम आंग्ल–सिक्ख युद्ध – (1845–46)

रणजीत सिंह की मृत्यु के पश्चात सरदारों की महत्वकांशा व स्वार्थ जाग उठे। ऐसे में अंग्रेजी गर्वनर जनरल सिक्ख सेना में असन्तोष उत्पन्न करने की योजना बना रहा था और अंग्रेज अपनी साम्राज्यवादी महत्वकांक्षा को पूरी करने के

लिए सेना व तोपों की संख्या लगातार बढ़ाते जा रहे थे। पंजाब में गुटबंदी और राजनैतिक अराजकता के माहौल में डोगरा सरदार गुलाब सिंह और सिक्ख सेना व सामन्तों के संघर्ष ने स्थिति और अधिक खराब कर दी। उधर खालसा सेना पर रानी जिन्दा तथा लाल सिंह का नियन्त्रण कम हो रहा था तो वे उसे अंग्रेजों से लड़ाने का प्रयास करने लगे। अंग्रेज भी युद्ध की तैयारी में लग गये। 1843 ई. में अंग्रेजों ने सिन्ध पर अधिकार कर लिया जिससे सिक्ख नाराज हुए लेकिन सिन्ध तक पहुँचने के लिए पंजाब को जीतना अंग्रेजों के लिए आवश्यक हो गया। 13 दिसम्बर, 1845 में हार्डिग्ज ने युद्ध की घोषणा कर दी। पा

डलहौजी ने स्वीकार नहीं किया और इस बड़े व मुख्य कपास उत्पादक राज्य को 1854 में अंग्रेजी साम्राज्य में मिला लिया गया। जैतपुर (1849) बघार (1850) उदयपुर (1852) तंजौर (1855) आदि राज्य भी व्यपगत के सिद्धान्त के अनुसार ब्रिटिश राज्य में मिला लिये गये । डलहौजी की इस नीति का ाासकों

लार्ड डलहौजी अवध को भी ब्रिटिश साम्राज्य में विलय करना चाहता था। डलहौजी ने अवध रियासत के बारे में कहा था

उसने ब्रिटिश रेजिडेन्ट को राज्य का दौरा कर रिपोर्ट देने को कहा, जिसने नवाब वाजिद अली शाह के विरूद्ध बढ़ा – चढ़ा कर प्रस्तुत की और कुशासन का आरोपी बताया। डलहौजी ने नवाब पर कुशासन व सन्धि भंग का आरोप लगाया 13 फरवरी 1856 को अवध को अंग्रेजी राज्य में मिलाने की घोषणा कर दी। इस प्रकार 1757 से 1856 के मध्य युद्ध, छल–कपट और कूटनीति से कम्पनी राज्य की सीमा

कारण भारत में अंग्रेजों के प्रति गहरा असंतोष था।

सामाजिक कारणः– अंग्रेज जातिभेद की भावना से प्रेरित थे और भारतीयों को घृणा की दृष्टि से देखते थे। भारतीयों के प्रति उनका व्यवहार भी अपमानजनक था। रेल्वे की प्रथम श्रेणी में भारतीयों के लिए यात्रा वर्जित थी, वे अंग्रेजों के साथ किसी प्रकार के सामाजिक उत्सवों में भाग नहीं ले सकते थे। यूरोपीय व्यवसायियों द्वारा संचालित होटलों और क्लबों में भारतीयों का प्रवेश वर्जित था। अंग्रेजों की मनोवृत्ति का अनुमान आगरा के एक मजिस्ट्रेट के आदेश से लगाया जा सकता है, जिसमें उसने कहा था प्रत्येक भारतीय को चाहे उसका पद कुछ भी हो, इस बात के लिए विवश किया जाना चाहिए कि वह सड़क पर चलने वाले हर अंग्रेज को सलाम करे। यदि भारतीय घोड़े पर या गाडी में सवार हो तो उसे नीचे उतर कर तब तक खड़े रहना चाहिए जब तक कि अंग्रेज वहाँ से निकल न जाए।

पाश्चात्य शिक्षा नीति ने भारतीय शिक्षा व्यवस्था को अस्त व्यस्त कर दिया। उनकी शिक्षा नीति का उद्देश्य शासन के लिए लिपिक प्राप्त करना और काले अंग्रेज तैयार करना था। स्थानीय लोगों में गुलामी की मानसिकता तैयार करने के लिए इतिहास का अपने अनुकूल लेखन करवाया। आर्य आक्रमण, मूल निवासी, आर्य–द्रविड़ जैसे भेद खड़े किये। इन बातों से भारतीयों में अंग्रेजों के विरूद्व तीव्र असंतोष था।

धार्मिक कारण– हिन्दू उत्तराधिकार नियमानुसार कोई भी मतांतरण करने पर पैतृक सम्पत्ति से वंचित हो जाता था। लेकिन अंग्रेजों द्वारा पैतृक सम्पत्ति सम्बन्धी कानून बनाया गया। जिसमें अब ईसाई बनने पर वह पेतृक सम्पत्ति के अधिकार से वंचित नहीं होता था। इस तरह हिन्दू धर्म को छोड़ कर ईसाई बनने वालों को अंग्रेजों ने प्रोत्साहित किया। ईसाई मिशनरियों द्वारा आर्थिक प्रलोभन व अन्य उपायों से मतांतरण का नियोजित अभियान किया गया इन्हें राजकीय सहायता मिलती थी। जो व्यक्ति ईसाई मत को स्वीकार कर लेता था, उसे अनेक सुविधाओं के साथ राजकीय सेवा का अवसर मिलता था। इससे हिन्दू और मुसलमान दोनों ही अपने मतों को खतरे में अनुभव करने लगे।

ईसाई पादरियों को 1813 के अधिनियम द्वारा भारत में मजहबी प्रचार की स्वीकृति मिल गई, इन्होंने मत प्रचार के उद्देश्य से न केवल विद्यालयों की स्थापना की वरन् सेना में भी नियुक्ति होने लगी और छावनियों में ईसाई साहित्य का वितरण होने लगा। भारत में मन्दिरों और मस्जिदों की सम्पत्ति अब तक कर मुक्त रही थी, लेकिन इन पर भी अंग्रेजों द्वारा कर लगा दिया गया। कम्पनी के निदेशक मण्डल के प्रधान मैग्लीज ने हाउस ऑफ कामन्स में वक्तव्य दिया ''गॉड ने हिन्दुस्तान के विशाल साम्राज्य को इंग्लैण्ड को इसलिए सौंपा है ताकि ईसाई धर्म का झण्डा हिन्दुस्तान के एक कोने से दूसरे कोने तक सफलता पूर्वक लहराता रहे। ऐसी धटनाओं से भारतीयों में यह शंका व्याप्त हो गई कि अंग्रेज उनके धर्म और संस्कृति को नष्ट करने पर तुले हुए हैं ।

सैनिक कारणः– 1857 की क्रान्ति से पूर्व भी भारतीय सैनिकों ने अंग्रेजों के विरूद्व विद्रोह कर बगावत की थी। बंगाल में 1764 में सिपाही विद्रोह, 1806 में बैल्लुर में, 1824 में बैरकपुर में सैनिकों द्वारा समुद्री मार्ग से बर्मा जाने से इंकार, 1844 में बिना अतिरिक्त भत्ते के सिन्ध जाने से इंकार कर दिया। 1849 में 22वें एन.आई., 1850 में 66वीं एन.आई और 1852 में 38वीं एन.आई. ने विद्रोह कर दिया।

अफगान युद्ध(1839) में अंग्रेजों को पराजय का सामना करना पड़ा और पंजाब के संघर्ष से उन्हें बहुत क्षति हुई। सेना मे अंग्रेजों की तुलना में भारतीय सैनिकों की संख्या लगातार बढती जा रही थी। 1856 में भारतीय सेना में 2,33,000 भारतीय सैनिक और 45,322 यूरोपीय सैनिक थे। क्रिमिया युद्ध में अंग्रेजों की पराजय ने भारतीयों में उनके अजेय होने का भ्रम तोड़ दिया।अवध का अंग्रेजी साम्राज्य में विलय ने बंगाल की सेना में तीव्र आक्रोश व असंतोष उत्पन्न किया क्योंकि बंगाल की सेना में अवध के सैनिकों की संख्या अधिक थी।वेतन, भत्ते, पद व पदौन्नति के संबंध में भारतीय सैनिकों के साथ भेदभाव कर उनकी उपेक्षा की जाती थी। भारतीय सैनिक को वेतन 9 रूपये मासिक जबकि यूरोपीय सैनिक को 60 से 70 रूपये मासिक दिया जाता था।

1856 में लार्ड केनिंग ने सामान्य सेना भर्ती अधिनियम पास कर दिया जिससे अब भारतीय सैनिकों को भारत के बाहर समुद्र पार भी सरकार आवश्यकतानुसार जहाँ सेना भेजे, उन्हें वहाँ जाना पडेगा। इसी प्रकार 1854 में डाकघर अधिनियम के द्वारा सैनिकों को मिल रही निःशुल्क डाक सुविधा को समाप्त कर दिया गया।,इन सब बातों से सैनिकों में अंग्रेजों के विरूद्व विद्रोह की भावना आ चुकी थी। उसे केवल एक चिनगारी की जरूरत थी और वह चिनगारी चर्बी लगे हुए कारतूसों ने प्रदान कर दी।

तात्कालिक कारणः– 1856 में भारत सरकार ने पुरानी बन्दूक ''ब्राउन बैस'' के स्थान पर नई एनफील्ड राईफल्स जो अधिक अच्छी थीं, प्रयोग करने का निश्चय किया । इस नई राइफल से कारतूस के ऊपरी भाग को मुँह से काटना पड़ता था,। जनवरी 1857 में बगांल की सेना में यह बात फैल गई कि नई राईफल्स के कारतूसों में गाय और सूअर की चर्बी का प्रयोग किया गया है। से गाय हिन्दूओं के लिए पवित्र थी और मुसलमानों के लिए सूअर निषिद्ध था। । कारतूसों में चर्बी होने की जाँच की गई। जॉन केयी व लार्ड राबर्टस ने भी इस सत्य को स्वीकारा है। इस घटना से सैनिक भड़क उठे, अंग्रेजों के विरूद्व आक्रोश फैल गया। उनकी यह धारणा बन गई की अंग्रेज हिन्दू और मुस्लिम दोनों का ही धर्म भ्रष्ट करने पर तुले हुए हैं। चर्बी लगे कारतूसों की घटना ने विद्रोह की चिनगारी सुलगा दी और उससे जो धमाका हुआ उसने भारत में अंग्रेजी राज्य की जड़ें हिला दी।

क्रान्ति का विस्तार एवं प्रमुख नायकः

अधिकांश यूरोपीय इतिहासकारों ने 1857 की क्रान्ति को आकस्मिक घटना बताने का प्रयास किया। जबकि अधिकांश विद्वानों का मानना था कि यह क्रान्ति पूर्व नियोजित एक सोची समझी योजना का परिणाम थी। जिसका नेतृत्व विभिन्न प्रदेशों में अलग अलग नेताओं ने किया। योजना के कर्णधार मुख्यरूप से नाना साहब(बाजीराव के दत्तक पुत्र) उनके भाई बाला साहब और वकील अजी मुल्ला थे। क्रान्ति का एक जगह से दूसरी जगह

प्रचार का तरीका चपातियाँ और लाल कमल था। क्रान्ति योजना के अनुसार सम्पूर्ण भारत में एक साथ 31 मई 1857 को आरम्भ करनी थी। लेकिन चर्बी वाले करतूसों की घटना से क्रान्ति तय समय से पूर्व ही हो गई। 29 मार्च 1857 को बैरकपुर की छावनी में सैनिक मंगल पाण्डे ने चर्बी वाले कारतूस को मुँह से काटने से मना कर दिया। उसे बंदी बना लिया गया और फॉसी दे दी गईं। यह इस संघर्ष का प्रथम बलिदान था। मेरठ में 85 सैनिकों ने इन कारतूसों को प्रयोग करने से मना कर दिया, परिणाम स्वरूप उन्हें कैद कर कारावास का दण्ड दिया गया। 10 मई 1857 को सैनिकों ने विद्रोह कर सभी कैदी सैनिकों को मुक्त करवा लिया और वे दिल्ली की ओर चल दिए।

दिल्ली (बहादुर शाह जफर)– क्रान्तिकारियों ने 12 मई को दिल्ली पर अधिकार कर लिया। मुगल सम्राट बहादुर शाह द्वितीय ने क्रान्तिकारियों का नेतृत्व करना स्वीकार कर लिया, उसे भारत का सम्राट घोषित किया गया। इस समय लेफिटनेंट विलोबी ने क्रान्तिकारियों का कुछ प्रतिरोध किया लेकिन पराजित हुआ और भाग निकला। सत्ता के प्रतीक के रूप में दिल्ली पर अधिकार के साथ ही इसे 1857 की क्रान्ति का आरम्भ माना जाता है। विद्रोह शीघ्र ही उत्तरी और मध्य भारत में फैल गया। भारतीय नरेशों को संग्राम में सम्मलित होने के लिए पत्र लिखे गये। लखनऊ, इलाहाबाद, कानपुर, बरेली, बनारस, बिहार के कुछ क्षेत्र झाँसी और कुछ अन्य प्रदेश सभी में विद्रोह हो गया।लार्ड केनिंग ने शीघ्र ही क्रान्ति के दमन की योजना बनाई। भारतीय नरेशों व नेताओं के आपसी सामन्जस्य की कमी का लाभ अंग्रेजों ने उठाया। दिल्ली पर मात्र 5 दिन में ही अंग्रेजों ने अधिकार कर लिया और दिल्ली की जनता से प्रतिशोध लिया गया। दिल्ली में क्रान्ति का वास्तविक नेतृत्व बहादुर शाह जफर के सेनापति बख्त खॉ ने किया। सम्राट को बन्दी बना लिया गयाऔर निर्वासित कर रंगून भेज दिया, जहॉ 1862 में उसकी मृत्यु हो गई।

अवध (बेगम हजरत महल)– लखनऊ में विद्रोह 4 जून को आरम्भ हुआ। बेगम हजरत महल ने अपने अल्प वयस्क पुत्र को नवाब घोषित कर अंग्रेजों के विरूद्ध संघर्ष आरम्भ कर दिया। जमींदारों, किसानों और सैनिकों ने साथ दिया और अंग्रेज रेजिडेन्सी में आग लगा दी जिसमें रेजिडेन्ट हेनरी लारेन्स मारा

बहादुरशाह जफर

कुँवर सिंह

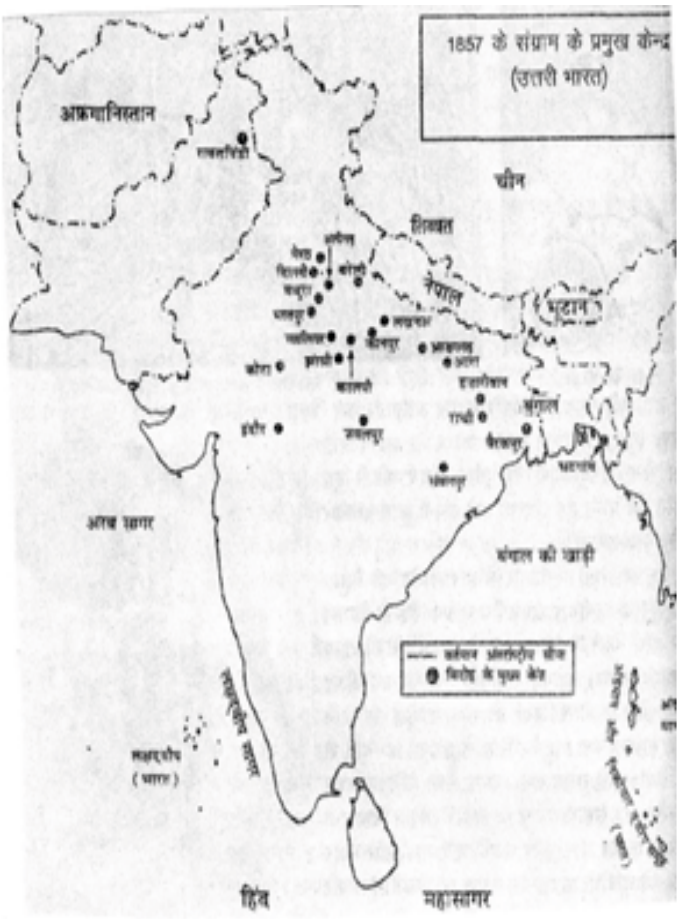

गया। जनरल हेवलॉक और आउट्रम को भी सफलता नहीं मिली ऐसी परिस्थितियों में सर कॉलिन कैम्बेल ने गोरखा रेजिमेन्ट की सहायता से पुनः लखनऊ पर अधिकार स्थापित कर लिया।

कानपुर (नाना साहब व तांत्या टोपे)–

नाना साहब ने अपने दक्ष सहायक तांत्या टोपे और अजीमुल्ला के सहयोग से 5 जून 1857 को कानपुर अंग्रेजों से मुक्त करा लिया। सर कालिन कैम्बेल के नेतृत्व में अंग्रेजों ने पुनः दिसम्बर में अधिकार कर लिया। तांत्या टोपे बच निकले और झाँसी की रानी से जा मिले।

झाँसी (रानी लक्ष्मी बाई)–

जून 1857 के आरम्भ में सैनिकों ने झाँसी में भी विद्रोह कर दिया। ह्यूरोज ने झाँसी पर आक्रमण कर पुनः उस पर अधिकार कर लिया। पराजित होने पर लक्ष्मीबाई काल्पी पहुंची और तांत्या टोपे के सहयोग से ग्वालियर पर अधिकार कर लिया। जून 1858 में अंग्रेजों ने पुनः अधिकार कर लिया, रानी लक्ष्मी बाई वीरता पूर्वक संघर्ष करते हुए वीर गति को प्राप्त हुई। तांत्या टोपे भागने में सफल रहे।

बिहार (कुँवर सिंह)–

बिहार के जगदीशपुर के जमींदार 80 वर्षीय कुँवर सिंह ने क्रान्ति का नेतृत्व किया। उन्होंने आरा जिले के आस पास के

क्षेत्रों को अंग्रेजों से मुक्त करा दिया। अंग्रेज सेनापति मिलमेन, कर्नल डेक्स, मार्क और मेजर डगलस को इस

तत्या टोपे रानी लक्ष्मी बाई

बूढ़े शेर ने धूल चटाई उसने गंगा पार कर अपनी रियासत जगदीशपुर पर अधिकार कर लिया। 26 अप्रेल 1858 को कुँवर सिंह ने अंग्रेजों से युद्ध किया लेकिन उसे अंग्रेजो के विरूद्ध सफलता नहीं मिली।

राजस्थान में बीकानेर, जयपुर, उदयपुर, अलवर, डूँगरपुर, बाँसवाडा, कोटा, बूंदी, धौलपुर, जैसलमेर और सिरोही के शासकों की सहानुभूति अंग्रेजों के प्रति थी। लेकिन राजस्थान की वीर भूमि में स्वतन्त्रता प्रेमियों की कमी नहीं थी। आऊवां के ठाकुर खुशाल सिंह सहित नसीराबाद, नीमच और ऐरनपुरा की अंग्रेज सैनिक छावनियों में क्रान्ति का बिगुल बजाया। मेवाड़ में जनता ने क्रान्तिकारियों को सहयोग किया, कोटा में विद्रोह ने उग्र रूप धारण कर लिया और मेजर बर्टन के दो पुत्रों को मौत के घाट उतार दिया। ठाकुर खुशाल सिंह ने अंग्रेज रेजिडेन्ट माक मासन की गर्दन अलग कर उसे आऊवां के किले पर लटका दिया, लेकिन अंग्रेज सेना ने शीघ्र ही आऊवां पर अधिकार कर ि

नवीनतम अनुसंधान यह स्पष्ट करते हैं कि क्रान्ति का प्रभाव दक्षिण भारत के गोवा, पाण्डिचेरी सहित सुदर दक्षिण तक रहा।महाराष्ट्र में रंगा बापूजी ने अंग्रेजों के विरू जन सेना तैयार कर बेलगाँव, सतारा, कोल्हापुर, आदि स्थानों पर उसका नेतृत्व किया। सतारा और पढ़रपुर में क्रान्ति आरम्भ हुई उसक ब द नासिक, रत्नगिरी और बीजापुर में क्रान्ति की घटनाएं हुई।विशाखापटनम में अंग्रेजों के विरू तेलगु भाषा में पोस्टर चस्पा किये गये। गोलकुण्डा में चिन्ताभूपति ने विद्रोह किया।
बैंगलौर में मद्रास सेना की 8वीं घुड़सवार सेना और 20वीं पैदल ने

1857–58 के मध्य असैनिक और सैनिक विद्रोह

2 फरवरी, 1857	19वीं स्थानीय सेना का बहरामपुरम में विप्लव
10 मई, 1857	मेरठ में सैनिकों का विप्लव
11–30 मई, 1857	दिल्ली, फिरोजपुर, बम्बई,मुरादाबाद, शाहंजहांनपुर तथा अन्य उत्तर प्रदेश के नगरों में विद्रोह कर फूटना।
जून 1857	ग्वालियर, भरतपुर,, झाँसी, इलाहाबाद, फैजाबाद, सुलतानपुर, लखनऊ, आदि में विप्लव गंगा और सिन्ध के मैदानों में, राजपूताने में, मध्य भारत तथा बंगाल के कुछ भागों में असैनिक विद्रोह।
जुलाई 1857	इन्दौर, महू, सागर, झेलम और स्यालकोट, जैसे पँजाब के कु

संक्षेप में कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय भावनाओं की कमी, पारस्परिक समन्वय और सर्वमान्य नेतृत्व का अभाव 1857 की क्रान्ति की असफलता का प्रमुख कारण था।

1857 की क्रान्ति के परिणाम

यद्यपि 1857 की क्रान्ति असफल रही, लेकिन इसके परिणाम अभूतपूर्व, व्यापक और स्थायी सिद्ध हुए। क्रान्ति ने अंग्रेजों की आंखें खोल दी और इन्हें अपनी प्रशासनिक, सैनिक, भारतीय नरेशों के प्रति नीति आदि में परिवर्तन के लिए मजबूर होना पडा।

कम्पनी शासन का अंत– 1 नवम्बर 1858 को महारानी ने घोषणा के द्वारा ब्रिटिश सरकार ने भारत का शासन ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथों से लेकर भारत सरकार अधिनियम (1858) द्वारा ब्रिटिश सम्राट के हाथों में दे दिया। बोर्ड ऑफ कंट्रोल और बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स को समाप्त कर भारत के शासन संचालन हेतु 15 सदस्यों की एक परिषद इंडिया कौंसिल का गठन किया गया जिसके सभापति को भारतीय राज्य सचिव कहा गया। गर्वनर जनरल का पदनाम वायसराय कर दिया गया।

सेना का पुर्नगठन– क्रान्ति का आरम्भ सैनिक विद्रोह के रूप में हुआ था, अतः सेना का पुर्नगठन आवश्यक था। 1861 की सेना सम्मिश्रण योजना "(Army Amalgamation Scheme" के अनुसार कम्पनी की यूरोपीय सेना सरकार को हस्तांतरित कर दी गई। 1861 में पील कमीशन की रिपोर्ट के अनुसार सेना में अब ब्रिटिश सैनिकों की संख्या बढा दी गई। सेना और तोपखाने के मुख्य पद केवल यूरोपीयों के लिए आरक्षित कर दिए गए। इस बात का भी ध्यान रखा गया समुदाय या क्षेत्र के भारतीय सैनिक एक साथ सैनिक टुकड़ियों में न रहे।

भारतीय नरेशों के प्रति नीति परिवर्तन – महारानी की घोषणा के अनुसार "क्षेत्रों का सीमा विस्तार की नीति" समाप्त कर दी गई और स्थानीय राजाओं के अधिकार, गौरव तथा सम्मान की रक्षा का विश्वास दिलाया गया। भारतीय शासकों को दत्तक पुत्र गोद लेने की अनुमति दी गई।

फूट डालो और राज करो नीति को बढ़ावा– 1857 के क्रान्ति में साम्प्रदायिक सौहार्द से घबरा कर अंग्रेजों ने साम्प्रदायिकता, जातिवाद, क्षैत्रवाद आदि संकुचित प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया। फूट डालो और शासन करो उनकी नीति का प्रमुख आधार बन गई।

आर्थिक शोषण का आरम्भः 1857 की क्रान्ति के बाद अंग्रेजों ने प्रादेशिक विस्तार की नीति को छोड कर अपना घ्यान धन की ओर अधिक लगाया। क्रान्ति को दबाने पर होने वाले समस्त वित्तीय का भार भारतीयों पर डाल दिया गया। सार्वजनिक ऋण का ब्याज प्रभार और यहाँ की अर्जित पूँजी लाभ के रूप में भारतीय धन का निष्कासन होकर इंग्लैण्ड जाने लगा।

राष्ट्रीय आन्दोलनों को प्रोत्साहन– 1857 की क्रान्ति के सामूहिक प्रयास से भारतीय के राष्ट्रीय आन्दोलन को गति मिली। क्रान्ति के नायक कुँवर सिंह, लक्ष्मी बाई, तांत्या टोपे, बहादुर शाह जफर, नाना साहब और रंगाजी बापू, गुप्ते आदि स्वतन्त्रता आन्दोलन के अग्रदूत के रूप प्रेरक बने।

क्रान्ति का स्वरूप

इतिहासकारों में क्रान्ति के स्वरूप पर भिन्न भिन्न मत प्रकट किये हैं। यूरोपीय विद्वानों ने इसे सैनिक विद्रोह, मुसलमानों का षडयन्त्र अथवा सामन्ती वर्ग का विद्रोह बताया है। कुछ इसे ईसाईयों के विरूद्वधर्म युद्ध अथवा श्वेत और काले लोगों के मध्य श्रेष्ठता के लिए संघर्ष मानते हैं। कुछ ने बर्बरता तथा सजगता के बीच युद्ध बताया। सैनिक असंतोष से शुरू हुए इस संघर्ष को जन समर्थन से राष्ट्रीय विद्रोह व स्वतन्त्रता संग्राम का रूप प्राप्त हुआ। वीर सावरकर ने भी अपनी पुस्तक में यही मत प्रकट किया है। अंग्रेजों के विरूद्ध यह प्रथम सामूहिक प्रहार था। इसे स्वतन्त्रता का प्रथम संग्राम कहा जा सकता है।

प्रमुख मत

सैनिक विद्रोह– रॉबर्टस जान लारेन्स और सीलें के अनुसार यह केवल "सैनिक विद्रोह" था अन्य कुछ नहीं। चार्ल्स राईक्स के अनुसार यह विद्रोह वास्तव में एक सैनिक विद्रोह ही था, यद्यपि कहीं कहीं पर यह जन विद्रोह भी बन गया। दुर्गादास बंधोपाध्याय और सर सैयद अहमद खां ने भी ऐसे ही विचार प्रकट किये। निःसन्देह यह विद्रोह एक सैनिक विद्रोह के रूप में आरम्भ हुआ लेकिन समाज के प्रत्येक वर्ग ने इसमें भाग लिया, अतः इसे पूर्णतया सत्य नहीं माना जा सकता।

मुस्लिम प्रतिक्रिया– सर जेम्स आउट्रम व डब्ल्यू टेलर के अनुसार यह विद्रोह हिन्दू शिकायतों की आड़ में मुस्लिम षडयंत्र था। यह मुस्लिम शासन की पुनःस्थापना का प्रयास था। मॉलिसन व कूपलैण्ड भी इसी मत का समर्थन करते हैं। लेकिन हिन्दुओं के अधिक संख्या में भाग लेने से यह मत भी पूर्णतया सही नहीं है।

जन क्रांति– कुछ इतिहासकारों का मानना है कि किसान, जमींदार सैनिक और विभिन्न व्यवसायों में लगे लोगों ने इसमें भाग लिया। सर जे केयी के अनुसार यह क्रान्ति श्वेत लोगों के विरूद्व काले लोगों का संघर्ष थी। लेकिन अंग्रेज सेना में अनेक भारतीय थे अतः यह कहना भी सही नहीं है, जिस तीव्र गति से यह विद्रोह फैला उससे यह बात प्रकट होती है कि विद्रोह को जनता का प्रबल समर्थन प्राप्त हुआ। बहुत से स्थानों पर जनता ने क्रान्तिकारियों को पूर्ण सहयोग दिया। डब्ल्यू एच रसेल ने लिखा है कि भारत में गोरे आदमी की गाड़ी को कोई भी मैत्री पूर्ण नजर से नहीं देखता था। केनिंग ने लिखा अवध में हमारी सत्ता के विरूद्ध किया गया विद्रोह बहुत व्यापक था। जोन ब्रूस नार्टन ने इसे जन विद्रोह बताया है। मॉलिसन ने इस विद्रोह को अंग्रेजों को भारत से बाहर निकालने का सामूहिक प्रयास बताया है।

किसान विद्रोह– कुछ विद्वानों ने विद्रोह में किसानों की महत्वपूर्ण भूमिका रहने पर इसे किसान विद्रोह भी बताया है। किसानों ने कम्पनी सरकार के साथ ही जमींदारों व बढ़े ताल्लुकदारों के विरूद्ध भी विद्रोह किए। लेकिन इसे पूर्णतया सही नहीं कहा जा सकता।

राष्ट्रीय विद्रोह– बेन्जामिन डिजरेली जो इंग्लैण्ड के प्रमुख नेता थे, इन्होंने इसे "राष्ट्रीय विद्रोह" कहा है। अशोक मेहता ने भी अपनी पुस्तक "दी ग्रेट रिबेलियन" (The Great Rebellion) में यह सिद्व करने का प्रयत्न किया है कि विद्रोह का स्वरूप राष्ट्रीय था। वीर सावरकर ने भी इस विद्रोह को "सुनियोजित स्वतन्त्रता संग्राम" की संज्ञा दी है। लेकिन पश्चिमी इतिहासकार राष्ट्रीयता का अर्थ यूरोप की 20वीं सदी की राष्ट्रीयता से लेते हुए इसे राष्ट्रीय विद्रोह नहीं मानते। डा. सत्या राय ने अपनी पुस्तक ''भारत में राष्ट्रवाद'' में लिखा है हमे भारतीय परिप्रेक्ष में यूरोपीय परिभाषाओं को लागू नहीं करना चाहिए। राष्ट्रीय भावना के कारण ही सभी वर्गो के लोगों ने बिना मतभेद के आपसी वैमनस्य भुलाकर अंग्रेजों को भारत से बाहर निकालने का सामूहिक प्रयास किया जो राष्ट्रीय विद्रोह की श्रेणी में आता है।

भारत का प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम– कई विद्वानों ने इसे भारत का प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम बताया है। भारत को अंग्रेजों से स्वतन्त्र कराने का यह पहला सामूहिक और राष्ट्र व्यापी संघर्ष था। डा. एस.एन. सेन ने लिखा है "जो युद्ध धर्म रक्षा के नाम पर आरम्भ हुआ उसने शीघ्र ही स्वतन्त्रता संग्राम का रूप धारण कर लिया और इसमें संदेह नहीं कि भारतीय अंग्रेज सरकार को समाप्त करना चाहते थे। वी.डी. सावरकर ने अपनी पुस्तक "वार ऑफ इण्डियन इण्डिपेन्डेन्स" (भारत का स्वातंत्र्य समर) में इसे स्वतन्त्रता का प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम बताया है। डा. आर.सी. मजूमदार ने इस तथ्य की और ध्यान आकर्षित करते हुए बताया कि इस विद्रोह का अप्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रीय महत्व था। इसका वास्तविक स्वरूप कुछ भी क्यों न हो, शीघ्र ही यह विद्रोह भारत में अंग्रेजी सत्ता के लिए चुनौती बन गया और इसे अंग्रेजों के विरूद्व राष्ट्रीय स्वतन्त्रता युद्ध का गौरव प्राप्त हुआ। पण्डित जवाहर लाल नेहरू ने अपनी पुस्तक "भारत एक खोज" में लिखा है– सैनिक विद्रोह के रूप में आरम्भ हुआ यह विद्रोह सैनिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रहा शीघ्र ही यह जन विद्रोह एवं स्वतन्त्रता संग्राम के रूप में परिवर्तित हो गया। डा. ताराचन्द, डा. विश्वेश्वर प्रसाद, एस.बी. चौधरी ने भी इसे स्वतन्त्रता संग्राम माना है।

1857 की क्रान्ति के समय पूरे भारत में अंग्रेज विरोधी भावनाएँ थी। जन साधारण और सभी क्रान्तिकारियों का एक ही लक्ष्य था, अंग्रेजों को भारत से बाहर निकालना। यही लक्ष्य सामूहिक संघर्ष की प्रेरणा बना। अतः इसे भारतीय स्वतन्त्रता का प्रथम उद्घोष कहना उचित होगा, जिसमें राष्ट्रवादी तत्वों का समावेश था।

अध्ययन बिन्दु

- ❖ भारत की समृद्धिने यूरोप वासियों को अपनी और आकर्षित किया।
- ❖ वास्कोडिगामा समुद्री मार्ग से भारत आने वाला प्रथम यूरोपियन था जिसका कालीकट के राजा जमोरिन ने अतिथि के रूप में स्वागत किया।
- ❖ पूर्व से व्यापार करने के उद्देश्य से 1600 ई. ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी, 1602 डच ईस्ट इण्डिया कम्पनी और 1664 ई. में फ्रेंच ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना की गई ।
- ❖ 1717 में अंग्रेजो को मुगल सम्राट के फरमान द्वारा अनेक व्यापारिक सुविधाऐं प्राप्त हुई ।
- ❖ अंग्रेजो ने कर्नाटक के युद्धों में फ्रांसिसीयों को पराजित कर भारत में अपना प्रभुत्व स्थापित किया ।
- ❖ 18वीं शताब्दी में मैसूर, बंगाल, हैदराबाद, अवध, मराठा और जाट प्रमुख प्रान्तीय शक्तियाँ थी।
- ❖ 1757 में प्लासी का युद्ध, 1761 में पानीपत का तृतीय युद्ध तथा 1764 में बक्सर का युद्ध लड़ा गया।
- ❖ महाराजा रणजीत सिंह ने पंजाब में सिख राज्य की स्थापना की। अंग्रेजो ने 1849 में अपनी साम्राज्य वादी भूख का शिकार बना कर उसी कम्पनी राज्य में मिला लिया ।
- ❖ लार्ड वैलेजली की सहायक सन्धि प्रथा तथा डलहौजी के व्यपगत के सिद्धान्त द्वारा ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार किया ।
- ❖ गोद निषेध प्रथा से झाँसी, सतारा, बघाट, उदयपुर, सम्भलपुर, नागपुर आदि तथा कुशासन के आधार पर अवध का कम्पनी राज्य में विलय कर लिया गया ।
- ❖ अंग्रेजो की आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सैनिक नीति 1857 ई. की क्रान्ति का कारण बना।
- ❖ 1857 के स्वतन्त्रता संग्राम के महानायकों में तांत्या टोपे, बहादुर शाह जफर, लक्ष्मी बाई, नाना साहेब, कुँवर सिंह, मंगल पाण्डे, रंगा बापू जी गुप्ते आदि प्रमुख थे ।
- ❖ मेरठ, झाँसी, कानपुर, जगदीशपुर, हैदराबाद, नागपुर, मद्रास, दिल्ली आदि क्रान्ति के प्रमुख केन्द्र थे।
- ❖ विनायक दामोदर राव सावरकर एंव अन्य कई विद्वानों ने 1857 की क्रान्ति को भारत का प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम कहा है ।
- ❖ क्रान्ति की असफलता के मुख्य कारण सर्वमान्य नेतृत्व व आपसी समन्वय का अभाव तथा देशी रियासतों के शासकों का सहयोग न मिलना रहा ।
- ❖ 1858 के अधिनियम द्वारा भारत में कम्पनी शासन का अन्त कर ब्रिटिश क्राउन को सौंप दिया ।

अभ्यासार्थ प्रश्न

ब्हुचयनात्मक प्रश्न (सही विकल्प लिखिए)

1. प्रथम यूरोपीय जिसने यूरोप से भारत के लिए सीधे समुद्री मार्ग की खोज की वह था –
   अ. जमोरिन ब. कोलम्बस
   स. टामस रो द. वास्को डी गामा
2. प्लासी का युद्ध लड़ा गया था–
   अ. 1764 ब. 1857
   स. 1864 द. 1757
3. बंगाल में ईस्ट इण्डिया कम्पनी को 1717 में किस मुगल शासक द्वारा विशेष सुविधाएँ दी गई –
   अ. जहाँगीर ब. शाहआलम
   स. फरूखसियर द. बहादुर शाह
4. पंजाब में सिख मिसल सुकरचकिया का सम्बन्ध था –
   अ. गुलाब सिंह से ब. रणजीत सिंह से
   स. दिलीप सिंह से द. रानी जिन्दा से
5 1857 की क्रान्ति को पूर्व योजना अनुसार किस समय में एक साथ विद्रोह शुरू करना तय किया गया था–
   अ. 31 मई 1857 ब. 10 मई 1857
   स. 31 जनवरी 1857 द. 10 जून 1857
6. 10 मई 1857 को स्वाधीनता संग्राम की शुरूआत कहाँ से हुई –
   अ. मेरठ ब. दिल्ली
   स. बैरकपुर द. कानपुर
7. गोद निषेध नीति लागू करने वाला गवर्नर जनरल था –
   अ. लार्ड डलहौजी ब. वारेन हैस्टिंग्ज
   स. लार्ड वैजेजली द. कार्नवालिस
8. दक्षिण भारत में 1857 के संग्राम को गति देने वाला नायक था–
   अ. कुँवर सिंह ब. रंगा बापू जी गुप्ते
   स. तांत्या टोपे द. कुशाल सिंह

अति लघूत्तरात्मक प्रश्न (दो पंक्ति में उत्तर दीजिए)

1. 1764 में बक्सर का युद्ध किन किन के मध्य लड़ा गया ?
2. नीले पानी की नीति किसे कहा जाता है ?
3. जाट जाति का प्लेटो किसे कहा जाता है ?
4. पानीपत का तृतीय युद्ध कब व किन के मध्य लड़ा गया ?
5. प्रथम आंग्ल मराठा युद्ध की समाप्ति किस सन्धि के द्वारा हुई ?
6. प्रथम आंग्ल मैसूर युद्ध में हैदरअली के विरूद्ध बने त्रिगुट में कौन–कौन शामिल थे ?
7. व्यपगत नीति किस गवर्नर जनरल द्वारा लागू की गई ?
8. ब्रिटिश राज्य में अवघ राज्य का विलय किस आधार पर किया गया था?
9. 1857 से पूर्व अंग्रेजो के विरूद्वहोने वाले दो प्रमुख विद्रोहों के नाम बताइए ?
10. 1857 ई. का संघर्ष किसके नेतृत्व में किया गया ?
11. 1857 ई. की क्रान्ति को किन इतिहासकारों मुस्लिम षड़यन्त्र का परिणाम बताया है ?
12. दक्षिण भारत के चार प्रमुख केन्द्रो के नाम बताइये जहां 1857 की क्रान्ति की घटनाएँ हुई ?
13. 1857 की क्रान्ति का तात्कालिक कारण बताइए ?
14. 1857 की क्रान्ति में नेतृत्व करने वाली दो महिलाओं के नाम बताइए ?

लघूत्तरात्मक प्रश्न (आठ पंक्ति में उत्तर दीजिए)

1. यूरोपवासी किस उद्देश्य को लेकर भारत आए ?
2. कलकत्ता की काल कोठरी घटना क्या थी ?
3. दस्तक प्रथा से क्या तात्पर्य है ? इसका दुरुपयोग कैसे किया जाता था ।
4. सहायक सन्धि प्रथा का अर्थ बताते हुए इसका वास्तविक उदेश्य बताइए ?
5. डलहौजी की व्यपगत नीति पर टिप्पणी लिखिए?
6. पानीपत के तृतीय युद्ध में मराठों की पराजय के कारण बताइए ?
7. ब्लेक हॉल दुर्घटना क्या है ?
8. 1857 की क्रान्ति के सामाजिक कारण बताइए ?
9. भारतीय सैनिकों द्वारा चर्बी वाले कारतूसों का विरोध क्यों में किया गया ?
10. उत्तरी भारत में क्रान्ति के प्रमुख केन्द्र व नेतृत्व करने वालों के नाम बताइए ?
11. 1857 की क्रान्ति की असफलता के दो प्रमुख कारण बताइए ?
12. 1857 की क्रान्ति को राष्ट्रीय विद्रोह की संज्ञा क्यों दी गई ?
13. 1857 की क्रान्ति के पश्चात सैनिक क्षेत्र में हुए सैनिक परिवर्तनों का उल्लेख कीजिए?

निबन्धात्मक प्रश्न (तीन पृष्ठों में उत्तर दीजिए)

1. ''बक्सर के युद्ध ने प्लासी के अधूरे कार्य को पूरा किया'' इस कथन की व्याख्या कीजिए ।
2. हैदरअली व टीपू सुल्तान के अंग्रेजो से संघर्षो का वर्णन कीजिए ।

3. 18वीं शताब्दी में भारत की राजनैतिक स्थिति का वर्णन कीजिए।
4. आंग्ल मराठा युद्धों की प्रमुख परिस्थितियाँ बताइए ।
5. आंग्ल सिक्ख सम्बन्धों पर एक लेख लिखिए।
6. 1857 की क्रान्ति के प्रमुख कारणों का वर्णन कीजिए।
7. 1857 की क्रान्ति का उत्तर व दक्षिण भारत में विस्तार का वर्णन कीजिए।
8. 1857 की क्रान्ति की असफलताओं के कारण बताइए।
9. 1857 की क्रान्ति के स्वरूप की व्याख्या कीजिए।

उत्तरमाला (बहुचयनात्मक प्रश्न)

1 द	5. अ
2. द	6. अ
3. स	7. अ
4. ब	8. ब

अध्याय–7

राजस्थान का स्वाधीनता संग्राम एवं एकीकरण

स्वाधीनता संग्राम– 1857 से 1947 तक

व्यापार के बहाने ईस्ट इण्डिया कंपनी भारत आई, उसके साथ अन्य यूरोपीय जातियाँ भी आई किन्तु अंग्रेजों को अधिक सफलता मिली। अंग्रेजों को एक लाभ यह मिला कि मुगल बादशाह औरंगजेब की मृत्यु के बाद भारत छोटे–छोटे राज्यों एवं रियासतों में बंट गया। यह छोटे–छोटे राज्य आपस में लड़ते रहते थे। राजाओं की आपसी फूट का लाभ उठाकर इस्ट इण्डिया कंपनी ने भारत पर अपना शासन स्थापित कर लिया। लार्ड डलहौजी के शासनकाल में देशी रियासतों में अंग्रेज रेजीडेन्ट का प्रभाव बढ़ गया और रेजीडेन्ट सुरक्षा, कर्ज तथा दत्तक पुत्र का बहाना बनाकर देशी रियासतों को हड़पने लगे।इससे नाराज होकर कई राजा एवं जागीरदार भी अंग्रेजी शासन को समाप्त करने के लिए तत्पर हो उठे।

अखिल भारतीय स्तर पर जहॉ 1857 में क्रान्ति का बिगुल बज उठा तो उसमें मंगल पाण्डे, झांसी की रानी लक्ष्मी बाई व तॉत्या टोपे जैसे क्रान्तिकारियों ने हुंकार भरी– उसी ज्वाला की एक चिनगारी राजस्थान में भी भड़क उठी तथा राज्य की जनता ने उत्साह के साथ क्रान्तिकारियों को क्रान्ति में सहयोग किया।

किसी भी देश में राजनैतिक चेतना आकस्मिक घटना का परिणाम नहीं होती। इसके लिए दीर्घ काल तक साधना और प्रयत्न करने पड़ते हैं।

राजस्थान में जनजागृति के कारण– इस नव राजनीतिक चेतना के कुछ प्रेरक तत्व इस प्रकार हैं–

1. स्वामी दयानंद सरस्वती व उनका प्रभाव– आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द स्वदेशी व स्वराज्य का शंख फूँकने वाले पहले समाज सुधारक थे। 1865 ई. में वे करौली, जयपुर व अजमेर आये। उन्होंने स्वधर्म, स्वदेशी, स्वभाषा व स्वराज्य का सूत्र दिया, जिसे शासक व जनता ने सहर्ष अनुमोदित किया। 1888–1890 ई. के बीच आर्य समाज की शाखाएँ राजस्थान में स्थापित की गई एवं ''वैदिक यंत्रालय'' नामक छापाखाना अजमेर में स्थापित किया गया। 1883 ई. में स्वामी जी ने उदयपुर में ''परोपकारिणी सभा'' की स्थापना की, जो बाद में अजमेर स्थानान्तरित हो गई। इस प्रकार स्वराज्य के लिये प्रेरणा देने का प्रारम्भिक कार्य आर्य समाज ने किया।

2. समाचार पत्रों व साहित्य का योगदान– राजनीतिक चेतना के प्रसार में समाचार पत्रों का योगदान उल्लेखनीय है। 1885 ई. में राजपूताना गजट, 1889 ई. में राजस्थान समाचार, प्रारम्भिक समाचार पत्र थे। 1920 ई. में पथिक ने ''राजस्थान केसरी'' का प्रकाशन आरम्भ किया, जिसने अंग्रेजी नीतियों के खिलाफ अपना स्वर ऊँचा किया। 1922 ई. में राजस्थान सेवा संघ ने ''नवीन राजस्थान'' नामक अखबार निकाला, जिसने कृषक आन्दोलनों के पक्ष में आवाज उठाई। 1943 ई. में नवज्योति, 1939 ई. में नवजीवन, 1935 ई. में जयपुर समाचार, 1943 ई. में लोकवाणी इत्यादि समाचार पत्रों ने राष्ट्रीय स्तर पर राजस्थान की समस्याओं व आन्दोलनों का खुलासा किया व इनके लिए राष्ट्रीय सहमति बनाई।

इसी प्रकार ठाकुर केसरी सिंह बारहठ, जयनारायण व्यास, पं. हीरालाल शास्त्री की कविताओं में देश प्रेम अपनी चरम सीमा पर परिलक्षित होता है। अर्जुनलाल सेठी की कृतियों ने वैचारिक क्रांति उत्पन्न की। इस संदर्भ में महाकवि सूर्यमल्ल मिश्रण द्वारा रचित ''वीर सतसई'' का उद्धरण विस्मृत नहीं किया जा सकता है जिसमें वीर रस व स्वदेश प्रेम का अनूठा सम्मिश्रण है।

3. मध्य वर्ग की भूमिका– यद्यपि राजस्थान का साधारण मनुष्य भी विद्रोह की सामर्थ्य रखता था, फिर भी एक योग्य नेतृत्व उसे मध्यम वर्ग से ही मिला, जो आधुनिक शिक्षा प्राप्त था। यह नेतृत्व शिक्षक, वकील व पत्रकार वर्ग से आया। जयनारायण व्यास, मास्टर भोलानाथ, मघाराम वैद्य, अर्जुनलाल सेठी, विजयसिंह पथिक आदि इसी मध्यम वर्ग के प्रतिनिधि थे।

4. प्रथम विश्वयुद्ध का प्रभाव– राजस्थान के लगभग सभी राज्यों

की सेनाओं ने प्रथम विश्व युद्ध में भाग लिया। जो सैनिक लौटकर आये उन्होंने अपने अनुभव बांटे—नई वैचारिक क्रांति से राजस्थान

लगभग एक हजार मेवाड़ के सैनिकों ने क्रान्तिकारियों का पीछा किया परन्तु उन्हें सफलता प्राप्त नहीं हुई। संभवतः इसका कारण यह था कि मेवाड़ और मारवाड़ के जागीरदारों ने नसीराबाद के विप्लवकारियों को अपने प्रदेश में से आसानी से गुजर जाने दिया। यह तथ्य इस बात का संकेत था कि मेवाड़ और मारवाड़ की सहानुभूति क्रान्तिकारियों के साथ थी।

12 जून, 1857 को डीसा से यूरोपीय सेनाओं की प्रथम टुकड़ी नसीराबाद पहुंची और 10 जुलाई, 1857 को एजेन्ट गवर्नर जनरल के द्वारा इस टुकड़ी को नीमच भेज दिया गया। इस घटना ने नसीराबाद स्थित सैनिकों में पुनः असंतोष को जन्म दिया। 12वीं बम्बई नेटिव इन्फेन्टरी के सैनिक अत्यधिक उत्तेजित हो उठे, परन्तु उन्हें शीघ्र ही निःशस्त्र कर दिया गया। 10 अगस्त, 1857 को बम्बई केवेलरी के सैनिकों ने अपने कमांडर के आदेश को मानने से इनकार कर दिया और अपने अन्य साथियों को भी अपना अनुसरण करने को कहा परन्तु ब्रिटिश सरकार ने कठोर कदम उठाए। एक सैनिक को तत्काल गोली मार दी गई। पांच और सैनिकों को फांसी पर लटका दिया गया तथा शेष सभी भारतीय सैनिकों को निःशस्त्र कर दिया गया। इस प्रकार नसीराबाद में पुनः सुलगती हुई क्रान्ति की आग को तत्काल दबा दिया गया।

नीमच में क्रान्ति

क्रान्ति का दूसरा केन्द्र नीमच बना, जहां 3 जून, 1857 को क्रान्ति फूट पड़ी। 2 जून को कर्नल अबोट ने हिन्दू और मुसलमान सिपाहियों को गंगा और कुरान की शपथ दिलाई थी वे ब्रिटिश शासन के प्रति वफादार रहेंगे, कर्नल अबोट ने स्वयं ने भी बाइबिल को हाथ में लेकर शपथ ली थी, जिससे कि वह अपने अधीन सिपाहियों का पूर्ण क्रान्ति प्राप्त कर सके परन्तु जब 3 जून, 1857 को नसीराबाद के क्रान्ति का समाचार नीमच पहुँचा तो उसी दिन रात्रि के 11 बजे वहाँ भी विप्लव हो गया। स्थल सेना ने समूची छावनी को घेर लिया और उसको आग लगा दी। यहां तक कि ब्रिगेडियर मेजर के बंगले तक को आग लगा दी गई। बंगलों पर तैनात सैनिकों ने क्रान्तिकारियों पर गोली चलाने से इनकार कर दिया और कुछ समय बाद वे भी उनके साथ मिल गए। ऐसा विश्वास किया जाता है कि 2 स्त्रियाँ तत्काल मृत्यु को प्राप्त हुई और अनेक बच्चों को अग्नि की ज्वाला के भेंट कर दिया गया। ब्रिटिश स्त्री पुरुष और बच्चे जो लगभग संख्या में 40 थे, क्रान्तिकारियों के द्वारा घेर लिए गए। यदि उदयपुर (मेवाड़) के सैनिक उचित समय पर सहायता के लिए न पहुँचे होते तो संभवतः उनका जीवन भी समाप्त हो जाता। 5 जून को क्रान्तिकारियों ने आगरा होते हुए दिल्ली के लिए प्रस्थान किया। उन्होंने आगरा जेल में बन्द सभी कैदियों को मुक्त कर दिया और सरकारी खजाने में से एक लाख छब्बीस हजार नौ सौ रूपए लूटकर साथ ले चले, परन्तु आगरा का बाजार सुरक्षित रहा।

नीमच के क्रान्तिकारी देवली भी पहुंचे और उन्होंने छावनी को आग लगा दी। ऐसा विश्वास किया जाता है कि देवली छावनी में कोई भी ब्रिटिश सैनिक हताहत नहीं हुआ, क्योंकि छावनी को पहले ही खाली किया जा चुका था और वहां से ब्रिटिश अधिकारियों को मेवाड़ स्थित जहाजपुर कस्बे में बसा दिया गया था। क्रान्तिकारियों ने कोटा रेजीमेन्ट के 60 व्यक्तियों को देवली छावनी से अपने साथ चलने के लिए बाध्य किया परन्तु रास्ते में ये सैनिक भाग निकलने में सफल हो गए और कुछ दिनों पश्चात् वापस देवली पहुँच गए।

आस–पास के अन्य स्थानों की स्थिति भी विस्फोटक होती जा रही थी। मालवा, महू, सलूम्बर इत्यादि स्थानों पर भी क्रान्तिकारियों के आक्रमण बढ़ते जा रहे थे। उदयपुर स्थित खेरवाड़ा और सलूम्बर की स्थिति अधिक नाजुक बन चुकी थी कि कैप्टन शावर्स के विचार में इन क्षेत्रों की रक्षा करना बहुत मुश्किल हो गया था।

12 अगस्त, 1857 को नीमच में द्वितीय केवेलरी के कमांडर कर्नल जेक्सन ने इस सूचना के आधार पर कि भारतीय सेना में विद्रोह होने वाला है और उनकी योजना समस्त यूरोपीय अधिकारियों की हत्या कर देने की है, यूरोपीय सैनिकों को बुला भेजा। इस घटना ने नीमच स्थित भारतीय सैनिकों को उत्तेजित कर दिया और परिणामतः वहां पुनः क्रान्ति की ज्वालाएं धधकने लगीं। उत्तेजना में एक यूरोपीय सिपाही की हत्या कर दी गई। दो अन्य सिपाही घायल हुए और लेफ्टीनेन्ट व्लियेयर किसी यूरोपीय की बन्दूक से ही घायल हो गए। सैनिकों ने कर्नल जेक्सन के आदेश का पालन करने से इनकार कर दिया। यहां तक कि यूरोपीय अधिकारियों के मध्य भी आदेश दिए जाने सम्बन्धी वाद–विवाद उठ खड़े हुए, अतः यह निश्चय किया गया कि नीमच के क्रान्तिकारियों को दबाने के लिए और अधिक सैनिक बुलाए जाए। परन्तु इसी बीच उदयपुर की सहायता से क्रान्ति को दबा दिया गया।

आऊवा (मारवाड़) ठिकाना व ठाकुर खुशाल सिंह का नेतृत्व

अगस्त, 1857 में क्रान्ति की ज्वालाए समस्त राज्य में फैलने लगीं। 21 अगस्त को एरनपुरा स्थित जोधपुर सेनाओं ने विद्रोह कर दिया और उन्होंने अपने अधिकारियों के आदेश का पालन करने से इनकार कर दिया। परिणामतः लैफ्टीनेंट कारमोली को क्रान्तिकारियों के साथ चलने के लिए बाध्य होना पड़ा, यद्यपि तीन दिन पश्चात् क्रान्तिकारियों ने उन्हें रिहा कर दिया। भील सैनिकों ने भी क्रान्तिकारियों का साथ दिया और ब्रिटिश शासन के साथ सहयोग करने से इनकार कर दिया। क्रान्तिकारियों ने अनेक ब्रिटिश नागरिक एवं परिवारों को अपनी हिरासत में ले लिया, यद्यपि कुछ समय पश्चात् उन्हें भी रिहा कर दिया। तत्पश्चात् आऊवा के ठाकुर खुशाल सिंह ने भी क्रान्तिकारियों को सहयोग देना प्रारम्भ किया, इसका मुख्य कारण यह था कि पिछले कुछ वर्षों से ठाकुर खुशालसिंह और जोधपुर महाराजा के आपसी संबंध तनावपूर्ण थे और वर्तमान परिस्थितियों में ठाकुर खुशालसिंह ने अवसर से लाभ उठाना चाहा।

8 सितम्बर, 1857 को महाराजा जोधपुर की सेनाओं और क्रान्तिकारियों एवं आऊवा के ठाकुर की सशस्त्र सेनाओं के मध्य पाली के समीप बिठोड़ा व चेलावास में संघर्ष हुआ, महाराजा जोधपुर की सेनाओं को न केवल पराजय का ही मुँह देखना पड़ा अपितु उनके अधिकांश अस्त्र–शस्त्र क्रान्तिकारियों के हाथ लगे। जोधपुर किले के किलेदार अनारसिंह और महाराजा के अनेक विश्वासपात्र सहयोगी इस युद्ध में काम आए, यहां तक कि

लैफ्टीनेंट हैटकोच जिसे कि राजस्थान में ब्रिटिश एजेन्ट गर्वनर जनरल लारेन्स ने भेजा था, बड़ी मुश्किल से अपना बचाव कर सका। उसकी समस्त सम्पत्ति क्रान्तिकारियों द्वारा लूट ली गई। इन गंभीर परिस्थितियों को देखते हुए स्वयं जनरल लारेन्स ने आऊवा की ओर कूच करने का निश्चय किया। उसने ब्यावर के समीप सशस्त्र बटालियन तैयार की और आऊवा की ओर चल पड़ा। 18 सितम्बर को जनरल लारेन्स के नेतृत्व में ब्रिटिश सशस्त्र सेनाओं ने आऊवा पर असफल आक्रमण किया, विप्लवकारी सैनिकों ने न केवल आक्रमण को ही विफल किया अपितु अनेक ब्रिटिश अधिकारियों का, जिनमें जोधपुर स्थित ब्रिटिश पोलिटिकल एजेन्ट मौक मेसन एवं एक यूरोपीय अधिकारी भी शामिल था, मार डाला, साथ ही साथ जोधपुर सेना के अनेक सैनिक भी क्रान्तिकारियों के हाथों मारे गए और बंदी बना लिए गए। क्रान्तिकारियों ने मौकमेसन का सर धड़ से अलग करके आऊवा के किले पर लटका दिया जो एक प्रकार से उनकी विजय का प्रतीक था। जनरल लारेन्स को पीछे हटना पड़ा और आऊवा से लगभग तीन मील दूर एक गांव में शरण लेनी पड़ी, तदुपरांत वह अजमेर वापस आया।

गंभीरता से लिया, इसका कारण यह था कि इस घटना का समूचे राजस्थान पर व्यापक प्रभाव पड़ सकता था। अतः ब्रिटिश सरकार ने आदेश दिया कि हर कीमत पर आऊवा ठाकुर को कुचल दिया जाना चाहिए। उधर दूसरी ओर, क्रान्तिकारियों ने रिसालदार, अब्दुल अली, अब्बास अली खॉ, शेख मोहम्मद बख्श और हिन्दू और मुसलमान सिपाहों के नाम पर मारवाड़ और मेवाड़ की जनता से अपील की कि वह उनकी हर संभव सहायता करे। ठाकुर खुशालसिंह ने भी मेवाड़ के प्रमुख जागीरदार ठाकुर समंदसिंह से ब्रिटेन के विरूद्ध सहायता देने का प्रस्ताव किया, ठाकुर समंदसिंह ने और मारवाड़ के अनेक प्रमुख

आपको इस घटना से बिल्कुल अलग बताया, उन्होंने मेजर बर्टन की नृशंस हत्या पर दुःख प्रकट करते हुए ब्रिटेन से क्षमा–याचना की। साथ ही साथ उन्हें ब्रिटेन से यह भी अनुरोध किया कि कोटा से क्रान्तिकारियों को हटाने में ब्रिटिश सैनिक सहायता तुरंत भेजी जाय। वास्तविकता यह थी कि कोटा पर पूर्णतः क्रान्तिकारियों का नियंत्रण था और कोटा महाराव एक प्रकार से अपने ही किले में बंदी थी। अंततः मार्च, 1858 में मेजर जनरल रोबर्ट्स के नेतृत्व में 5500 सैनिकों की एक टुकड़ी क्रान्तिकारियों का सफाया करने के लिए भेजी गई। 29 मार्च को नगर पर आक्रमण आरम्भ हुआ परन्तु क्रान्तिकारी बच निकले और उनका केवल एक सैनिक हरदयाल मारा गया। ब्रिटिश सैनिकों ने गोलाबारी की सहायता से नगर में प्रवेश किया,पर अत्याचार किए और समूचे नगर को धूल–धूसरित कर दिया।

मेवाड़ ठिकाने का अप्रत्यक्ष सहयोग – अंग्रेजी सरकार ने मेवाड़ के सामन्तों के प्रभाव और परम्परागत अधिकारों को कम कर दिया था। नसीराबाद के सैन्य विद्रोह की सूचना उदयपुर पहुँची तो वहां भी जनता ने अंग्रेजी सत्ता के विरूद्ध भावना प्रदर्शित की। अंग्रेज कप्तान शार्वस को कठोर शब्द कहे। सलूम्बर ठाकुर कुशालसिंह और कोठारिया के रावत जोधसिंह ने मारवाड़ के अंग्रेज विरोधी आऊवा ठाकुर और सैनिकों की भी सहायता की। ताँत्या टोपे की भी रसद देकर सहायता की। परन्तु मेवाड़ के सामन्त अंग्रेजी सेना के बढ़ते दबाव, धमकियों और कठोर दमन नीति के कारण प्रत्यक्ष विद्रोह नहीं कर पाए।

अन्य राज्यों का योगदान– जयपुर, टोंक, अलवर, भरतपुर, धौलपुर, डूंगरपुर आदि राज्यों में भी अंग्रेज विरोधी भावना विद्यमान रही। भरतपुर की सेना, गुर्जर तथा मेव जनता ने भी खुल कर विद्रोह में भाग लिया। जयपुर की जनता ने रास्ते से गुजरती अंग्रेजी सेना को अपमानित कर अंग्रेज विरोधी भावना व्यक्त की। टोंक के नवाब की सेना ने भी विद्रोह किया। बकाया वेतन वसूला तथा दिल्ली गए।

तांत्या टोपे का राजस्थान ठहराव– 1857 ई. के स्वतंत्रता संग्राम में तांत्या टोपे का राजस्थान आगमन महत्वपूर्ण घटना है। तांत्या टोपे की इस यात्रा ने जागीरदारों सैनिकों तथा जन–साधारण में उत्तेजना का संचार किया। ग्वालियर में असफल होने पर तांत्या टोपे सहायता की आशा में हाड़ौती होते हुए जयपुर की ओर बढ़ा। सहायता न मिलने पर वह लालसोट होते हुए टोंक आ गया। ब्रिगेडियर होम्स उसका पीछा कर रहा था। टोंक में सेना ने उसका समर्थन किया। यहां से वह सलूंबर चला गया। सलूंबर के रावत ने उसकी सहायता की। अंग्रेजों को तांत्या टोपे ने 9 अगस्त 1858 को हराया पाँच दिन बाद बनास नदी के तट पर पुनः तांत्या टोपे की पराजय हुई। इसके बाद तांत्या हाड़ौती में आ गया तथा सने झालरापाटन पर अधिकार कर लिया। स्थानीय जनता ने उसे पूर्ण सहयोग दिया। लेकिन इसके बाद सितंबर माह में ही अंग्रेजों ने उसे दो बार हराया। विवश तांत्या टोपे राजस्थान से चला गया।

दिसम्बर 1858 ई. में तांत्या टोपे पुनः राजस्थान आया तथा बांसवाड़ा पर अधिकार कर लिया। यहां से वह सलूंबर आया। यहां उसे पूरी सहायता दी गई। तांत्या टोपे दौसा तथा सीकर भी गया। यहां अंग्रेजी सेनाओं ने उसे पराजित कर खदेड़ दिया। नरवर के जागीरदार मानसिंह ने विश्वासघात करके तांत्यां टोपे को अंग्रेजों के हाथों पकड़वा दिया। अप्रैल 1859 ई. में तांत्या टोपे को फाँसी दे दी गई।

क्रान्तिकारियों का अविस्मरणीय योगदान

सन् 1905 के बाद बदली हुई राजनीतिक परिस्थितियों को अंग्रेजी साम्राज्यवाद ने स्वीकार न करते हुए दमन चक्र तेज कर दिया। देशी राज्यों ने भी अंग्रेजी रूख को देखते हुए अपनी रियासतों में सभी राष्ट्रवादी गतिविधियों पर अपना शिकंजा कस दिया। राजस्थान क्षेत्र में जहां राजनीतिक व्यवस्था उत्तरदायित्वहीन नौकरशाही पर आधारित थी, वहीं दूसरी ओर सामाजिक व्यवस्था सामंतवाद पर टिकी थी। ऐसी परिस्थितियों में आर्य समाज जैसी सामाजिक संस्थाओं ने राजनीतिक चेतना जागृत करने का बीड़ा उठाया। बंगाल में क्रांतिकारी गतिविधियाँ जोर पकड़ने लगी। बंगाल में सक्रिय इन क्रान्तिकारियों ने राजपूताना में भी सम्पर्क स्थापित करके अपने कार्य क्षेत्र को विस्तार दिया। इन क्रान्तिकारियों में विजय सिंह 'पथिक', पं. अर्जुनलाल सेठी, केसरी सिंह बारहठ, राव गोपाल सिंह खरवा आदि का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है।

विजय सिंह पथिक– बिजौलिया आंदोलन का नेतृत्वकर्ता विजय सिंह 'पथिक' का मूल नाम भूपसिंह था। बिजौलिया आने से पूर्व वे एक क्रांतिकारी थे, वे रास बिहारी बोस के अनुयायी थे। रास बिहारी बोस ने देश व्यापी क्रान्ति के लिये उन्हें राजस्थान भेजा। किन्तु क्रान्ति असफल होने के कारण वे पकड़े गये और टाटगढ़ की जेल में बंद कर दिये गये। छूटने के बाद वे चित्तौड़ के ओछड़ी गाँव में बस गए। उन्होंने ही बिजौलिया आंदोलन का नेतृत्व स्वीकार किया। कृषकों की समस्याओं का उन्होंने 'प्रताप' समाचार पत्र के माध्यम से अखिल भारतीय स्तर पर प्रचारित किया। 1919 में वर्धा में राजस्थान सेवा संघ की स्थापना की और 1920 में उसे अजमेर स्थानान्तरित कर दिया। ''नवीन राजस्थान'' समाचार पत्र का प्रकाशन भी अजमेर से शुरू हुआ। 1922 में पथिक जी के प्रयासों से कृषकों व प्रशासन के बीच समझौता हुआ। बिजौलिया का आंदोलन जब बेगूं में फैला तो पथिक जी ने वहां के आन्दोलन की भी बागडोर संभाली और उन्हें तीन साल के लिये कारावास की सजा दे दी गई। कारावास से छूटने के बाद वे निर्वासित कर दिए गए। 1927 में जब बिजौलिया में माल भूमि छोड़ने का प्रश्न उठा तो पथिक जी ने कृषकों को भूमि छोड़ने की सलाह दी। वे सम्भवतः बदली हुई राजनीतिक परिस्थितियों को भांप नहीं पाये। भूमि जब्त होने पर किसानों का मनोबल टूटा। पथिक जी के हाथों से नेतृत्व निकल कर अखिल भारतीय स्तर पर स्थानान्तरित हो गया।

पं. अर्जुन लाल सेठी– 1880 ई. में जयपुर में जन्मे अर्जुनलाल सेठी प्रारंभिक काल में चौमू ठिकाने के कामदार नियुक्त हुए। किन्तु देशभक्ति की भावना के कारण अपने पद से त्याग पत्र देकर उन्होंने 1906 ई. में जैन शिक्षा प्रचारक समिति की स्थापना की, जिसके तत्वाधान में जैन वर्धमान पाठशाला स्थापित की गई। 1907 ई. में अजमेर में जैन शिक्षा सोसायटी की स्थापना की, जो 1908 ई. में जयपुर स्थानान्तरित कर दी गई। अर्जुनलाल सेठी ने

बंगाल के स्वदेशी आन्दोलन में भी सक्रिय भाग लिया व 1907 ई. की सूरत कांग्रेस में भी भाग लिया। धीरे–धीरे वर्धमान विद्यालय क्रान्तिकारियों का प्रशिक्षण केन्द्र बन गया। 12 दिसम्बर 1912 ई. को भारत के गर्वनर जनरल लार्ड हॉर्डिंग्स के जुलूस पर बम फैंके जाने की घटना के पीछे रूपरेखा सेठी जी की ही थी। इस घटना के मुख्य आरोपी जोरावर सिंह बारहठ सेठी के ही शिष्य थे। 20 मार्च 1913 ई. के आरा हत्याकांड में भी सभी आरोपी सेठी जी के घनिष्ठ थे। इस प्रकार राजपूताना की क्रान्तिकारी गतिविधियों के संचालक सेठी जी थे। तत्कालीन ए.जी.जी. सी. आर्मस्ट्रांग ने 1914 ई. में जयपुर सरकार को सेठी जी की गतिविधियों के बारे में सावधान किया। उनके जयपुर राज्य में प्रवेश पर प्रतिबंध लगा दिया गया। काकोरी कांड के मुख्य आरोपी अशफाकउल्ला खां को सेठी जी ने ही राजस्थान में छुपाया।

लम्बे समय तक आरा हत्याकांड व दिल्ली षड़यंत्र के आरोप में वे नजरबंद रहे। बंदी बनाकर उन्हें वैलूर (मद्रास प्रेसीडेंसी) भेजा गया, जहॉ दुर्व्यवहार के कारण वे 70 दिन अनशन पर रहे। जब 1919 ई. में वे रिहा हुए तो 1920 ई. की नागपुर कांग्रेस को सफल बनाने में जुट गये। इस प्रकार क्रान्तिकारी गतिविधियें के बाद उन्होंने कांग्रेस की नीतियों को समर्थन देना आरम्भ किया। असहयोग आंदोलन में सक्रिय भाग लेने के कारण 1921 ई. में वे पुनः बंदी बनाये गये। 1930 ई. के सत्याग्रह आंदोलन में वे राजपूताना के प्रान्तीय डिक्टेटर नियुक्त किये गये व 1934 ई. में वे राजपूताना व मध्य भारतीय प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के प्रांतपति चुने गये। नीति सम्बंधी मतभेदों के चलते उन्होंने सक्रिय राजनीति से संन्यास ले लिया।

सेठी जी अत्यन्त स्वाभिमानी व्यक्ति कुशल संचालक व ओजस्वी वक्ता थे। जब उन्हें जयपुर के प्रधानमंत्री का पद प्रस्तावित किया गया तो उन्होंने कहा ''श्रीमान् अर्जुनलाल नौकरी करेगा तो अंग्रेजों को कौन निकालेगा?'' अर्जुनलाल सेठी के राजनीतिक कद का अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि जब गांधीजी अजमेर आये तो स्वयं सेठी जी से मिलने उनके निवास स्थान पहुंचे। कुशल वक्ता होने के अतिरिक्त उन्होंने कुछ पुस्तकें भी लिखीं, जैसे शूद्र मुक्ति व स्त्री मुक्ति। एक नाटक 'महेन्द्र कुमार' भी लिखा व मंचित करवाया। वे आजीवन सांप्रदायिक सद्भाव के लिये प्रयासरत रहे। 22 सितम्बर 1941 ई. को अजमेर में उनका देहान्त हो गया।

सागरमल गोपा– जैसलमेर में जन–जागृति का श्रेय सर्वप्रथम सागरमल गोपा को जाता है। 1940 ई. में उन्होंने जैसलमेर का गुण्डाराज नामक पुस्तक छपवाकर वितरित की। इस पर दरबार (महारावल) द्वारा निवासित होकर वे नागपुर चले गऐ। 1941 ई में पिता की मृत्यु पर जब गोपा जी जैसलमेर आये तो उन्हें 1942 ई. में छः वर्ष कठोर कारावास की सजा दी गई।

जेल में उन्होंने अमानवीय व्यवहार के बारे में जय नारायण व्यास को पत्र भेजे। 3 अप्रैल 1942 ई. को गोपा जी के जेल में ही तेल डालकर जला कर मार डाला गया। इस एक घटना ने जैसलमेर के जन–मानस को झकझोर डाला अैर निरकुंश शासन का विरोध तीव्र हो गया और अन्ततोगत्वा प्रजा मण्डल के नेतृत्व में आजादी का सूरज उदय हुआ।

दामोदर दास राठी (1882–1918)– राजस्थान के अग्रणी स्वतंत्रता प्रेमियों में दामोदर दास राठी का नाम लिया जाता हे। ये उद्योगपति थे और राव गोपाल सिंह व अरविन्द घोष के सम्पर्क में रहे। इन्होंने ब्यावर में आर्य समाज व होम रूल आंदोलन की शाखा खोली। तिलक की उग्र नीति के ये प्रबल समर्थ थे।

स्वामी गोपाल दास (1882–1939)– इन्होंने बीकानेर क्षेत्र के चुरू क्षेत्र में स्वतंत्रता की अलख जगाकर हितकारिणी सभा की स्थापना के साथ–साथ इन्होंने शिक्षा की प्रगति के लिए भी कार्य किये। दूसरे गोलमेज सम्मेलन में जब बीकानेर के महाराजा के विरूद्ध अखिल भारतीय देशी राज्य लोक परिषद् के कार्यकर्त्ताओं ने पर्चे बाटे तो स्वदेश लौटकर महाराजा ने सभी सावर्जनिक नेताओं को बिना मुकदमें चलाए बंदी बना दिए जिसमें स्वामी गोपाल दास भी सम्मिलित थे।

केसरी सिंह बारहठ– केसरी सिंह बारहठ का जन्म 21 नवम्बर 1872 ई. को मेवाड़ राज्य की शाहपुरा रियासत के ठिकाना देवपुराखेड़ा में हुआ। अपने पिता से उन्होंने विदेशी दासता के प्रति विरोध सीखा। मेवाड़ के महाराणा के विश्वस्त बन कर उन्होंने श्यामकृष्ण वर्मा को 1893 ई. में मेवाड़ आमंत्रित किया। यह कदम अंग्रेजों को सहन नहीं हुआ और मेवाड़ के पोलिटिकल एजेन्ट के कहने पर उन्हें नौकरी से निकाल दिया गया। 1900 ई. में कोटा के महाराव के आग्रह पर वे कोटा आ गये और 1902 ई. से 1907 ई. तक कोटा राज्य में 'सुपर इन्टेंडेंट ऐथिनोग्राफी' पद पर कार्य करते रहे। उनका संपर्क निरन्तर अर्जुनलाल सेठी व गोपाल सिंह खरवा से बना रहा और शीघ्र ही वे रासबिहारी बोस के विश्वासपात्र बन गये। राजस्थान में सशस्त्र क्रांतिकारी दल के संगठन का पूर्ण दायित्व केसरी सिंह पर आ गया। उन्होने सशस्त्र क्रांति के लिये साधन जुटाने व लड़ाकू सैनिक जातियों को संगठित करने का कार्य आरंभ किया। शीघ्र ही उनकी प्रतिष्ठा कवि, लेखक व राष्ट्र सेवक के रूप में फैल गई।

1903 ई. में जब महाराणा फतेहसिंह ने दिल्ली दरबार में जाने की स्वीकृति दी तो केसरी सिंह ने इस कृत्य की निंदा स्वरूप महाराणा को 13 सोरठ 'चेतावनी री चूंगट्या' भेजे जो उन्हें रेलमार्ग से जाते समय मिले। इन्हें पढ़ कर महाराणा का मंतव्य बदल गया और दिल्ली पहुंचकर भी वे दरबार में सम्मिलित नहीं हुए। इस घटना के बाद केसरी सिंह अंग्रेजों की आंख की किरकिरी बन गये। सरकारी गोपनीय रिपोर्ट के अनुसार उनके सम्बंध रासबिहारी बोस, शचीन्द्रनाथ सान्याल, मास्टर अमीरचन्द, अवध बिहारी जैसे क्रान्तिकारियों के साथ बताए गए। उन पर राजद्रोह, ब्रिटिश फौज के भारतीय सैनिकों को शासन के विरूद्ध भड़काने व षड़यंत्र में सम्मिलित होने के साथ–साथ प्यारेराम नामक साधु की हत्या का आरोप भी लगाया गया। उन्हें बीस वर्ष की सजा सुनाई गई और बिहार प्रान्त के हजारीबाग सेन्ट्रल जेल में रखा गया। 1920 ई. में बारहठ जी ने जेल छूटने के बाद उन्होंने राजपूताना के ए.जी.जी. को पत्र लिखकर राजपूताना व

भ

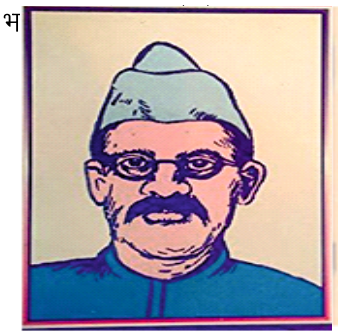

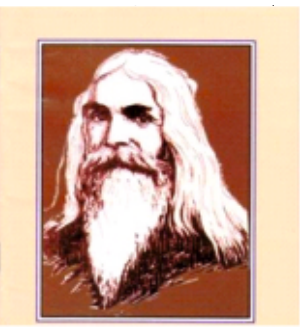

अर्जुनलाल सेठी केसरी सिंह बारहठ

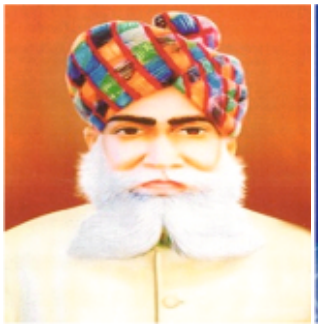

जोरावरसिंह बारहठ प्रतापसिंह बारहठ

की योजना प्रेषित की। 1929 ई. के बाद बारहठजी के विचार अहिंसात्मक हो गए। कांग्रेस के वर्धा अधिवेशन में वे आमंत्रित किये गये। 1941 ई. में उनका स्वर्गवास हो गया।

केसरी सिंह बारहठ हिन्दी भाषा के पक्षधर थे। उन्होंने क्षत्रिय जागीरदारों व उमरावों को परामर्श दिया कि वे मेयो कालेज के स्थान पर स्वदेशी शिक्षण संस्थाओं में अपने बच्चों को शिक्षा दिलायें। 1904 ई. में उन्होंने क्षत्रिय कालेज की भी रूपरेखा बनाई किन्तु उसे समर्थन नहीं मिला। 1908 ई. में उन्होंने एक योजना द्वारा उच्च शिक्षा को प्रोत्साहन करने के लिए इंग्लैंड के स्थान पर छात्रों को जापान भेजना प्रस्तावित किया। इस प्रकार स्वतंत्र प्रेम के साथ–साथ बारहठ जी ने मातृ भाषा व स्वदेशी शिक्षण संस्थाओं के प्रोत्साहन में भी कोई कसर नहीं रखी।

प्रतापसिंह बारहठ– प्रतापसिंह अपने पिता केसरीसिंह बारहठ के पद्चिह्नों पर चलते हुए देश के लिए शहीद हो गए। प्रारम्भिक शिक्षा अर्जुनलाल सेठी से ग्रहण करने के बाद व्यावहारिक शिक्षा के लिये मास्टर अमीरचंद के पास रहे। राजपूताने की सैनिक छावनियों में भारतीय सैनिको को भविष्य में सशस्त्र क्रान्ति हेतु तैयार करना आरंभ किया। 1912 ई. के दिल्ली कांड लार्ड हार्डिंग्स पर बम फैंके जाने के समय ये अपने चाचा जोरावर सिंह बारहठ के साथ मौजूद थे। शचीन्द्रनाथ सान्याल, पिंगले व करतार सिंह सराबा जैसे प्रमुख क्रान्तिकारियों से इनका संपर्क हुआ। उन्होंने भारत सरकार के गृह सदस्य रेगीनाल्ड क्रैडोफ की हत्या की योजना बनाई पर विफल रहे। 1914–15 ई. में बनारस षड़यंत्र का आरोप तय किये जाने पर बरेली जेल में डाल दिए गए। कई प्रलोभनों के बावजूद इन्होंने पुलिस के सामने कोई भेद नहीं खोला। अमानुषिक अत्याचारों व दारूण यातनाओं के फलस्वरूप इनकी 24 मई 1918 ई. में जेल में ही मृत्यु हो गई। इनकी मृत्यु की सूचना कई वर्षों बाद उनके परिवारवालों को मिली।

जोरावर सिंह बारहठ– बारहठ परिवार के त्याग व बलिदान की कथा अतुलनीय है। केसरी सिंह के छोटे भाई जोरावरसिंह बारहठ का परिचय दिये बिना राजस्थान के क्रांतिकारियों का विवरण पूरा नहीं हो सकता। 1912 ई. में दिल्ली में वाइसराय हार्डिंग्स् के जुलूस पर बम फैंकने का दुःसाहसिक कार्य जोरावर सिंह बारहठ का ही था। दिल्ली से भागने पश्चात् वे अहमदाबाद, बांसवाड़ा, डूंगरपुर होते हुए मालवा के पहाड़ों व जंगलों में भटकते रहे। आरा हत्याकांड में उनकी गिरफ्तारी के वारंट जारी हुए। 1939 ई. में वारंट रद्द हुए थे। उनका निधन 17 अक्टूबर 1939 ई. में कोटा में हुआ। पं. ज्वाला प्रसाद, बाबा नृसिंहदास, स्वामी कुमारानंद जैसे क्रांतिकारियों का योगदान भी विस्मृत नहीं किया जा सकता है।

राव गोपाल सिंह खरवा– खरवा ठिकाने के ठाकुर राव गोपाल सिंह का जन्म 1872 ई. में हुआ। ये आरंभ से ही आर्य समाज से प्रभावित थे। धर्म महामण्डल के शिष्टमण्डल के सदस्य के रूप में जब ये बंगाल गये तो उनका सम्पर्क क्रान्तिकारियों से हुआ। 1907 में उन्होंने अजमेर में राजपूत छात्रावास खोला। राव गोपाल सिंह का नाम दिल्ली षड़यंत्र केस में सामने आया। उन पर यह भी आरोप लगाया कि वे जोधपुर व नसीराबाद के निचले स्तर के राजपूत सैनिकों के बीच ब्रिटिश विरोधी भावनायें फैला रहे हैं। दोनों ही कार्यवाहियों में उन पर कोई आरोप सिद्ध नहीं हो सका। डिफेन्स ऑफ इण्डिया एक्ट की धारा 3 के अन्तर्गत उन पर मुकदमा चलाया गया। कोटा के साधु हत्याकांड में भी वे संदेह के घेरे में थे। केसरी सिंह बारहठ के साथ मिलकर उन्होंने 'वीर भारत सभा' की स्थापना की। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान रास बिहारी बोस ने सशस्त्र क्रान्ति की योजना बनाई, जिसमें खरवा को राजस्थान में क्रान्ति का कार्य सौंपा गया। किन्तु योजना विफल हो गई। 24 जून 1915 ई. को इन्हें आदेशानुसार टाडगढ़ में जाकर रहना पड़ा। 10 जुलाई 1915 ई. को वे भाग निकले। गिरफ्तार होने के पश्चात् उनकी जागीर खरवा छीन ली गई। 1920 ई. में रिहा होने के बाद वे रचनात्मक कार्यों में संलग्न हो गये और 1956 ई. में इनका देहावसान हुआ।

इन प्रमुख क्रान्तिकारियों के अतिरिक्त कुछ और भी ऐसे महापुरूष थे जिन्होंने सशस्त्र क्रान्ति का प्रयास कर विदेशी सत्ता को उखाड़ फैंकने का प्रयत्न किया। श्याम जी कृष्ण वर्मा (1857–1930) 1887 ई. से 1897 ई. के मध्य रतलाम, उदयपुर व जूनागढ़ राज्यों में दीवान पद पर रहे। वे स्वदेशी के प्रबल समर्थक थे। 1897 ई. में महाराष्ट्र में रैण्ड (प्लेग कमिश्नर, पूना) की हत्या में ये संदेह के घेरे में आए। यहां से बच कर इंग्लैण्ड पहुँचने पर इन्होने 'इंडिया हाऊस' व 'होम रूल सोसाइटी' की स्थापना की। परदेश में रहते हुए इन्होंने भारत की आजादी के लिये महत्वपूर्ण योगदान दिया।

राजस्थान के अग्रणी स्वतंत्रता प्रेमियों में दामोदर दास राठी (1882–1918) का नाम लिया जाता है। ये उद्योगपति थे और राव गोपाल सिंह व अरविन्द घोष के सम्पर्क में रहे। उन्होंने

ब्यावर में आर्य समाज व होम रूल आंदोलन की शाखा खोली व एक सनातन धर्म शिक्षा संस्था की स्थापना की। तिलक की उग्र नीति के ये प्रबल समर्थक थे।

इन सभी क्रान्तिकारी गतिविधियों की विशेष बात यह थी कि ये सामाजिक सुधार व शिक्षा के प्रचार के साथ समानान्तर रूप में चल रही थीं। राजनीतिक हत्याएँ, धन सामग्री जुटाने व प्रभाव बढ़ाने का माध्यम थी। यद्यपि क्रान्तिकारियों का आन्दोलन जन साधारण में विशेष नहीं फैल पाया और गाँधीवादी साधन अधिक लोकप्रिय थे, फिर भी सामंती समाज की बदहाली, शासकों की उदासीनता व अंग्रेजों के दमन को उजागर करने में क्रांतिकारी सफल रहे।

स्वतंत्रता संग्राम की असफलता के कारणः– 21 सितम्बर 1857 ई. को मुगल बादशाह बहादुर शाह उनकी बेगम जीनत महल तथा उनके पुत्रों को बंदी बनाकर रंगून भेज दिया गया। 1858 ई. के मध्य में क्रांति की गति काफी धीमी हो चुकी थी। तांत्या टोपे की गिरफ्तारी के साथ ही भारतीयों का प्रथम स्वतंत्रता संग्राम राजस्थान में समाप्त हो गया।

राजस्थान में इस समय तीव्र ब्रिटिश विरोधी भावना दिखाई दी। जनता ने अंग्रेजों के विरूद्ध घृणा का खुला प्रदर्शन किया। महाराणा से मिलने जाते समय उदयपुर की जनता ने कप्तान शावर्स को खुलेआम गालियॉ दी। जोधपुर की सेना ने कप्तान सदर लैण्ड के स्मारक पर पत्थर बरसाए। कोटा, भरतपुर, अलवर तथा टोंक की जनता ने शासकों की नीति के विरूद्ध क्रांतिकारियों का साथ दिया। फिर भी राजस्थान में क्रांति असफल हुई। इसके अधोलिखित कारण थे।

नेतृत्व का अभाव– राजस्थान 19 रियासतों में विभाजित था। अनेक स्थानों पर क्रांति होने पर भी विद्रोहियों का कोई सर्वमान्य नेतृत्व नहीं था। राजपूत शासकों ने मेवाड़ के महाराणा से संपर्क किया, किन्तु महाराणा ने इस संबंध में समस्त पत्र व्यवहार अंग्रेजों को सौंप दिया। मारवाड़ के सामंतों तथा सैनिकों ने मुगल बादशाह के नेतृत्व में संघर्ष का प्रयास किया। किन्तु मुगल बादशाह दिल्ली से बाहर राजस्थान में नेतृत्व प्रदान नहीं कर सका। फलतः क्रांतिकारी एकजुट होकर संघर्ष नहीं कर सके तथा उन्हें असफल होना पड़ा।

समन्वय का अभाव– राजस्थान में क्रांति का प्रस्फुटन अनेक स्थानों पर हुआ। लेकिन क्रांतिकारियों के बीच समन्वय का अभाव था। नसीराबाद, नीमच, आऊवा तथा कोटा के क्रांतिकारियों में सम्पर्क तथा तालमेल नहीं था। यही कारण है कि भारतीयों को सफलता प्राप्त नहीं हुई।

रणनीति का अभाव– क्रांतिकारियों के प्रयास योजनाबद्ध नहीं थे। विद्रोह के पश्चात् उनमें बिखराव आता चला गया। दूसरी ओर अंग्रेजों ने योजनाबद्ध ढंग से क्रांतिकारियों की शक्ति को नष्ट किया। अंग्रेजी सेनाओं का नेतृत्व कुशल सैन्य अधिकारी कर रहे थे। उनकी रसद तथा हथियारों की आपूर्ति संपूर्ण भारत से हो रही थी। जबकि क्रांतिकारी सैनिकों के पास साधनों का अभाव था। उदाहरणार्थ कोटा तथा धौलपुर के शासकों की क्रांति को दबाने के लिये अंग्रेजों के अतिरिक्त करौली तथा पटियाला से सहायता दी गई थी।

शासकों का असहयोग– राजस्थान के शासकों का सहयोग नहीं मिलना भी असफलता का प्रमुख कारण था। यही नहीं, राजस्थान के अधिकांश शासकों ने न केवल राजस्थान बल्कि राजस्थान के बाहर भी अंग्रेजों को पूर्ण सहायता प्रदान की। शासकों की इस अदूरदर्शी नीति ने उखड़ी हुई ब्रिटिश सत्ता की पुर्नस्थापना में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

स्वतंत्रता संग्राम के परिणाम

1857 ई. की क्रांति के परिणाम दूरगामी थे। इस क्रांति ने अंग्रेजों की इस धारणा को निराधार सिद्ध कर दिया कि मुगलों एवं मराठों की लूट से त्रस्त राजस्थान की जनता ब्रिटिश शासन की समर्थक है।

देशी राज्यों के प्रति नीति परिवर्तन– राजस्थान के शासकों ने क्रान्ति के प्रवाह को रोकने हेतु बाँध का कार्य किया था। अंग्रेज शासकों ने यह समझ लिया कि भारत पर शासन की दृष्टि से देशी राजा उनके लिये उपयोगी है। अतः अब ब्रिटिश नीति में परिवर्तन किया गया। शासकों को संतुष्ट करने हेतु ''गोध निषेध'' का सिद्धान्त समाप्त कर दिया गया। राजाओं की अंग्रेजी शिक्षा दीक्षा का प्रबन्ध किया जाने लगा। उनकी सेवाओं के लिए उन्हें पुरस्कार तथा उपाधियाँ दी गईं, ताकि उनमें ब्रिटिश ताज तथा पश्चिमी सभ्यता के प्रति आस्था में वृद्धि हो सके।

सामंतों की शक्ति नष्ट करना– विद्रोह काल में सामंत वर्ग ने अंग्रेजों के विरूद्ध संघर्ष किया। फलतः विद्रोह समाप्ति के बाद अंग्रेजों ने सामंत वर्ग की शक्ति समाप्त करने की नीति अपनाई। सामंतों द्वारा दी जाने वाली सैनिक सेवा के बदले नगद राशि ली जाने लगी। फलतः सामंतों को अपनी सेनाएँ भंग करनी पड़ी। सामंतों से न्यायालय शुल्क लिया जाने लगा। उनके न्यायिक अधिकार छीन लिये गये, उनका राहदारी शुल्क वसूली का अधिकार भी समाप्त कर दिया गया। ऐसे कानून बनाए गये जिनसे व्यापारी वर्ग अपना ऋण न्यायालय द्वारा वसूल कर सके। इस नीति के फलस्वरूप व्यापारी वर्ग तथा जनता पर सामंतों का प्रभाव समाप्त होने लगा।

नौकरशाही में परिवर्तन– सभी राज्यों के प्रशासन में महत्वपूर्ण पदों पर सामंतों का अधिकार था। क्रांति के बाद सभी शासकों ने सामंतों को शक्तिहीन करने तथा प्रशासन पर अपना नियंत्रण बढ़ाने के लिए नौकरशाही में अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त, अनुभवी एवं स्वामी भक्त व्यक्तियों को नियुक्ति प्रदान की। इसके फलस्वरूप राजभक्त, अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त मध्यम वर्ग का विकास हुआ।

यातायात के साधन– संघर्ष के समय में अंग्रेजों की सेनाएँ एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने में कठिनाई का सामना करना पड़ा। विद्रोह के पश्चात् सैनिक तथा व्यापारिक हितों को ध्यान में रखते हुए यातायात के साधनों का विकास किया गया। नसीराबाद, नीमच, तथा देवली को अजमेर तथा आगरा से सड़कों द्वारा जोड़ दिया गया। रेल कम्पनियों को रेल मार्ग निर्माण हेतु प्रोत्साहित किय गया। अंग्रेज सरकार ने देशी राज्यों पर भी सड़कों तथा रेलों के निर्माण हेतु दबाव डाला, इसके फलस्वरूप यातायात के साधनों का त्वरित विकास हुआ।

सामाजिक परिवर्तन– अंग्रेजी सरकार ने अंग्रेजी शिक्षा पद्धति का विस्तार किया। दूसरी ओर अंग्रेजी शिक्षा का महत्व बढ़ जाने के

फलस्वरूप मध्यम वर्ग का विकास हुआ। इस वर्ग ने अंग्रेजी शिक्षा लेकर प्रशासन तथा अन्य क्षेत्रों में महत्वपूर्ण योगदान प्रदान किया। अंग्रेजों ने अपने व्यापारिक स्वार्थों के कारण वैश्य वर्ग को संरक्षण प्रदान किया। कालान्तर में ब्राह्मण तथा राजपूत वर्ग का प्रभाव कम होता चला गया।

मेयो कॉलेज के माध्यम से राज परिवारों को पाश्चात्य विचारों व विलासिता में ढाला गया। अग्रेंज प्रत्येक ठिकानेदार से निश्चित कर व सैन्य खर्च लेते थे,पूर्व में अकाल आदि की स्थिति में अब कर माफ करना सम्भव नहीं था, अतः जनता से कर वसूली का दबाव बनाया।

राजस्थान में किसान आन्दोलन

अंग्रेजी शासन से पूर्व, राजस्थान के राज्यों में शासक, सामन्त और किसानों के परस्पर सम्बन्ध सहयोग, सद्भाव पर निर्भर थे। कालान्तर में अग्रेंजों ने मेयो कॉलेज के माध्यम से राज परिवारों को पाश्चात्य विचारों व विलासिता पूर्ण जीवन में ढाला । भूमि का स्वामित्व प्रमुखतः दो प्रकार का था। एक वह भूमि जो शासक के सीधे नियंत्रण में होती थी, उसे 'खालसा' भूमि कहा जाता था। दूसरी वह भूमि, जो सामन्तों (जागीरदारों, ठिकानेदारों) के नियन्त्रण में थी, वह जागीर भूमि, कही जाती थी। सामन्तों का अपनी जागीर की प्रजा पर पूरा अधिकार था। किसानों से भूमि–कर के अतिरिक्त भी कर लिए जाते थे, जिन्हें लागतें (लाग–बाग) कहा जाता था। बेगार भी करनी होती थी (कार्य के बदले अनाज मिलता था)। परन्तु अंग्रेजी नियंत्रण से पूर्व सामन्तों का सहयोगी व उदार दृष्टिकोण रहा। अकाल के समय यह देशी शासक लगान माफ कर दिया करते थे किन्तु अग्रेंजी शासन के निश्चित कर व सैन्य सेवा की वजह से इन्हें दबाव पूर्वक किसानो से कर वसूलना पडता था ।

20 वीं सदी के पूर्वाद्ध तक राज्यों में अंग्रेजों का हस्तक्षेप और निंयत्रण बढ़ता गया। अंग्रेजी सरकार को नियमित खिराज़ (कर) देने और बढ़ते खर्चों तथा आर्थिक शोषण की नीति से किसानों से परम्परागत सम्बन्ध में बदलाव आ गया। किसानों पर नयी लागतें थोप दी तथा जबरदस्ती बेगार ली जाने लगी। शासकों और सामन्तों को बाहरी आक्रमणों का खतरा नहीं रहा। अंग्रेजी नियंत्रण से पश्चिमी प्रभाव पड़ा। फलतः शासकों और सामन्तों की जीवन शैली में परिवर्तन आने लगा। उनके खर्चे बढ़ गए। अपनी विलासिता और सुख–सुविधाओं के लिए किसानों का आर्थिक शोषण बढ़ गया। किसानों में बढ़ते असंतोष के परिणामस्वरूप संगठित किसान आन्दोलन हुए।

राजस्थान के किसान आन्दोलनों का राष्ट्रीय चेतना के विकास में उल्लेखनीय योगदान रहा। किसान अत्याचारों और अमानवीय यातनाओं से नहीं डरे। स्त्रियों ने भी भाग लिया। लाग–बाग एवं बेगार प्रथा का विरोध किया। बिजौलिया, बेगूं, मारवाड़, शेखावाटी आदि स्थानों पर प्रमुख किसान आन्दोलन हुए।

बिजौलियां किसान आन्दोलन एवं विजयसिंह पथिक (1913–22)

भूमिका 1913 में पहले साधु सीताराम दास और बाद में विजयसिंह 'पथिक' के नेतृत्व में बिजौलिया–आन्दोलन आरम्भ हुआ। इस आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य जागीरदारों द्वारा बिजौलिया की जनता पर लगाए गए करों और विभिन्न 'लागबाग' के विरूद्ध आवाज उठाना था। विभिन्न त्यौहार एवं अवसरों पर जैसे फसल की कटाई, विवाह, जन्मदिन समारोह और जागीरदार के विभिन्न सामाजिक उत्सवों पर प्रत्येक किसान को एक निश्चित मात्रा में कर देना पड़ता था और मना करने की अवस्था में उसे भारी शारीरिक यातनाएं सहनी पड़ती थीं। इसी प्रकार बेगार प्रथा प्रचलित थी। परिणाम यह हुआ कि सुबह से शाम तक परिश्रम करने के बावजूद किसान के लिए भरपेट भोजन कर सकना असंभव हो गया था। अतः बिजौलियां के किसानों ने अपना विरोध प्रकट करने के लिए एक वर्ष तक के लिए खेती करना स्थगित कर लिया और साथ ही साथ भू–राजस्व देने से मना कर दिया।इस समय आन्दोलन का नेतृत्व साधु सीताराम दास कर रहे थे परन्तु इसी बीच 1915 में वे चित्तौड़ में विजयसिंह 'पथिक' से मिले और उनसे आन्दोलन का नेतृत्व संभालने का अनुरोध किया। साधु सीताराम दास ने जागीरदारों द्वारा असहाय जनता पर किए जाने वाले अत्याचारों की कहानी सुनाई। पथिक ने नेतृत्व संभालना स्वीकार किया और इस प्रकार बिजौलिया आन्दोलन को एक नया उत्साही और साहसी नेता मिला।

1916 में बिजौलिया के किसानों ने मन्नालाल की अध्यक्षता में एक किसान–पंच–बोर्ड की स्थापना की। विजयसिंह 'पथिक' से प्रेरणा पाकर बिजौलियां के किसानों ने युद्ध ऋण देने से इनकार कर दिया। उन्होंने जागीरदारों को किसी भी प्रकार का सहयोग देने से इनकार कर दिया और स्थिति यहां तक बिगड़ गई कि किसान पंचायत ने निर्णय ले लिया कि वे प्रत्यक्ष रूप से जागीरदारों से कोई सम्बन्ध नहीं रखेंगे और पंचायत के माध्यम से ही सब कार्य होंगे। स्थिति इतनी अधिक बिगड़ी कि ब्रिटिश सरकार तक सतर्क हो गई और उसने यह घोषणा कर दी थी कि मेवाड़ और उसके आस–पास के पहाड़ी इलाकों में 'बोल्शविक' घुस आये हैं और वे रूसी क्रान्ति के आधार पर सशस्त्र क्रांति करना चाहते हैं। अतः ब्रिटिश सरकार ने मेवाड़ के महाराणा और अन्य जागीरदारों पर इस बात के लिए भारी दबाव डाला कि बिजौलिया–आन्दोलन को शीघ्रातिशीघ्र कुचल दिया जाय। गिरफ्तारी से बचने के लिए विजयसिंह 'पथिक' कोटा राज्य की सीमा में चले गए और वहीं से आन्दोलन का नेतृत्व करते रहे।

जब जागीरदारों ने किसानों की समस्या को हल करने का कोई कदम नहीं उठाया तो सत्याग्रह आरम्भ किया गया। प्रत्युत्तर में जागीरदारों ने दमनकारी साधनों का सहारा लिया। हजारों किसान गिरफ्तार कर लिए गए जिनमें साधु सीतारामदास, रामनारायण चौधरी, प्रेमचन्द्र भील और माणिक्यलाल वर्मा भी शामिल थे, जागीरदारों ने समस्त जमीन को जब्ती घोषित कर दिया परन्तु किसानों ने समर्पण करने से इन्कार कर दिया। रामनारायण चौधरी जो स्थिति का अध्ययन करने बिजौलिया आ गए थे, के अनुसार बिजौलिया का प्रत्येक स्त्री, पुरूष और युवक राष्ट्रीय भावना से प्रेरित था और प्रत्येक स्थान पर 'वन्देमातरम्' की आवाज सुनाई देती थी। बिजौलिया सत्याग्रह का समाचार समूचे भारत में फैला। यही कारण है कि महात्मा गांधी, मदनमोहन मालवीय, बाल गंगाधर तिलक और

गणेश शंकर विद्यार्थी जैसे राष्ट्रीय नेताओं का ध्यान आन्दोलन की ओर आकर्षित हुआ। जब स्थिति पर काबू नहीं किया जा सका तो राजस्थान में एजेन्ट टू गवर्नर जनरल सर रॉबर्ट हॉलेंड और मेवाड़ के ब्रिटिश रेजीडेन्ट विलकिसन समस्या का समाधान निकालने के लिए बिजौलियां पहुंचे। मेवाड़ राज्य का प्रतिनिधित्व राज्य के दीवान प्रकाशचन्द चटर्जी और बिहारीलाल कौशिक तथा ठिकाने का प्रतिनिधित्व कामदार हीरालाल, फौजदार तेजसिंह और मास्टर जालिमसिंह के द्वारा किया गया।

विजयसिंह 'पथिक'

माणिक्यलाल वर्मा

बिजौलिया के किसानों ने इस बात पर बल दिया कि बातचीत में राजस्थान सेवा संघ के प्रतिनिधि भी शामिल किए जाएं, अतः बिजौलियां पंचायत और सेवा संघ की ओर से रामनारायण चौधरी, माणिक्यलाल वर्मा और पंचायत सरपंच मोतीचंद ने भाग लिया। ए. जी. जी. के हस्तक्षेप के परिणाम –स्वरूप ठिकाने के जागीरदारों और बिजौलिया किसानों के मध्य समझौता सम्पन्न हुआ। समझौते के अनुसार किसानों की अनेक मांगे स्वीकार कर ली गई जिनमें बेगार–प्रथा की समाप्ति और अधिकांश 'लागबाग' का उन्मूलन सम्मिलित था तथा यह भी तय हुआ कि किसानों के विरूद्ध चलने वाले मुकदमे वापिस ले लिए जाएंगे और जिस वर्ष खेती नहीं की गई है उसका भू–राजस्व नहीं लिया जायेगा। इस प्रकार बिजौलिया–आन्दोलन समाप्त हुआ।

बेगूं आन्दोलन– बिजौलिया किसान आन्दोलन से प्रभावित होकर, बेगूं के किसानों ने भी लाग–बाग के विरूद्ध आन्दोलन किया। विजयसिंह पथिक, माणिक्य लाल वर्मा और राम नारायण चौधरी ने इस आन्दोलन का मार्गदर्शन किया। 1921 ई. में किसानों का कठोरता से दमन किया गया । उनके खेतों में खड़ी फसल नष्ट कर दी गयी। जंगल से घास और लकड़ी काटने, मवेशियों को चरागाहों में चरने की मनाही कर दी। दो वर्ष तक किसान साहसपूर्वक आन्दोलन करते रहे। बेगू सामन्त ठाकुर अनूपसिंह रावत ने किसानों से समझौता किया परन्तु अंग्रेजों ने इसे नहीं माना। रायला और गोविन्दपुरा गांव से आन्दोलन जारी रहा। दो किसान रूपा और किरपा शहीद हो गये। 500 से ज्यादा किसानों को बन्दी बना लिया। राजस्थान 'केसरी', 'प्रताप' और 'नवीन राजस्थान' समाचार पत्रों में पुलिस की अमानवीय कार्यवाही की निंदा की गई तो अंग्रेजों ने इन समाचार पत्रों पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया। महाराणा फतहसिंह को उदयपुर की गद्दी से हटाने का भी प्रयास हुआ। मेवाड़ राज्य प्रशासन पर अंग्रेज पोलिटिकल एजेन्ट का नियन्त्रण रहा। अंग्रेज अधिकारी ट्रेंच ने किसानों पर गोलियाँ चलवा दी परन्तु किसानों ने दृढ़तापूर्वक आन्दोलन जारी रखा। अन्ततः 53 में से 34 लागतें समाप्त करने, बेगार पर रोक लगाने की घोषणा कर, किसानों से समझौता करना पड़ा। राष्ट्रीय स्तर पर और विभिन्न समाचार पत्रों में इस दमन नीति की आलोचना हुई। मेवाड़ के इन दोनों किसान आन्दोलनों–बिजौलियां और बेगूं का अन्य राज्यों पर प्रभाव पड़ा तथा किसान पंचायतों का भी महत्व बढ़ा।

मारवाड़ में कृषक आंदोलन– मरूभूमि होने के कारण यहां के भूमि बंदोबस्त पर कृषकों व प्रशासकों का अधिक ध्यान नहीं था। किन्तु कृषकों की समस्याओं के प्रति अन्य राज्यों की अपेक्षा यहां राजनीतिक चेतना अधिक जागृत थी। मारवाड़ हितकारिणी सभा के माध्यम से कृषकों की समस्याओं के प्रति सक्रिय जनमत तैयार हुआ। 1936 ई. में जब राज्य सरकार ने 119 लागों की समाप्ति की घोषणा की तो कृषकों ने इन्हें जागीरी क्षेत्रों से भी खत्म करवाने का प्रयास किया। 1939 ई. में मारवाड़ लोक परिषद ने किसानों की मांगों का समर्थन किया और किसानों को जागीरदार के विरूद्ध आंदोलन करने के लिये प्रोत्साहित किया। 1941 ई. में परिषद् ने एक समिति नियुक्त कर के लाग व बेगारों पर अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करने को कहा। किसानों का आंदोलन कमजोर करने के लिये 'मारवाड़ किसान सभा' नामक एक समानान्तर सभा जून 1941 ई. में गठित की गई। किन्तु इस प्रकार का उद्देश्य सफल नहीं हो पाया। 1941–42 ई. में जाट कृषक सुधारक सभा द्वारा राज्य सरकार से लागू करवाने व लगान कम करवाने के लिये सभायें की। रामदेवरा व नागौर मेलों जैसे सामाजिक धार्मिक उत्सवों का लाभ उठाते हुए संघर्ष करने के लिये किसानों को प्रेरित किया गया। इस आंदोलन की चर्चा संपूर्ण भारत में होने लगी। 'हरिजन' समाचार पत्र में राज्य की आलोचना छपने के बाद दिसम्बर 1943 ई. में दरबार ने जागीरों में भूमि बन्दोबस्त के आदेश दिये। इसका विरोध जागीरदारों ने किया व किसानों पर अत्याचार बढ़ा दिये। फलस्वरूप अब आन्दोलन ने जागीरदारी के ही उन्मूलन पर ध्यान केन्द्रित कर लिया। जागीरदारों ने किसान सभाओं व लोक परिषद् के कार्यकर्ताओं पर क्रूर व पाश्विक अत्याचार आरम्भ किये और इसकी पराकाष्ठा डाबरा कांड के रूप में हुई, जहां 13 मार्च 1947 को पुलिस ने परिषद् कार्यकर्ताओं व किसानों के शांतिपूर्ण जुलूस पर हमला कर दिया। इस कांड की चारों ओर भर्त्सना की गई, पर राज्य सरकार ने दोषियों को दंडित करने के स्थान पर कृषकों व लोक परिषद् के कार्यकर्ताओं को ही दोषी ठहराया। इस गम्भीर समस्या का समाधान भी स्वतंत्रता पश्चात् ही हो पाया। मारवाड़ में किसानों का नेतृत्व सर्व श्री जयनारायण व्यास, राधाकृष्ण तात आदि जैसे जुझारू नेताओं ने किया।

सीकर व शेखावाटी में कृषक आंदोलन– 20 वीं शताब्दी के प्रारम्भ में राजस्थान के अन्य इलाकों के समान सीकर ठिकाने के किसान भी जुल्मों से त्रस्त थे। किसानों की भूमि का कोई लेखा–जोखा नहीं रखा जाता था, लगान निर्धारण का कोई उचित पैमाना नहीं था, लगान की दरें काफी ज्यादा थी। अकाल की स्थिति व फसलों के खराब होने पर भी लगान वसूली में किसान की स्थिति का ख्याल नहीं रखा जाता था। लगान के अतिरिक्त किसानों से अनेक प्रकार की लाग–बाग और बेगार भी

ली जाती थी। किसान आन्दोलन का प्रारम्भ सीकर ठिकाने के रावराजा कल्याणसिंह द्वारा 25 से 50 प्रतिशत तक भू–राजस्व वृद्धि करने से हुआ व 1923 ई. में वर्षा कम होने पर भी नयी दर से लगान वसूली की। राजस्थान सेवा संघ के मंत्री रामनारायण चौधरी के नेतृत्व में किसानों ने इसके विरुद्ध आवाज उठाई।

1931 ई. में 'राजस्थान जाट क्षेत्रीय सभा' की स्थापना के बाद किसान आन्दोलन को नई ऊर्जा मिली। किसानों को धार्मिक आधार पर संगठित करने के लिए ठाकुर देशराज ने पलथाना में एक सभा कर ''जाट प्रजापति महायज्ञ'' करने का निश्चय किया। बसंत पंचमी 20 जनवरी 1934 को सीकर में यज्ञाचार्य पं. खेमराज शर्मा की देखरेख में यह यज्ञ आरम्भ हुआ। यज्ञ की समाप्ति के बाद किसान यज्ञपति कुं. हुक्मसिंह को हाथी पर बैठाकर जुलूस निकालना चाहते थे किन्तु रावराजा कल्याणसिंह और ठिकाने के जागीरदार इसके विरुद्ध थे। इससे लोगों में जागीरदारों के प्रति रोष उत्पन्न हुआ और माहौल तनावपूर्ण हो गया।

प्रसिद्ध किसान नेता छोटूराम ने जयपुर महाराजा को तार द्वारा सूचित किया कि एक भी किसान को कुछ हो गया तो अन्य स्थानों पर भारी नुकसान होगा और जयपुर राज्य को गंभीर परिणाम भुगतने पड़ेंगे। अंततः किसानों की जिद के आगे सीकर ठिकाने को झुकना पड़ा और स्वयं ठिकाने ने जुलूस के लिए सजा–सजाया हाथी प्रदान किया। सात दिन तक चलने वाले इस यज्ञ कार्यक्रम में स्थानीय लोगों सहित उत्तरप्रदेश, पंजाब, लुहारू, पटियाला और हिसार जैसे स्थानों से लगभग तीन लाख लोग उपस्थित हुए।

सीकर किसान आन्दोलन में महिलाओं की महत्वपूर्ण भूमिका रही। सिहोट के ठाकुर मानसिंह द्वारा सोतिया का बास नामक गाँव में किसान महिलाओं के साथ किए गये दुर्व्यवहार के विरोध में 25 अप्रेल, 1934 ई. को कटराथल नामक स्थान पर श्रीमती किशोरी देवी की अध्यक्षता में एक विशाल महिला सम्मेलन का आयोजन किया गया। सीकर ठिकाने ने उक्त सम्मेलन को रोकने के लिए धारा–144 लगा दी। इसके बावजूद कानून तोड़कर महिलाओं का यह सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में लगभग 10,000 महिलाओं ने भाग लिया जिनमें श्रीमती दुर्गादेवी शर्मा, श्रीमती फूलांदेवी, श्रीमती रमादेवी जोशी, श्रीमती उत्तमादेवी आदि प्रमुख थी। 25 अप्रैल 1935 को जब राजस्व अधिकारियों का दल लगान वसूल करने के लिए कूदन गांव पहुँचा तो एक वृद्ध महिला धापी दादी द्वारा उत्साहित किए जाने पर किसानों ने संगठित होकर लगान देने से इंकार कर दिया। पुलिस द्वारा किसानों के विरोध का दमन करने के लिए गोलियाँ चलाई गई जिसमें चार किसान – चेतराम, टीकूराम, तुलछाराम तथा आशाराम शहीद हुए और 175 को गिरफ्तार किया गया। इस विभत्स हत्याकाण्ड के बाद सीकर किसान आन्दोलन की गूंज ब्रिटिश संसद मे भी सुनाई दी। जून 1935 में जब इस पर हाऊस ऑफ कामन्स में प्रश्न पूछा गया तो जयपुर के महाराजा पर मध्यस्थता के लिये दबाव पड़ा और जागीरदार को समझौते के लिए विवश होना पड़ा, 1935 ई. के अंत तक किसानों की अधिकांश मांगे स्वीकार कर ली गई। आन्दोलन का नेतृत्व करने वाले प्रमुख नेताओं में सरदार हरलालसिंह, नेतरामसिंह गौरीर, पृथ्वीसिंह गोठड़ा, पन्नेसिंह बाटड़ानाउ, हरूसिंह पलथाना, गोरूसिंह कटराथल, ईश्वरसिंह भैंरूपुरा, लेखराम कसवाली आदि शामिल थे।

शेखावाटी आंदोलन सीकर कृषक आंदोलन का ही विस्तार था। यहां के पांच ग्राम समूह (पंचपाने) बिसाऊ, डुंडलोद, मलसीसर, मंडावा व नवलगढ़ ठिकाने राज्य प्रशासन की अकर्मण्यता, व 1929–30 ई. की विश्व व्यापी आर्थिक मंदी के कारण त्रस्त थे। इनकी समस्याओं का समर्थन अखिल भारतीय जाट महासभा ने झुन्झुनूं के अपने वार्षिक सम्मेलन में किया, जिससे किसानों को नैतिक बल मिला। उचित सुनवाई न होने के कारण किसानों ने लगान न देने का फैसला किया। 1934 ई. व 1936 ई. में कुछ समझौतों की रूपरेखा तो बनी पर जागीरदारों के विरोध के कारण क्रियान्विति नहीं हो सकी। 1938 ई. में जयपुर प्रजामण्डल ने भी इस आंदोलन को नैतिक समर्थन दिया। 1942–46 ई. के मध्य जयपुर राज्य दोनों पक्षों की संतुष्टि के लिए विभिन्न समझौते लागू करने का प्रयत्न करती रही, पर इसका स्थायी समाधान 1947 के बाद निकल गया।

बून्दी किसान आन्दोलन – पं. नयनूराम, राम नारायण चौधरी और हरिभाई किंकर के नेतृत्व में बून्दी के किसानों ने भी अन्याय व लाग–बाग के विरूद्ध आन्दोलन किया। किसान परिवारों की स्त्रियों ने भी भाग लिया। बरड़गांव में किसानों की सभा पर पुलिस ने गोलियां चलायी। बरड़ के किसान भी राज्य में फैली अव्यवस्था व भ्रष्टाचार, बेगार, लागतों, युद्ध ऋण की वसूली जैसे मुद्दों पर असंतुष्ट थे। बिजौलिया किसान आंदोलन की सफलता व राजस्थान सेवा संघ से प्रोत्साहित होकर उन्होंने भी आंदोलन करने की ठानी। 1922 ई. में बून्दी के किसानों की कई बैठक हुई, जिसमें भूराजस्व के अतिरिक्त किसी अन्य कर की अदायगी न करने का फैसला किया गया। बून्दी प्रशासन की चेतावनी के बावजूद ये बैठकें चलती रहीं। 4 जून 1922 ई. में डाबी में पंचायत करने पर आंदोलनकारियों को गिरफ्तार कर लिया गया।

अलवर का किसान आन्दोलन (नीमूचणा काण्ड)– अलवर राज्य में भी जन जागृति का प्रारंभ किसान आन्दोलन से हुआ। जंगली सूअरों के उत्पात से दुखी होकर राज्य के किसानों ने आन्दोलन चलाया। महाराजा ने समझौता करके सूअरों को मारने का आदेश दिया। बाद में राज्य के किसानों ने लगान वृद्धि के विरोध में नीमूचणा गांव में सभा का आयोजन किया। सैनिकों ने गांव छोड़कर जाने वाले लोगों पर गोलियां चलाई जिसमें सैंकड़ों स्त्री–पुरूष, बच्चे शहीद हो गए। महात्मा गाँधी ने नीमूचणा कांड का विरोध किया। अंग्रेजी शासन पर इस कांड का दबाव पड़ा और उन्होंने अलवर के महाराजा के साथ मिलकर किसानों से समझौता किया। इसके अलावा मारवाड़, शेखावाटी, जयपुर एवं हाड़ौती के किसानों ने भी राज्य में होने वाले अत्याचारों का विरोध किया।

किसान आन्दोलन का महत्व– राजस्थान और राष्ट्रीय स्तर पर इन आन्दोलनों का महत्व रहा। किसान आन्दोलनों ने शासकों और अंग्रेजीसरकार की दमन कारी नीति को देश के सामने रखा।

राजनैतिक जन चेतना के विकास में योगदान दिया। सामन्ती व्यवस्था को समाप्त करने व प्रजातांत्रिक शासन की भावना को बल मिला। किसानों व जनता के पक्ष में राष्ट्रीय नेताओं और कांग्रेस ने भी समर्थन दिया।

जनजाति आन्दोलन व समाज सुधार

राजस्थान में दक्षिणी क्षेत्र में भील निवास करते हैं, जो मुख्यतः डूंगरपुर, मेवाड़, बांसवाड़ा, प्रतापगढ़ व कुशलगढ़ के इलाके हैं। भील अत्यन्त परम्परावादी जाति है जो अपने सामाजिक व आर्थिक स्तर को लेकर सजग रहती है। जब इनके परंपरागत अधिकारों का हनन हुआ, तो इन्होंने अपना विरोध प्रकट किया, चाहे वह फिर अंग्रेजों के विरूद्ध हो या फिर शासक के विरूद्ध हो।

भील, उनकी प्रकृति और चरित्र

भील भारत की प्राचीनतम जातियों में से एक मानी जाती है। भीलों की उत्पत्ति को लेकर विभिन्न प्रकार की किंवदन्तियाँ प्रचलित है। बाणभट्ट कृत कादम्बरी के अनुसार 'भील' शब्द का उपयोग प्राचीन संस्कृत और अपभ्रंश–साहित्य में भी मिलता है। कथासरित्सागर में 'भील' शब्द का उपयोग संभवतः सर्वप्रथम माना जाता है। कुछ विद्वानों के मतानुसार 'भील' शब्द की उत्पत्ति 'भिल्ला'' शब्द से हुई है। कर्नल टाड इन्हें वन पुत्र अथवा 'जंगली शिशु' के नाम से पुकारता है। एक अन्य किवदंति के अनुसार भील महादेव से उत्पन्न हुए हैं। कुछ भी हो, राजस्थान में भीलों का विशेष योगदान रहा है। महाराणा प्रताप की सेना में अधिकांश भील थे और उन्होंने मुगल आक्रमण से रक्षा करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

वास्तव में यह एक बहुत ही सरल व निश्छल जाति है और आर्थिक दृष्टि से बहुत ही पिछड़ा वर्ग रहा है, परन्तु इस सब के बावजूद भील एक साहसी और वफादार जाति है। इनके मुख्य हथियार तीर कमान हैं। वे अपने रीति–रिवाज और परम्पराओं के प्रति बहुत अधिक सजग हैं और उसका उल्लंघन करना उन्हें रुचिपूर्ण नहीं लगता। यही कारण है कि जब किसी कानून के द्वारा उनके रीति–रिवाज और परम्पराओं का उल्लंघन हुआ है तो उन्होंने सदैव प्रतिकार करने का प्रयत्न किया है। उदाहरणतः 18वीं शताब्दी में उन्होंने मराठों के विरूद्ध संघर्ष किया तो 19वीं शताब्दी में ब्रिटिश सरकार के विरूद्ध विद्रोह किया। यह अन्य बात है कि कर्नल टॉड की सफल कूटनीति के परिणामस्वरूप 12 मई, 1825 को भीलों और ब्रिटिश सरकार के मध्य एक समझौता हो गया, जिसके अनुसार भीलों की ओर से यह आश्वासन दिया गया कि वे चोर, डाकू अथवा ब्रिटिश सरकार के शत्रुओं को कभी शरण नहीं देंगे तथा ईस्ट इंडिया कम्पनी के आदेशों का पालन करेंगे।

गोविन्द गुरू व भगत आन्दोलन– गोविन्द गुरू एक महान समाज सुधारक थे। जिन्होंने भीलों के सामाजिक व नैतिक उत्थान का बीड़ा उठाया। उन्हें सामाजिक दृष्टि से संगठित करके उन्हें मुख्य धारा में लाने का प्रयास किया। इस लक्ष्य के लिये उन्होंने 'सम्प सभा' की स्थापना की व उन्हें हिन्दू धर्म के दायरे में बनाये रखने के लिये भगत पंथ की स्थापना की। सम्प सभा के माध्यम से मेवाड़, डूँगरपुर, ईडर, गुजरात, विजयनगर और मालवा के भीलों में सामाजिक जागृति से शासन सशंकित हो उठा और भीलों को 'भगत पंथ' छोड़ने के लिए विवश किया जाने लगा।

जब उन्हें बेगार व कृषि कार्य के लिए बाध्य किया गया और जंगल में उनके मूलभूत अधिकारों से वंचित किया गया, तो वे आंदोलन के लिए विवश हो गए। गोविन्द गुरू के प्रयासों से शिक्षा का प्रचार होने के साथ–साथ सुधार भी होने लगा। उदाहरण के लिये जब भीलों में मद्यपान का प्रचलन कम होने लगा, तो कुशलगढ़ व बांसवाड़ा राज्य को आबकारी क्षेत्र में भारी नुकसान उठाना पड़ा। अंग्रेजों ने इस सुधार व संगठन के पीछे 'भील राज्य' की स्थापना की संभावना व्यक्त की। अप्रैल 1913 ई. में डूँगरपुर राज्य द्वारा पहले गिरफ्तार और फिर रिहा किए जाने के बाद गोविन्द गुरू अपने साथियों के साथ ईडर राज्य में मानगढ़ की पहाड़ी पर चले गये (जो बांसवाड़ा व सथ राज्य की सीमा पर स्थित है।) अक्टूबर 1913 ई. को उन्होंने अपने संदेश द्वारा भीलों को मानगढ़ की पहाड़ी पर एकत्र होने के लिए कहा। भील भारी संख्या में हथियार लेकर एकत्र हो गये। उनके द्वारा बाँसवाड़ा राज्य के दो सिपाहियों को पीटा गया। सूथ, किले पर हमला किया गया। इस कार्यवाही ने सूथ, बांसवाड़ा, ईडर व डूंगरपुर राज्यों को चौकन्ना कर दिया। ए.जी.जी. की स्वीकृति मिलते ही 6 से 10 नवम्बर 1913 ई. के बीच मेवाड़ भील कोर की दो कम्पनियां, 104 वेलेजली राइफल्स की एक कम्पनी, राजपूत रेजीमेन्ट की एक कम्पनी व जाट रेजीमेन्ट की एक कम्पनी मानगढ़ की पहाड़ी पर पहुँच गई और गोलीबारी करके भीलों को मार दिया। सरकारी आंकड़ों के अनुसार इस कार्यवाही में 1500 भील मारे गए। इस नरसंहार को कई इतिहासकारो को जलियॉवाला बाग हत्याकाण्ड से भी अधिक विभत्सकारी बताया है।

मोतीलाल तेजावत

गोविन्द गुरू

इस प्रकार भगत आंदोलन निमर्मता पूर्वक कुचल दिया गया। गोविन्दगुरू को 10 वर्ष के कारावास की सजा सुनाई गई। यह तो स्पष्ट है कि भीलों की कोई महती राजनीति महत्वाकांक्षा नहीं थी, किन्तु उनमें व्याप्त सामाजिक एकता भी अंग्रेजों व शासकों के लिये चुनौती बन गई। गोविन्द गुरू अहिंसा के पक्षधर थे व उनकी श्वेत ध्वजा शांति का प्रतीक थी। इस आन्दोलन के परिणाम दूरगामी सिद्ध हुए। भीलों के साथ–साथ समाज के दूसरे वर्गों में राजनीतिक चेतना उत्पन्न हुई।

मोतीलाल तेजावत व एक्की आंदोलन– अंग्रेजों द्वारा भगत आन्दोलन कुचल दिए जाने के बाद भीलों का आंदोलन कुछ

समय के लिये निष्क्रिय हो गया। फिर भी भगत आंदोलन का प्रभाव भीलों की राजनीतिक चेतना पर पड़ा। भीलों के विरूद्ध सरकारी नीति जारी रही। 1917 ई. में भीलों व गरासियों ने मिलकर महाराणा को पत्र लिखकर दमनकारी नीति व बेगार के प्रति अपना विरोध जताया। कोई परिणाम न निकलता देखकर 1921 में बिजौलिया किसान आंदोलन से प्रभावित होकर भीलों ने पुनः महाराणा को अत्यधिक लागतों व कामदारों के शोषणात्मक व्यवहार के विरूद्ध शिकायत दर्ज की। इन सभी अहिंसात्मक प्रयासों का जब कोई परिणाम नहीं निकला तो भोमट के खालसा क्षेत्रों के भीलों ने लागतें व बेगार चुकाने से इंकार कर दिया। 1921 ई. में भीलों को मोतीलाल तेजावत का नेतृत्व प्राप्त हुआ। तेजावत ने भीलों को लगान व बेगार न देने के लिये प्रेरित किया। एक्की आन्दोलन के नाम से विख्यात इस आंदोलन को जनजातियों के राजनीतिक जागरण का प्रतीक माना जा सकता है। डूंगरपुर के महारावल ने आंदोलन फैल जाने के भय से सभी प्रकार की बेगारें अपने राज्य से समाप्त कर दी। जागीरी क्षेत्रों में भीलों को यह सुविधा न मिल पाने के कारण एक्की आंदोलन संगठित रूप से तेजावत के नेतृत्व में भोमट क्षेत्र के अतिरिक्त सिरोही व गुजरात क्षेत्र में भी फैल गया। अग्रेंजी सरकार ने अब दमनात्मक नीति अपनाई। 7 अप्रैल 1922 ई. को ईडर क्षेत्र में माल नामक स्थान पर मेजर सटन के अधीन मेवाड़ भील कोर ने गोलीबारी की। 3 जून 1929 ई. को ईडर राज्य ने तेजावत को गिरफ्तार कर मेवाड़ सरकार को सौंप दिया। मेवाड़ के सर्वोच्च न्यायालय महाइन्द्राज सभा ने लिखित में तेजावत से राज्य के विरूद्ध कार्य न करने का आश्वासन मांगा। गाँधीजी के निकट

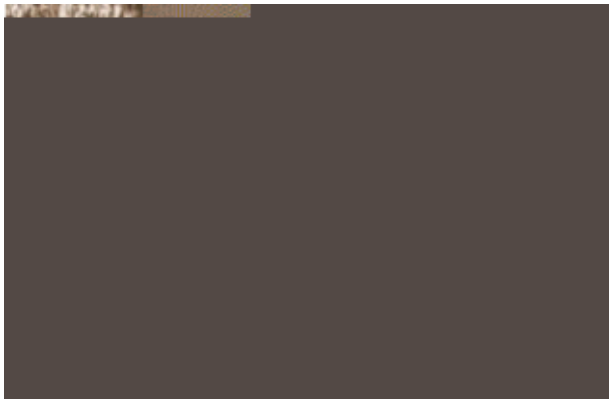

सहयोगी श्री मणिलाल कोठारी के हस्तक्षेप से एक समझौता हुआ। 16 अप्रैल 1963 ई. को तेजावत ने लिखित में इच्छित आश्वासन दिया और 23 अप्रैल को वह रिहा कर दिए गए।

मीणा आन्दोलन– 1924 ई. में अंग्रेजी सरकार ने मीणाओं को ज्यराम पेशा कोम' (जन्मजात अपराधी जाति) घोषित कर दिया। मीणा स्त्री–पुरूषों को प्रतिदिन पुलिस थाने पर जाकर हाजरी देनी पड़ती थी। आय के साधनों के अभाव में आर्थिक स्थिति खराब थी। छोटूलाल, महादेव, जवाहर राम आदि ने 'मीणा जाति सभा' की स्थापना की तथा इस अपमानजनक कानून का विरोध किया गया। शिक्षा के लिए प्रचार–प्रसार किया। सामाजिक बुराइयों के विरूद्ध आवाज उठायी। 'मीणा सुधार समिति' गठित की गई। श्रीमाधोपुर (सीकर जिला) में आन्दोलन हुआ। ठक्कर बापा के प्रयासों से जयपुर राज्य ने इस कानून को समाप्त कर दिया।

इसके परिणाम स्वरूप थानों में अनिवार्य उपस्थिति की बाध्यताओं को समाप्त किया गया किन्तु जरायम पेशा अधिनियम पूर्ववत् बना रहा। 28 अक्टूबर 1946 ई. को बागावास में हुए विशाल सम्मेलन में 26000 मीणाओं ने भाग लिया ।इसमें चौकीदार मीणाओं ने स्वेच्छा से अपने कार्य से इस्तीफा दिया, और इस दिन को मुक्ति दिवस के रूप में मनाया। जरायम पेशा अधिनियम 1952 ई. में ही रद्द हो पाया।

प्रजामण्डल के नेतृत्व में सम्पूर्ण आजादी

जिस समय अखिल भारतीय स्तर पर राजनीतिक चेतना फल रही थी, राजस्थान भी इससे अछूता नही रहा। यहां विभिन्न संस्थायें जैसे राजस्थान सेवा संघ व राजस्थान मध्य भारत सभा देशी रियासतों में राजनीतिक चेतना जागृत करने में सफल रही। यही नहीं ब्रिटिश प्रान्त के कांग्रेसी कार्यकर्ताओं से भी राजस्थान के स्वतंत्रता प्रेमी निरन्तर सम्पर्क में रहे।

राजस्थान में चल रहे स्वतंत्रता आन्दोलन को तीन भागों में बाँटा जा सकता है। 1927 ई. से पूर्व अखिल भारतीय स्तर पर हो रही राजनीतिक हलचल से राजस्थान प्रभावित था। प्रथम विश्व युद्ध से लौटे सैनिकों का विवरण, रोलेट एक्ट, 1920 का असहयोग आन्दोलन जैसी घटनाओं ने निश्चित रूप चेतना जागृत की। यद्यपि सभी रियासतों की स्थितियाँ व समस्यायें समान ही थी, फिर भी एकीकृत संगठन के अभाव में कोई व्यवस्थित आन्दोलन का श्रीगणेश नहीं हो पाया। कांग्रेस पार्टीने भी देशी राज्यों के मामलों में अहस्तक्षेप की नीति घोषित कर यहां की राष्ट्रवादी गतिविधियाँ खादी का प्रयोग प्रचार एवं सामाजिक सुधारों तक ही सीमित कर दी।

1927 ई. में अखिल भारतीय देशी राज्य लोक परिषद् की स्थापना के साथ ही सक्रिय राजनीति का काल आरंभ हुआ। कांग्रेस का समर्थन मिल जाने के बाद इसकी शाखाएँ स्थापित की जाने लगी। 1931 ई. में रामनारायण चौधरी ने अजमेर में देशी राज्य लोक परिषद् का प्रथम प्रान्तीय अधिवेशन आयोजित किया।

1938 ई. में कांग्रेस के हरिपुरा अधिवेशन में काँग्रेस ने एक प्रस्ताव पारित कर देशी रियासतों के लोगों द्वारा संचालित स्वतंत्रता संघर्ष को समर्थन किया। काँग्रेस के इस प्रस्ताव से देशी रियासतों में चल रहे स्वतंत्रता संग्राम को नैतिक समर्थन मिला। इन राज्यों में चल रहे आन्दोलन प्रत्यक्ष रूप से कांग्रेस से जुड़ गये और राजनीतिक चेतना का विस्तार हुआ। प्रजामंडलों की स्थापना हुई, जिसने देशी शासकों के अधीन उत्तरदायी प्रशासन की मांग की।

विभिन्न देशी रियासतों में प्रजामंडल आन्दोलन की भूमिका

जोधपुर– जोधपुर में राजनीतिक गतिविधियां 1918 ई. में ही आरंभ हो गई थी जब चांदमल सुराणा ने 'मारवाड़ हितकारिणी सभा' की स्थापना की। 1920 ई. में जय नारायण व्यास ने मारवाड़ सेवा संघ स्थापित किया। 1923 ई. में मारवाड़ हितकारिणी सभा

को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया। अक्टूबर 1929 ई. में व्यासजी ने मारवाड़ राज्य लोक परिषद् की स्थापना की। उपरोक्त गतिविधियों से स्पष्ट होता है कि जोधपुर में राजनीतिक चेतना का व्यापक प्रसार अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा अधिक था। 1934 ई. में जोधपुर में प्रजामंडल की स्थापना हुई जिसके अध्यक्ष भंवरलाल सर्राफ थे। इसका उद्देश्य उत्तरदायी शासन स्थापित करना व नागरिकों की रक्षा करना था। 1936 ई. में इस संस्था को असंवैधानिक घोषित कर दिया गया। अखिल भारतीय देशी राज्य लोक परिषद् की जोधपुर इकाई ''मारवाड़ राज्य लोक परिषद्'' सक्रिय रूप से जोधपुर में राजनीतिक गतिविधियाँ संचालित करती रही। विशेष कर जोधपुर प्रजामंडल को असंवैधानिक घोषित किये जाने के बाद से लोक परिषद् ने संवैधानिक अधिकारों व उत्तरदायी शासन के लिए संघर्ष जारी रखा।

चुनावों को साम्प्रदायिक आधार के स्थान पर क्षेत्रीय आधार पर करवाने के मांग परिषद् ने की। मार्च 1940 ई. में परिषद् को गैर कानूनी संस्था घोषित कर दिये जाने के बाद, सदस्यों ने शांतिपूर्ण प्रदर्शनों पर ध्यान केन्द्रित किया। इसके नेता जैसे रणछोड़दास गहानी, मथुरादास माथुर, कन्हैयालाल, इन्द्रमल जैन, आनंदराज सुराणा, भंवरलाल सर्राफ आदि ने अपना सारा ध्यान परिषद् की विचाराधारा लोकप्रिय बनाने में लगाया। उधर सरकार ने राजनीतिक अधिकारों की मांग को परिषद् व सामंतों के बीच संघर्ष का रूप देने का प्रयास किया। 1942 ई. में लोक परिषद ने अत्याचारों के विरूद्ध व राज्य में उत्तरदायी शासन के लिये आंदोलन आरंभ किया। व्यास जी ने परिषद का विधान स्थगित करके स्वयं को प्रथम डिक्टेटर नियुक्त किया और जोधपुर में भारत छोड़ो आंदोलन संचालित किया। प्रमुख नेताओं की गिरफ्तारियाँ व भूख हड़ताल हुई जिसमें बाल मुकुन्द बिस्सा की मृत्यु हो गई। 4 नवम्बर 1947 ई. को परिषद् ने विधानसभा विरोध दिवस मनाया। 1948 ई. में विलय पत्र पर हस्ताक्षर के बाद ही उत्तरदायी सरकार का गठन हो पाया।

बीकानेर– बीकानेर क्षेत्र के प्रारंभिक नेता कन्हैयालाल ढूँढ व स्वामी गोपालदास थे। इन्होंने चुरू में सर्वहितकारिणी सभा स्थापित की। जनता को अधिकारों के प्रति जागृत करने के लिए उसने पुत्री पाठशाला खोली। महाराजा इस रचनात्मक कार्य के प्रति भी आशंकित हो उठे और षड़यंत्र बता कर उन्हें प्रतिबंधित कर दिया। अप्रैल 1932 ई. में जब लंदन में महाराजा गोल मेज सम्मेलन में भाग लेने गये तो ''बीकानेर एक दिग्दर्शन'' नामक पम्पलेट बांटे गये। जिसमें बीकानेर की वास्तविक दमनकारी नीतियों का खुलासा किया गया। लौटकर महाराजा ने सार्वजनिक सुरक्षा कानून लागू किया। स्वामी गोपालदास चंदनमल बहड़, सत्यनारायण सर्राफ, खूबचंद सर्राफ आदि को बीकानेर षड़यंत्र केस के नाम पर गिरफ्तार कर लिया गया। इस काले कानून का विरोध जारी रहा। 4 अक्टूबर 1936 ई. को प्रमुख नेता शीघ्र ही निर्वासित कर दिए गए। जिनमें वकील मुक्ताप्रसाद, मघाराम वैध व लक्ष्मीदास शामिल थे। रघुबरदयाल ने 22 जुलाई 1942 ई. को बीकानेर प्रजा परिषद् की स्थापना की, जिसका उद्देश्य महाराजा के नेतृत्व में उत्तरदायी शासन की स्थापना करना था। 1943 ई. में गंगासिंह जी की मृत्यु के बाद शार्दुल सिंह गद्दी पर बैठे वे भी दमन में विश्वास रखते थे। 26 अक्टूबर 1944 ई. में 'बीकानेर दमन विरोधी दिवस' मनाया गया, जो राज्य में प्रथम सार्वजनिक प्रदर्शन था। दुधवाखारा के किसानों ने जागीरदारों के दमन के विरोध में प्रजा परिषद् के सहयोग से आंदोलन शुरू किया। मार्च 1940 ई. में प्रेस अधिनियम पारित हुआ जिसमें प्रेस पर प्रतिबंध लगा दिया गया। इसी ब

राज्य में संवैधानिक सुधारों की घोषणा की। एच.जे. मंगलानी के अनुसार ''झालावाड़ नरेश द्वारा अपने राज्य में सुधारों की घोषणा करना प्रजातंत्रीय व्यवस्था की दिशा में एक महत्वपूर्ण प्रयास था।''

जयपुर– अर्जुनलाल सेठी द्वारा राजनीतिक आन्दोलन का आरंभ जयपुर में बाद में सेठ जमनालाल बजाज द्वारा रचनात्मक कार्यों में परिवर्तित हो गया। बजाज द्वारा 1927 ई. में चरखा संघ की स्थापना हुई, 1931 ई. में कपूरचन्द पाटनी ने जयपुर राज्य प्रजा मंडल की स्थापना की जो राजनीतिक दृष्टि से अधिक प्रभावशाली नहीं रहा। कांग्रेस के हरिपुरा प्रस्ताव के बाद जमनालाल बजाज की प्रेरणा व हीरालाल शास्त्री के सक्रिय सहयोग से जयपुर राज्य प्रजा मंडल का पुनर्गठन हुआ। इसका पहला अधिवेशन 9 मई 1933 ई. को बजाज जी की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। प्रजामंडल का मूल उद्देश्य उत्तरदायित्व शासन की स्थापना करना था। प्रजामंडल को हतोत्साहित करने के लिये जयपुर सरकार ने कानून बनाकर किसी भी अपंजीकृत संस्था का सदस्य बनने पर रोक लगा दी। चूंकि श्री बजाज जयपुर राज्य की सीमा में नहीं रहते थे इसलिये संस्था का पंजीकरण नहीं हो पाया। राज्य द्वारा लगाये प्रतिबंध को तोड़ कर जयपुर में प्रवेश करने पर बजाज को बैराठ के निकट बंदी बना लिया गया। उन्हीं के साथ अन्य नेता जैसे हीरालाल शास्त्री, चिरंजीलाल अग्रवाल व कपूरचंद पाटनी भी बंदी बनाये गये। अब जयपुर में सत्याग्रह का संचालन गुलाबचन्द कासलीवाल व दौलतमल भंडारी के नेतृत्व में शुरू हुआ। अखिल भारतीय स्तर पर इस प्रश्न को गाँधीजी ने उठाया व जयपुर के महाराजा को समझौते के लिये चेतावनी दी। एक औपचारिक बातचीत के बाद 7 अगस्त 1939 ई. को समझौता हुआ जिसके तहत प्रजामंडल को मान्यता मिली व मार्च 1940 ई. में इसका विधिवत् पंजीकरण हुआ।

हीरालाल शास्त्री इसके पहले अध्यक्ष बने। 16 सितम्बर 1942 ई. को शास्त्री जी ने जयपुर के प्रधानमंत्री सर मिर्जा इस्माइल को पत्र लिखकर कुछ शर्तें रखी जिनकी पालना न करने पर आन्दोलन की चेतावनी दी। इनमें युद्ध के लिये जन–धन की सहायता न देना व उत्तरदायी शासन के लिये शीघ्र कार्यवाही करना था। इसी बीच 1942 ई. का आन्दोलन संचालित करने के विषय में विवाद उत्पन्न हुआ व बाबा हरिशचन्द्र के नेतृत्व में आजाद मोर्चा प्रजामंडल से पृथक हो गया जो 1945 ई. में नेहरू जी के प्रयासों से पुनः प्रजामंडल में मिल गया। इससे आन्दोलन में गति थोड़ी धीमी पड़ी। अक्टूबर 1942 ई. में संवैधानिक सुधारों के लिये एक समिति सरकार ने नियुक्त की जिसने 1943 ई. में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। मार्च 1947 ई. में नया मंत्रिमंडल बना किन्तु उत्तरदायी सरकार की स्थापना 30 मार्च 1949 ई. को ही हो सकी।

अलवर– अलवर में स्वाधीनता संग्राम के अग्रदूत पं. हरिनारायण शर्मा थे जिन्होंने अस्पृश्यता निवारण संघ, वाल्मीकि संघ व आदिवासी संघ की स्थापना की। 1938 ई. अलवर प्रजामंडल की स्थापना हुई जिसने महाराजा के नेतृत्व में उत्तरदायी शासन की मांग की। जब इस संस्था का पंजीकरण नहीं हुआ तो संघर्ष आरंभ हुआ। अप्रैल 1940 ई. में अलवर में निर्वाचित नगर पालिका परिषद् का गठन हुआ। अगस्त 1940 ई. में यद्यपि पंजीकरण हो गया किन्तु संस्था अथवा सदस्यों को ध्वज उपयोग करने की अनुमति नहीं थी। 1940 ई. में युद्ध कोष के लिये चंदा वसूली का विरोध कार्यकर्ताओं ने किया। इस पर हरिनारायण शर्मा व भोलानाथ मास्टर को गिरफ्तार कर लिया गया और उन पर मुकदमा चलाया गया। जनवरी 1944 ई. में भवानीशंकर शर्मा की अध्यक्षता में प्रजामंडल का प्रथम अधिवेशन हुआ। उत्तरदायी सरकार के गठन की मांग को लेकर प्रजामंडल निरंतर प्रयासरत रहा। 1946 ई. में प्रजामंडल ने किसानों की मांगों का समर्थन करके उन्हें भू–स्वामित्व देने के प्रस्ताव का समर्थन किया। 30 अक्टूबर 1946 ई. में महाराजा ने संवैधानिक सुधारों के लिये समिति नियुक्त की जिसका आन्दोलन कारियों ने बहिष्कार किया। उत्तरदायी शासन की मांग अलवर के शासक ने दिसम्बर 1947 ई. स्वीकार कर ली। मार्च 1948 ई. में मत्स्य संघ में अलवर के विलय के साथ ही राजस्थान के एकीकरण की प्रक्रिया आरम्भ हो गई।

भरतपुर– भरतपुर में स्वतंत्रता आन्दोलन का श्रीगणेश जगन्नाथ दास अधिकारी व गंगा प्रसाद शास्त्री ने किया। 1912 ई. में हिन्दी साहित्य समिति की स्थापना हुई। सौभाग्य से भरतपुर के महाराजा किशनसिंह अधिक प्रगतिशील शासक थे। उन्होंने हिन्दी को प्रोत्साहित किया व उत्तरदायी शासन की माँग को स्वीकार किया व 15 सितम्बर 1927 ई. को ऐसी घोषणा भी की। ब्रिटिश सरकार ने महाराजा की इन गतिविधियों को गम्भीरता से लेते हुए उन्हें गद्दी छोड़ने पर विवश किया। उनके स्थान पर अल्प वयस्क बृजेन्द्र सिंह गद्दी पर बैठे। प्रशासन के लिए एक अंग्रेज अधिकारी की नियुक्ति की गई, जिसने जगन्नाथ दास अधिकारी को निर्वासित कर दिया व सार्वजनिक सभाओं व प्रकाशनों पर प्रतिबंध लगा दिया। हरिपुरा कांग्रेस के पश्चात् भरतपुर के नेताओं ने रेवाड़ी (हरियाणा) में दिसम्बर 1938 ई. को प्रजा मंडल ने सत्याग्रह का आह्वान किया। दिसम्बर 1940 ई. में प्रजामंडल से समझौता किया जिसके तहत प्रजा परिषद् नाम से संस्था का पंजीकरण किया गया व सभी नेता रिहा किए गए। प्रजा परिषद् का मुख्य उद्देश्य सार्वजनिक समस्याओं को प्रस्तुत करना, प्रशासनिक सुधारों पर बल देना व शिक्षा का प्रसार करना। परिषद् ने 27 अगस्त से 2 सितम्बर 1940 ई. तक राष्ट्रीय सप्ताह मनाया। परिषद् ने भारत छोड़ों आन्दोलन में सक्रिय रूप से भाग लिया। सरकार ने परिषद् की संतुष्टि के लिये बृज जय प्रतिनिधि सभा का गठन किन्तु राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति नहीं हो सकी। प्रतिनिधि सभा का बहिष्कार किया गया। 1945 ई. में सत्याग्रह की घोषणा की गई किन्तु प्रमुख नेताओं की गिरफ्तारी के कारण वह सफल नहीं हो पाया। अपने दिसम्बर 1946 ई. के कामां सम्मेलनों में बेगार समाप्त करने व उत्तरदायी शासन की माँग रखी गई। दुर्भाग्यवश राज्य के उपद्रव सांप्रदायिक झगड़ों में बदल गए। 18 मार्च 1947 ई. को भरतपुर के मत्स्य संघ में विलीन होने के बाद ही समस्याएँ समाप्त हो पाई।

धौलपुर– आर्य समाज के प्रमुख स्वामी श्रद्धानंद ने 1918 ई. से ही धौलपुर के निरंकुश शासन व्यवस्था के विरूद्ध आवाज उठानी

आरंभ की। स्वामी जी की मृत्यु के बाद आन्दोलन शिथिल हो गया। 1936 ई. में धौलपुर राज्य प्रजा मंडल की स्थापना कृष्ण दत्त पालीवाल ने की। यहाँ भी प्रजा मंडल उत्तरदायित्व शासन व्यवस्था व नागरिक अधिकारों की माँग को लेकर आन्दोलनरत रहा।12 नवम्बर 1946 ई. में तासिनो गाँव में अधिवेशन में पुलिस द्वारा गोलीबारी की। जनता के दबाव में आकर तासिनो कांड की जांच के आदेश दिये। 4 मार्च 1948 ई. में उत्तरदायी शासन स्थापित करना स्वीकार किया। शीघ्र ही धौलपुर मत्स्य संघ में विलीन हो गया।

अन्य राज्य – अन्य राज्यों में भी प्रजामंडल अथवा प्रजा परिषद् के नाम से स्वाधीनता आन्दोलन चलता रहा। 1938 ई. में करौली में प्रजामंडल स्थापित हुआ। उत्तरदायी शासन व नागरिक अधिकारों को लेकर त्रिलोक चंद माथुर, चिरंजीलाल शर्मा आदि ने संघर्ष जारी रखा। बांसवाड़ा में 1943 ई. में भूपेन्द्रनाथ त्रिवेदी ने प्रजामंडल की स्थापना की। डूंगरपुर में भोगीलाल पांड्या ने 1944 में सेवा संघ स्थापित किया। डूंगरपुर प्रजामंडल की स्थापना हरिदेव जोशी ने 1944 ई. में की। प्रतापगढ़ में ठक्कर बापा की प्रेरणा से अमृतलाल, चुन्नीलाल प्रभाकर ने प्रजामंडल की स्थापना 1936 ई. में की। सिरोही में 1939 ई. में गोकुल भाई भट्ट ने प्रजामंडल की बागडोर संभाली किन्तु यह अधिक सक्रिय नहीं हो पाया। झालावाड़ में 1947 ई. में पहली सार्वजनिक सभा हुई। किशनगढ़ प्रजामंडल की स्थापना 1939 ई. में हुई।

इस प्रकार हम देखते है कि राजस्थान में जन संस्थाएँ अपनी शैशवावस्था में गांधीवादी व रचनात्मक कार्यों में ही व्यस्त रही। रियासतों के शासकों का रवैया इतना दमनकारी था कि खादी प्रचार व स्वदेशी शिक्षण संस्थाओं को भी अनेक रियासतों में प्रतिबंधित कर दिया गया। प्रेस व किताब पर प्रतिबंध आम बात थी। सार्वजनिक सभाओं पर प्रतिबंध होने के कारण जन चेतना का व्यापक प्रसार नहीं हो पाया। ऐसी कठिन परिस्थितियों में लोक संस्थाओं का अस्तित्व व कार्यप्रणाली ही कठिन था। जब तक कांग्रेस ने अपने हरिपुरा अधिवेशन (1938) में देशी रियासतों में चल रहे आन्दोलनों को समर्थन नहीं दिया, तब तक यहां पर आन्दोलन सीमित व शिथिल रहा।

हरिपुरा अधिवेशन के बाद रियासती आन्दोलन राष्ट्रीय मुख्यधारा से जुड़ गए। राष्ट्रवादी के नेताओं ने आन्दोलनों को नैतिक समर्थन दिया। फिर भी ये आन्दोलन उत्तरदायी शासन की मांग के आधार पर संचालित होते रहे। जब स्वतंत्रता मिली तो ये प्रजामंडल रियासतों के भारत में विलय के लिए प्रयासरत हो गए।

राजस्थान का एकीकरण–1947 से 1956 तक

15 अगस्त 1947 ई. को भारत स्वाधीन हुआ। परन्तु भारतीय स्वाधीनता अधिनियम 1947 की आठवीं धारा के अनुसार ब्रिटिश सरकार की भारतीय देशी रियासतों पर स्थापित सर्वोच्चता पुनः देशी रियासतों को हस्तांतरित कर दी गयी। इसका तात्पर्य था कि देशी रियासतें स्वयँ इस बात का निर्णय करेंगी कि वह किसी अधिराज्य में (भारत अथवा पाकिस्तान में) अपना अस्तित्व रखेंगी। यदि कोई रियासत किसी अधिराज्य में शामिल न हो तो वह स्वतंत्र राज्य के रूप में भी अपना अस्तित्व रख सकती थी। यदि ऐसा होने दिया जाता है तो भारत अनेक छोटे–छोटे खंडो में विभक्त हो जाता एवं भारत की एकता समाप्त हो जाती। तत्कालीन भारत सरकार का राजनैतिक विभाग जो अब तक देशी रियासतों पर नियंत्रण रखता था, समाप्त कर दिया गया और 5 जुलाई 1947 को सरदार बल्लभ भाई पटेल की अध्यक्षता में रियासत सचिवालय गठित किया गया। रियासत सचिवालय सभी छोटी बड़ी रियासतों का विलीनीकरण या समूहीकरण चाहता था। इन रियासतों का समूहीकरण इस प्रकार किया जाना था कि भाषा, संस्कृति और भौगोलिक सीमा की दृष्टि से एक संयुक्त राज्य संगठित हो सके।

राजस्थान के गठन के प्रारम्भिक प्रयास

स्वतंत्रता प्राप्ति के समय राजस्थान में 22 छोटी बड़ी रियासतें थी। इसके अलावा अजमेर–मेरवाड़ा का छोटा सा क्षेत्र ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत था। इन सभी रियासतों तथा ब्रिटिश शासित क्षेत्र को मिलाकर एक इकाई के रूप में संगठित करने की अत्यन्त विकट समस्या थी। सितम्बर 1946 ई. को अखिल भारतीय देशी राज्य लोक–परिषद ने निर्णय लिया था कि समस्त राजस्थान को एक इकाई के रूप में भारतीय संघ में शामिल होना चाहिए। इधर भारत सरकार के रियासत सचिवालय ने निर्णय लिया कि स्वतंत्र भारत में वे ही रियासतें अपना पृथक अस्तित्व रख सकेंगी जिनकी आय एक करोड़ रुपये वार्षिक एवं जनसंख्या दस लाख या उससे अधिक हो। इस मापदण्ड के अनुसार राजस्थान में केवल जोधपुर, जयपुर, उदयपुर एवं बीकानेर ही इस शर्त को पूरा करते थे। राजस्थान की छोटी रियासतें यह तो अनुभव कर रही थी कि स्वतंत्र भारत में आपस में मिलकर स्वावलम्बी इकाइयाँ बनाने के अलावा कोई अन्य विकल्प नहीं है, परन्तु ऐतिहासिक तथा कुछ अन्य कारणों से शासकों में एक दूसरे के प्रति अविश्वास एवं ईर्ष्या भरी हुई थी।

राजस्थान की प्रमुख रियासतों की समस्याएँ

(1) स्वतंत्रता एवं विभाजन के पश्चात् हुए सांप्रदायिक झगड़े मुख्य कारण थे। अलवर व भरतपुर में मेव जाति की समस्या पुनः उभर कर आई। गाँधी जी की हत्या में अलवर राज्य का नाम आने से भी अलवर विवादित था।

(2) जोधपुर की भौगोलिक एवं सामाजिक स्थिति अत्यन्त ही महत्वपूर्ण थी। पाकिस्तान की तरफ से जोधपुर को अपनी तरफ मिलाने की चर्चा भी गरम थी।

(3) मेवाड़ के महाराणा एवं जागीरदार वर्ग अपनी गौरवपूर्ण ऐतिहासिक स्थिति के कारण संघ में विलय के इच्छुक नहीं थे।

(4) उधर बीकानेर भी सीमांत राज्य होने के कारण भारत के लिए अत्यन्त महत्तवपूर्ण प्रदेश था। यद्यपि भारत की संविधान निर्मात्री सभा में बीकानेर का प्रतिनिधित्व था, फिर भी शासक का मन स्वतंत्र अस्तित्व बनाए रखने का ही था।

बदलती हुई राजनीतिक परिस्थिति में मेवाड़ महाराणा द्वारा 25 जून 1946 ई. को जयपुर में राजस्थानी राजाओं का एक सम्मेलन आयोजित किया गया। जिसका उद्देश्य एक संघ बनाना

था। किन्तु समस्त शासक एक मत न हो सके इसलिए महाराणा की योजना फलीभूत न हो सकी। इसी प्रकार डूँगरपुर के शासक ने भी बागड़ राज्य (डूँगरपुर, बांसवाड़ा व प्रतापगढ़) बनाने का असफल प्रयास किया। जयपुर व कोटा के शासकों के प्रयास भी असफल रहे।

फलस्वरूप भारत सरकार के रियासत विभाग द्वारा सभी रियासतों को मिलाकर एकीकृत राजस्थान का गठन करने का निश्चय किया गया। इस कार्य के लिए अत्यन्त बुद्धिमानी, दूरदर्शिता, संयम एवं कूटनीति की आवश्यकता थी और इसलिए यह कार्य बड़ी सावधानी से धीरे–धीरे सम्पन्न किया गया। एकीकृत राजस्थान का गठन निम्न पाँच चरणों में पूरा हुआ :

(1) प्रथम चरण में ''मत्स्य संघ'' का निर्माण किया गया। इस संघ में अलवर, भरतपुर, धौलपुर एवं करौली को शामिल किया गया।

(2) द्वितीय चरण में ''संयुक्त राजस्थान'' का निर्माण किया गया जिसमें कोटा, बूँदी, झालावाड़, बाँसवाड़ा, प्रतापगढ़ और शाहपुरा शामिल किए गये।

(3) तृतीय चरण में मेवाड़ को संयुक्त राजस्थान में शामिल किया गया।

(4) चतुर्थ चरण में जोधपुर, बीकानेर और जैसलमेर राज्यों को संयुक्त राजस्थान में शामिल कर ''वृहत राजस्थान'' का निर्माण किया गया।

(5) पंचम चरण में ''मत्स्य संघ'' को ''वृहत राजस्थान'' में शामिल किया गया।

उपर्युक्त पाँच चरणों में सिरोही व अजमेर–मेरवाड़ा एकीकृत राजस्थान में शामिल नहीं हो पाये। इनका राजस्थान में विलय 1956 में ही संभव हो सका।

मत्स्य संघ

मानचित्र – मत्स्य संघ

भौगोलिक जातीय, आर्थिक दृष्टिकोण से अलवर, भरतपुर, धौलपुर व करौली एक से थे। चारों राज्यों के शासको को 27 फरवरी 1948 को दिल्ली बुलाकर उनके समक्ष संघ का प्रस्ताव रखा गया, जिसे सहर्ष स्वीकार कर लिया गया। श्री के. एम. मुंशी के सुझाव पर इस संघ का नाम मत्स्य संघ रखा गया जैसा कि महाभारत काल में इस क्षेत्र का नाम था। 28 फरवरी 1948 को दस्तावेज पर हस्ताक्षर किए गये। 18 मार्च 1948 को इस संघ का उद्घाटन केन्द्रीय मंत्री एन.वी. गाडगिल ने किया। संघ की जनसंख्या 18 लाख व वार्षिक आय 2 करोड़ रूपये थी। धौलपुर के महाराज उदयभान सिं

की प्रार्थना की ताकि उदयपुर के महाराज राजप्रमुख बन जायेंगे, जिससे बूँदी महाराज की कठिनाइयों का स्वतः निराकरण हो जायेगा। किन्तु महाराणा ने बूँदी महाराज को भी वही उत्तर दिया जो उन्होंने कुछ दिनों पहले रियासत विभाग को दिया था। अन्त में विवश होकर बूँदी महाराव ने कोटा महाराज का संयुक्त राजस्थान के राजप्रमुख बनाने का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। बूँदी महाराव का सम्मान बनाए रखने के लिए भारत सरकार ने बूँदी महाराव को उप–राजप्रमुख तथा डूँगरपुर के महाराव को उप–राजप्रमुख बनाने का निर्णय किया। इन नौ राज्यों का एक संक्षिप्त संविधान तैयार किया गया और इसका उद्घाटन 25 मार्च 1948 को होना तय हुआ।

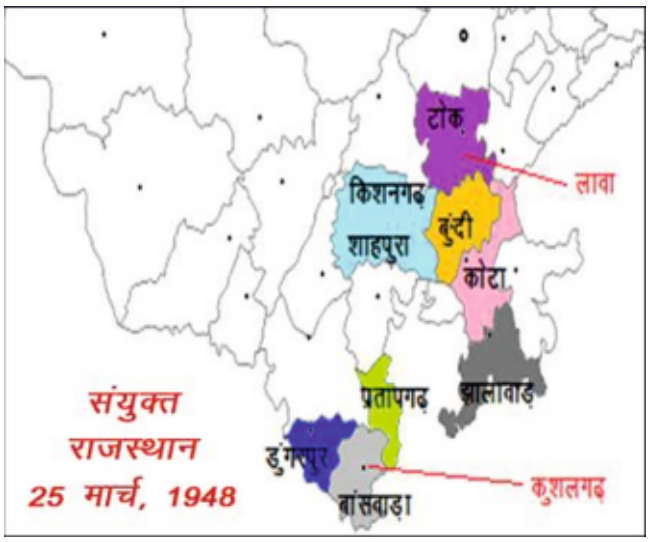

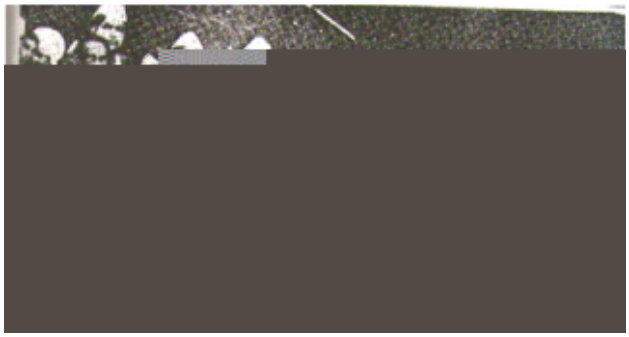

इधर मेवाड़ के संयुक्त राजस्थान में शामिल न होने के फैसले का मेवाड़ में तीव्र विरोध हुआ। मेवाड़ प्रजामण्डल के प्रमुख नेता एवं संविधान निर्मात्री समिति के सदस्य श्री माणिक्य लाल वर्मा ने कहा कि – मेवाड़ की 20 लाख जनता के भाग्य का फैसला अकेले महाराणा साहब और उसके प्रधान सर राममूर्ति नहीं कर सकते। प्रजा मण्डल की यह स्पष्ट नीति है कि मेवाड़ अपना अस्तित्व समाप्त कर राजपूताना प्रान्त का एक अंग बन जाये। किन्तु महाराणा अपने निश्चय पर अटल रहे। शीघ्र ही मेवाड़ की राजनैतिक परिस्थितियाँ पलटी। मेवाड़ में मंत्रिमण्डल के गठन को लेकर प्रजामण्डल एवं मेवाड़ सरकार के बीच गतिरोध उत्पन्न हो गया। अतः राज्य में उत्पन्न राजनैतिक गतिरोध को समाप्त करने के लिए महाराणा ने 23 मार्च 1948 को मेवाड़ को संयुक्त राजस्थान में शामिल करने के अपने इरादे की सूचना भारत सरकार को भेजते हुए संयुक्त राजस्थान के उद्घाटन की तारीख 25 मार्च को आगे बढ़ाने का आग्रह ि

भी यह क्षेत्र काफी पिछड़ा हुआ था, जिसका विकास करना इन राज्यों के आर्थिक सामर्थ्य के बाहर था। समाजवादी दल के नेता डॉ. जयप्रकाश नारायण ने 9 न

मानचित्र – राजस्थान 26.01.1950

बीच सिरोही के प्रश्न को लेकर राजस्थान की जनता में काफी उत्तेजना फैल चुकी थी। 18 अप्रेल 1948 को संयुक्त राजस्थान के उद्घाटन के अवसर पर राजस्थान के कार्यकर्त्ताओं का एक शिष्टमंडल पं. नेहरू से मिला और उन्हें सिरोही के सम्बन्ध में प्रदेश की जन भावनाओं से अवगत कराया। पं. नेहरू की सरदार पटेल से वार्ता के पश्चात् अत्यन्त चतुराई से जनवरी 1950 में माउण्ट आबू सहित सिरोही का 304 वर्ग मील क्षेत्र के 89 गाँव गुजरात में व शेष सिरोही राजस्थान में मिला दिया गया। इस प्रकार सिरोही के प्रमुख आकर्षण देलवाड़ा एवं माउण्ट आबू तो गुजरात में मिल गए और गोकुल भाई भट्ट के जन्म स्थान हाथल सहित सिरोही का शेष भाग राजस्थान को दे दिया गया। इस कदम का राजस्थान में तीव्र विरोध हुआ जिसका नेतृत्व मुख्यतः गोकुल भाई भट्ट ने किया। राजस्थान के नेतृत्व ने पं. नेहरू से इस समस्या के समाधान के लिए दबाव बनाया। अंततः इसके निपटारे के लिए इस प्रकरण को राज्य पुनर्गठन आयोग को सौंप दिया गया।

अजमेर मेरवाड़ा का विलय

ब्रिटिश काल में अजमेर–मेरवाड़ा एक केन्द्रशासित

एकीकरण के विभिन्न चरण

क्र.सं.	नाम	राज्य	राजप्रमुख	प्रधानमंत्री / मुख्यमंत्री	तिथि / वर्ष
प्रथम	मत्स्य संघ	अलवर, भरतपुर, धौलपुर, करौली	धौलपुर के शासक उदयभान सिंह	श्री शोभाराम	19 मार्च 1948
द्वितीय	संयुक्त राजस्थान संघ	कोटा, बूँदी, झालावाड़, डूँगरपुर, बाँसवाड़ा, प्रतापगढ़, शाहपुरा, किशनगढ़, टोंक	कोटा नरेश भीम सिंह	श्री गोकुल लाल असावा	25 मार्च 1948
तृतीय	संयुक्त राजस्थान (मेवाड़ का विलय)	द्वितीय चरण के राज्यों के साथ मेवाड़	उदयपुर (मेवाड़) महाराणा भूपाल सिंह	श्री माणिक्य लाल वर्मा	18 अप्रेल 1948
चतुर्थ	वृहत् राजस्थान	तृतीय चरण के राज्यों के साथ जयपुर, जोधपुर, बीकानेर, जैसलमेर व लावा(ठिकाना)	उदयपुर महाराणा भूपाल सिंह महाराज प्रमुख, जयपुर नरेश राजप्रमुख	श्री हीरालाल शास्त्री	30 मार्च 1949
पंचम	वृहत् राजस्थान	प्रथम व चतुर्थ चरण के राज्य (नीमराणा–ठिकाना सहित)	उदयपुर महाराणा भूपाल सिंह महाराज प्रमुख जयपुर नरेश राजप्रमुख		15 मई 1949
षष्ठम	वृहत् राजस्थान	पंचम चरण के साथ सिरोही (आबू व देलवाड़ा को छोड़कर)	राज्यपाल गुरूमुख निहाल सिंह		26 जनवरी 1950
सप्तम	राजस्थान	षष्ठम चरण के साथ अजमेर, मा. आबू, देलवाडा व सुनेल टप्पा			1 नवम्बर 1956

प्रदेश रहा था। अखिल भारतीय देशी राज्य लोक परिषद की राजपूताना प्रान्तीय सभा सदैव यह माँग करती रही कि वृहत राजस्थान में न केवल प्रान्त की सभी रियासतें वरन् अजमेर मेरवाड़ा का इलाका भी शामिल किया जाए किन्तु दूसरी ओर अजमेर का कांग्रेस नेतृत्व इस माँग का विरोध कर रहा था। 1952 ई. के आम–चुनावों के बाद अजमेर–मेरवाड़ा में श्री हरीभाऊ उपाध्याय के नेतृत्व में कांग्रेस का मंत्रिमंडल बना। चूंकि कांग्रेस का यह नेतृत्व अजमेर को राजस्थान में मिलाये जाने के कभी पक्ष में नहीं रहा और अब अजमेर–मेरवाड़ा में मंत्रिमण्डल के गठन के बाद तो कांग्रेस का नेतृत्व यह तर्क देने लगा कि प्रशासन की दृष्टि से छोटे राज्य ही बनाये रखना चाहिए। इस प्रकरण को भी राज्य पुनर्गठन आयोग को सौंप दिया गया। राज्य पुनर्गठन आयोग ने अजमेर के कांग्रेस नेताओं के तर्क को स्वीकार नहीं किया एवं सिफारिश की कि अजमेर–मेरवाड़ा का क्षेत्र राजस्थान में मिला देना चाहिए। तदनुसार 1 नवम्बर 1956 ई. को राज्य पुनर्गठन आयोग द्वारा सिरोही के माउण्ट आबू वाले क्षेत्र के साथ–साथ अजमेर–मेरवाड़ा को भी राजस्थान में मिला दिया गया।

इस प्रकार राजस्थान के एकीकरण की प्रक्रिया जो मार्च 1948 में आरम्भ हुई थी उसकी पूर्णाहुति 1 नवम्बर 1956 को हुई। एकीकृत राजस्थान के निर्माण के बाद भी राजतंत्र के अंतिम अवशेष के रूप में राजप्रमुख के नवसृजित पद रह गए थे। भारत की नवनिर्वाचित संसद ने संविधान के 7वें संशोधन द्वारा 1 नवम्बर 1956 ई. को राजप्रमुख के पद समाप्त कर दिए एवं राज्य के प्रथम राज्यपाल के रूप में सरदार गुरूमुख निहाल सिंह को शपथ दिलाई गई। इस प्रकार सरदार पटेल की चतुराई, बुद्धिमत्ता एवं कुशल नीति से, राजस्थानी शासकों की अनिच्छाओं पर जनमत के प्रभावशाली दवाब से राजस्थान के एकीकरण का स्वप्न साकार हो गया।

अध्ययन बिन्दु

- ❖ राजस्थान का किसान दोहरी गुलामी से लड रहा था एक अंग्रेज दूसरे देशी ठिकानेदार।
- ❖ 1857 की क्रांति का राजस्थान में आगाज नसीराबाद छावनी से हुआ था।
- ❖ केसरीसिंह बारहठ, प्रतापसिंह बारहठ, जोरावरसिंह बारहठ तीनों एक ही परिवार के क्रांतिकारी थे।
- ❖ आऊवा ठाकुर खुशाल सिंह ने खुलकर अंग्रेजों का सामना किया था।
- ❖ भगत आन्दोलन के संस्थापक गोविन्दगुरू थे ।
- ❖ एकी आन्दोलन के प्रवर्तक मोतीलाल तेजावत थे।
- ❖ विजयसिंह पथिक ने बिजौलियॉ किसान आन्दोलन का नेतृत्व किया था।
- ❖ स्वामी दयानंद सरस्वती व आर्य समाज ने राजस्थान में जन–जागृति फैलाई।
- ❖ केसरीसिंह बारहठ ने ''चेतावनी रा चूगटयॉ'' नामक सोरठा लिखा।
- ❖ राजस्थान केसरी, प्रताप और नवीन राजस्थान समाचार पत्रों ने क्रांति में योगदान दिया था।
- ❖ जनजाति आन्दोलन की मुख्य जाति भील थी ।
- ❖ स्वतन्त्रता के बाद राजस्थान का नेतृत्व प्रजामण्डल आन्दोलन के नेताओं ने किया था।
- ❖ राजस्थान का एकीकरण सात चरणों में सम्पन्न हुआ था।
- ❖ लावा, कुशलगढ व नीमराना चीपशीप रियासतें थी।
- ❖ स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय राजस्थान में 22 रियासतें थीं उसमें से 19 स्वतन्त्र व 3 चीपशिप थी।
- ❖ अजमेर–मेरवाडा ब्रिटिश नियंत्रित राज्य था।
- ❖ राजस्थान की रियासतों का एकीकरण लौह पुरूष सरदार बल्लभ भाई पटेल की दूरदर्शिता, कूटनीति एवं ''रियासत विभाग'' के अथक् प्रयासों से संभव हो सका।
- ❖ भारत सरकार के ''रियासत विभाग'' के निर्णयानुसार स्वतंत्र भारत में वे ही रियासतें अपना पृथक अस्तित्व रख सकेंगी, जिनकी आय ''एक करोड़ रूपये वार्षिक'' और जनसंख्या दस लाख या उससे अधिक हो।
- ❖ राजस्थान के एकीकरण का प्रथम चरण अलवर, भरतपुर, धौलपुर एवं करौली को मिलाकर ''मत्स्य संघ'' के रूप में पूर्ण हुआ।
- ❖ सबसे बड़ा संघ 9 राज्यों बाँसवाड़ा,डूँगरपुर, प्रतापगढ़, कोटा, बूँदी, झालावाड़,किशनगढ़, शाहपुरा व टोंक को मिलाकर ''संयुक्त राजस्थान'' के नाम से बना।
- ❖ वृहत राजस्थान की राजधानी ''जयपुर'' को घोषित किया गया तथा राजस्थान के बड़े नगरों का महत्त्व बनाए रखने के लिए कुछ राज्य स्तर के सरकारी कार्यालय यथा हाईकोर्ट जोधपुर में, शिक्षा विभाग बीकानेर में खनिज विभाग उदयपुर में तथा कृषि विभाग भरतपुर में स्थापित किए गये।
- ❖ मत्स्य संघ के क्षेत्र भरतपुर व धौलपुर उत्तर प्रदेश (उ.प्र.) में विलय के इच्छुक थे।
- ❖ ''सिरोही के विलय'' को लेकर गुजरात एवं राजस्थान के मध्य मतभेद हुए, परन्तु राजस्थान की जनता एवं जननायकों के दबाव के फलस्वरूप सिरोही का विलय'' राजस्थान में ही किया गया।
- ❖ राज्य पुनर्गठन आयोग की सिफारिशों द्वारा 1 नवम्बर 1956 को सिरोही के माउन्ट आबू वाले क्षेत्र के साथ–साथ अजमेर व मेरवाड़ा को भी एकीकृत राजस्थान में मिलाकर आधुनिक राजस्थान का निर्माण किया गया।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

1 राजस्थान में क्रांन्ति की शुरूआत कहाँ से हुई ?
(अ) नसीराबाद
(ब) नीमच
(स) मेवाड़
(द) मारवाड

2 आऊवा का संबंध किससे है ?
(अ) रामसिंह
(ब) खुशाल सिंह
(स) लक्ष्मणसिंह
(द) जोरावर सिंह

.3 बिजौलिया किसान आन्दोलन के नेतृत्व कर्ता थे?
(अ) नयनूराम शर्मा
(ब) हरिभाऊ उपाध्याय
(स) विजयसिंह पथिक
(घ) जमनालाल

4 चेतावनी रा चूगटयॉ सोरठा किसने लिखा ?
(अ) प्रतापसिंह बार

संदर्भ ग्रन्थ

बी.एन. मुखर्जी – स्टडीज इन कुषाण जियनोलॉजी एण्ड क्रोनोलॉजी

एस.के. पाठक – लाइफ ऑफ नागार्जुन

पाउलमेंशन – एनसिएन्ट इण्डिया एण्ड इण्डियन सिविलाइजेशन

के.पी. जैसवाल – हिस्ट्री ऑफ इण्डिया

के.सी. ओझा – हिस्ट्री ऑफ फारेन इन एनसिएन्ट इण्डिया

भावतशरण उपाध्याय – वृहतर भारत

डॉ. गोपीनाथ शर्मा– राजस्थान का इतिहास

रघुवीर सिंह– दुर्गादास राठौड

पण्डित विश्वेश्वर नाथ रेऊ– मारवाड़ का इतिहास

हीरानन्द कायस्थ– तारीख–ए–किला–रणथम्भौर

जगदीश सिंह गहलोत– राजपूताने का इतिहास

गौरीशंकर हीराचन्द ओझा– राजपूताने का इतिहास

पं. नरोत्तमदास स्वामी– बांकीदास री ख्यात

रघुवीर सिंह– जोधपुर राज्य की ख्यात

राजेन्द्र शंकर भट्ट– मेवाड़ के महाराणा और शहंशाह अकबर

मीरा मित्र– महाराजा अजीतसिंह और उनका युग

मुंशी देवीप्रसाद– औरंगजेबनामा

कविराज श्यामलदास– वीर विनोद

डॉ. गोपीनाथ शर्मा– ऐतिहासिक निबन्ध राजस्थान

रघुवीर सिंह– पूर्व आधुनिक राजस्थान

दीनानाथ दुबे– भारत के दुर्ग

गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, – ओझा निबन्ध–संग्रह (भाग–2) :
विद्याद्यर महाजन तथा
सावित्री महाजन– भारत 1526 से आगे

बी.एल. ग्रोवर, यशपाल– आधुनिक भारत का इतिहासः एक नवीन मूल्यांकन

डॉ. सत्या राय– भारत में उपनिवेशवाद

डॉ मोहन लाल साहू– भारत का इतिहास एंव संस्कृति 1526–1950

प्रो. टी. के. माथुर– भारत का इतिहास एंव संस्कृति 1526–1950

डॉ. के.एस. सक्सेना– राजस्थान में राजनैतिक जन–जागरण

डॉ. जे.के़. ओझा–	मेवाड़ का इतिहास
पृथ्वीसिंह मेहता–	हमारा राजस्थान
डॉ. गोपीनाथ शर्मा–	राजस्थान का सांस्कृतिक इतिहास
डॉ.बी.एल. पानगड़िया–	राजस्थान में स्वतंत्रता संग्राम
डॉ. रामप्रसाद व्यास–	आधुनिक राजस्थान का वृहत इतिहास
डॉ. मुरारी लाल शर्मा–	राजस्थान का इतिहास एवं संस्कृति
पट्टाभि सीतारम्मैया–	दि हिस्ट्री ऑफ इंडियन नेशनल कांग्रेस
सुभाषचंद्र बोस –	द इंडियन स्ट्रगल
अयोध्या सिंह–	भारत का मुक्ति संग्राम
विपिन चंद्र–	भारत का स्वतंत्रता संघर्ष
रामलखन शुक्ल (सं.)–	आधुनिक भारत का इतिहास
अबुल कलाम आजाद–	इंडिया विंस फ्रीडम
गुलाबराव महाराज–	विश्व व्यापिनी हिन्दी संस्कृति
म्यूर –	हिस्टी ऑफ इण्डिया
सरवाल्टर रैले –	हिस्टी ऑफ वर्ल्ड
कर्नल अल्काट–	थियोसोफी, मार्च 1881 का अंक
मैक्समूलर –	इण्डिया व्हाट केन इट टीच अस
मसूदी–	मिडास ऑफ दी गोल्ड
डॉ आशीष आसोपा–	अतीत से साक्षात्कार
डॉ. के.जी.शर्मा, एच.सी.जैन–	भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास
शर्मा, शल्य, शर्मा–	प्राचीन भारत का इतिहास
शिवकुमार मिश्रा–	राजस्थानी संस्कृति :परम्परा,कला एवं साहित्य
शिवकुमार गुप्त–	भारतीय संस्कृति के मुख्य आधार
वी.पी.मेनन–	दी स्टोरी ऑफ दी इन्टीग्रेशन ऑफ दी इण्डियन स्टेट्स
शिवकुमार आस्थाना–	भारत का सांस्कृतिक स्राम्राज्य
शरद् हेबालकर–	भारतीय संस्कृति का विश्व संचार
सुरेश सोनी–	हमारी सांस्कृतिक विचारधारा के मूल स्रोत
देवेन्द्र सिंह चौहान–	पुण्य सलिला सरस्वती नदी
राजेन्द्र प्रसाद मिश्र–	वैदिक ऋषि परम्परा एवं वंशावलियां
बाबूलाल भाट–	वंशावली लेखन परम्परा में 20 वीं शताब्दी के बून्दी राज्य का सामाजिक व आर्थिक जीवन

शब्दावली

रेजीडेन्ट–	देशी राज्यों में अग्रेंजी सरकार का प्रतिनिधि
छावनी–	सेना के रहने का स्थान
लाग–बाग–	लगान की लागत
बेगार–	बिना पारिश्रमिक दिये कार्य करवाना
हाड़ौती –	कोटा, बूंदी, बारॉ व झालावाड़ का क्षेत्र
प्रजा मण्डल–	आम नागरिक का लोकतांत्रिक संगठन
मत्स्य संघ–	भरतपुर, अलवर व करौली का क्षेत्र
साम्प्रदायिक–	सम्प्रदाय विशेष से सम्बन्धित
अधिनियम–	कानून
अन्तरिम–	अस्थायी व्यवस्था
गाजी–	धर्म युद्ध में विजय प्राप्त करने वाला योद्धा।
चौथ–	शिवाजी द्वारा पड़ोसी राज्यों से लिया जाने वाला उनकी आय का 1/4 अंश।
फरमान–	राजाज्ञा
फतवा–	किसी धार्मिक या न्यायिक प्रश्न पर शरियत के अनुसार निर्णय
मनसब–	मुगल सेना एवं प्रशासन से सम्बन्धित पदानुक्रम
मंजनीक–	पत्थर फेंकने का यंत्र
पशेब–	विशेष प्रकार के चबुतरे, जो किले की ऊँचाई तक पहुँचने के लिये बनाए जाते थे।
मगरबी–	ज्वलनशील पदार्थ फैंकने का यंत्र
टर्रादा–	पत्थरों की वर्षा करने वाला यंत्र
फदिया–	चौहानों के पतन से 1540 ई. के मध्य राजस्थान में प्रचलित स्वतन्त्र मुद्रा शैली।
बैक्ट्रियन–	मध्य एशिया की यूनानी शाखा
श्रेणियाँ–	व्यापारियों के वर्ग
परिनिर्वाण–	सांसारिक उलझन से मुक्ति
प्रतिरोध–	मुकाबला करना
विक्रमादित्य–	अत्यन्त पराक्रमी उपाधि
सहिष्णुता–	सहन करने की क्षमता
रेशम मार्ग–	चीन से रोम तक जाने वाला व्यापारिक मार्ग
संधिकाल–	एक व्यवस्था पतन की ओर एवं दूसरी व्यवस्था का शुरूआती दौर
विश्वसंचार–	विश्व में व्याप्त
गोदीवाड़ा–	बन्दरगाह
विलीनीकरण–	समाहित हो जाना
सीमान्त–	सीमा का अन्तिम क्षेत्र
रजाकार–	हैदराबाद के शासक के कर्मचारी

संस्करण : 2017

© माध्यमिक शिक्षा बोर्ड राजस्थान, अजमेर
© राजस्थान राज्य पाठ्यपुस्तक मण्डल, जयपुर

मूल्य :

पेपर उपयोग : 80 जी.एस.एम. मैफलीथो पेपर
आर.एस.टी.बी. वाटरमार्क

कवर पेपर : 220 जी.एस.एम. इण्डियन आर्ट
कार्ड कवर पेपर

प्रकाशक : **राजस्थान राज्य पाठ्यपुस्तक मण्डल**
2–2 ए, झालाना डूंगरी, जयपुर

मुद्रक :

मुद्रण संख्या :

सर्वाधिकार सुरक्षित

- प्रकाशक की पूर्व अनुमति के बिना इस प्रकाशन के किसी भाग को छापना तथा इलैक्ट्रानिकी, मशीनी, फोटोप्रतिलिपि, रिकॉर्डिंग अथवा किसी अन्य विधि से पुनः प्रयोग पद्धति द्वारा उसका संग्रहण अथवा प्रसारण वर्जित है।

- इस पुस्तक की बिक्री इस शर्त के साथ की गई है कि प्रकाशक की पूर्व अनुमति के बिना यह पुस्तक अपने मूल आवरण अथवा जिल्द के अलावा किसी अन्य प्रकार से व्यापार द्वारा उधारी पर, पुनर्विक्रय या किराए पर न दी जाएगी, न बेची जाऐगी।

- इस प्रकाशन का सही मूल्य इस पृष्ठ पर मुद्रित है। रबड़ की मुहर अथवा चिपकाई गई पर्ची (स्टिकर) या किसी अन्य विधि द्वारा अंकित कोई भी संशोधित मूल्य गलत है तथा मान्य नहीं होगा।

- किसी भी प्रकार का कोई परिवर्तन केवल प्रकाशक द्वारा ही किया जा सकेगा।

पाठ्यपुस्तक निर्माण समिति

पुस्तक : इतिहास

कक्षा – 12

संयोजक एवं लेखक

डॉ. मोहनलाल साहु, पूर्व विभागाध्यक्ष–इतिहास
राजकीय महाविद्यालय, जालोर

लेखकगण

डॉ. शिवकुमार मिश्रा,
व्याख्याता–इतिहास
राजकीय महाविद्यालय,कोटा

बलवीर चौधरी,
व्याख्याता–इतिहास
राजकीय महाविद्यालय,जोधपुर

अनूप कुमार माथुर, प्रधानाचार्य
राज. उच्च माध्यमिक विद्यालय,
रामनगर, अजमेर

संजय श्रीवास्तव, प्रधानाचार्य
राज. उच्च माध्यमिक विद्यालय,
रोटवाड़ा, जयपुर

अरविन्द सिंह भास्कर,
व्याख्याता–इतिहास
राज.उ.मा. विद्यालय, बलारां, सीकर

निःशुल्क वितरण हेतु

पाठ्यक्रम निर्माण समिति

पुस्तक : इतिहास

कक्षा – 12

संयोजक : डॉ. के.एस. गुप्ता, सेवानिवृत्त
23, पद्मिनी मार्ग, रवीन्द्र नगर, उदयपुर

सदस्य

1. डॉ. सतीश कुमार त्रिगुणायत, व्याख्याता
महाराजा सूरजमल बृज विश्वविद्यालय
एम.एस.जे. कॉलेज कैम्पस, भरतपुर

2. डॉ. ओम प्रकाश सिंह, व्याख्याता
राजकीय उच्च माध्यमिक विद्यालय, माणक चौक, जयपुर

3. श्री संतोष कुमार शर्मा, प्राध्यापक
संस्कृत शिक्षा निदेशालय, शिक्षा संकुल, जयपुर

4. श्री अजय जैन, व्याख्याता
राजकीय उच्च माध्यमिक विद्यालय, बून्दी

5. श्री पूनाराम, वरि. अध्यापक
राजकीय उच्च माध्यमिक विद्यालय, भीमाना, सिरोही

दो शब्द

विद्यार्थी के लिए पाठ्यपुस्तक क्रमबद्ध अध्ययन, पुष्टीकरण, समीक्षा और आगामी अध्ययन का आधार होती है। विषय-वस्तु और शिक्षण-विधि की दृष्टि से विद्यालयी पाठ्यपुस्तक का स्तर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो जाता है। पाठ्यपुस्तकों को कभी जड़ या महिमामण्डित करने वाली नहीं बनने दी जानी चाहिए। पाठ्यपुस्तक आज भी शिक्षण-अधिगम-प्रक्रिया का एक अनिवार्य उपकरण बनी हुई है, जिसकी हम उपेक्षा नहीं कर सकते।

पिछले कुछ वर्षों में माध्यमिक शिक्षा बोर्ड के पाठ्यक्रम में राजस्थान की भाषागत एवं सांस्कृतिक स्थितियों के प्रतिनिधित्व का अभाव महसूस किया जा रहा था, इसे दृष्टिगत रखते हुए राज्य सरकार द्वारा कक्षा-9 से 12 के विद्यार्थियों के लिए माध्यमिक शिक्षा बोर्ड, राजस्थान द्वारा अपना पाठ्यक्रम लागू करने का निर्णय लिया गया है। इसी के अनुरूप बोर्ड द्वारा शिक्षण सत्र 2016-17 से कक्षा-9 व 11 तथा सत्र 2017-18 से कक्षा-10 व 12 की पाठ्यपुस्तकें बोर्ड के निर्धारित पाठ्यक्रम के आधार पर ही तैयार कराई गई हैं। आशा है कि ये पुस्तकें विद्यार्थियों में मौलिक सोच, चिंतन एवं अभिव्यक्ति के अवसर प्रदान करेंगी।

प्रो. बी.एल. चौधरी
अध्यक्ष
माध्यमिक शिक्षा बोर्ड राजस्थान, अजमेर

निःशुल्क वितरण हेतु

भूमिका

किसी भी देश का इतिहास उसकी सभ्यता व संस्कृति का दर्पण होता है। प्रस्तुत पुस्तक में भारत के ऐतिहासिक व राष्ट्रीय गौरव को पुनःस्थापित करने का प्रयास किया गया है। भारतीय इतिहास व संस्कृति के वैभवशाली अतीत, सामाजिक, धार्मिक, , राजनीतिक, आर्थिक, साहित्यिक, कलात्मक एवं वैज्ञानिक उपलब्धियों, महान् शासकों व महापुरुषों का तथ्यात्मक विवरण प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। मौर्य और गुप्त वंश के शासकों की गौरवमयी उपलब्धियों को सम्मिलित किया गया है। गुप्तों के बाद हर्षवर्द्धन द्वारा राजनैतिक एकीकरण और दक्षिण भारत में चोल शासकों के नेतृत्व में हुए सांस्कृतिक विकास को दर्शाया गया है। यूनानी, शक, कुषाण आदि विदेशी जातियों ने भारतीय परम्पराओं को अपनाया और इनका भारतीय समाज व संस्कृति में विलीनीकरण हो गया। विदेशी आक्रमणकारियों के विरूद्ध यहाँ के शासकों ने अपनी आन–बान और शान के लिए लम्बा किन्तु जीवंत प्रतिरोध किया। 1857 की क्रांति से लेकर भारत के सम्पूर्ण स्वतन्त्रता संग्राम को क्रमबद्ध रूप से प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। राजस्थान के स्वाधीनता आन्दोलन का विवरण देते हुए किसान एवं जनजातीय आन्दोलनों के माध्यम से आम आदमी के संघर्ष को निकट से देखने का प्रयास किया गया है।

पुस्तक का लेखन माध्यमिक शिक्षा बोर्ड, राजस्थान द्वारा निर्धारित कक्षा–12 के नवीन पाठ्यक्रमानुसार किया गया है। इस बात का भी ध्यान रखा गया है कि विद्यार्थी अपनी पाठ्य सामग्री के अध्ययन के साथ ही हमारे अतीत के गौरव व महापुरुषों से प्रेरणा लेकर अपने आप को संस्कारवान बना सकें एवं स्वयं को देशभक्त नागरिक के रूप में तैयार कर सकें। यह भी प्रयास किया गया है कि उन्हें इस बात की भी जानकारी प्राप्त हो सके कि प्राचीनकाल में भारत का सांस्कृतिक साम्राज्य विश्वव्यापी था। पुस्तक में भारत की पाषाणकालीन संस्कृति से लेकर आधुनिक काल तक की घटनाओं को सम्मिलित किया गया है। स्वतन्त्रता के संघर्ष में आन्दोलनकारियों के साथ ही क्रांतिकारियों के त्याग एवं बलिदान को भी पुस्तक में पर्याप्त स्थान दिया गया है। पुस्तक में उपरोक्त विवरण साक्ष्याधारित है। आशा है विद्यार्थियों के लिए हमारा यह प्रयास उपयोगी सिद्ध होगा।

अपने लेखन में हमने जिन विद्वानों के ज्ञानग्रंथों, चित्रों एवं मानचित्रों की सहायता ली है, हम उन सभी के प्रति आभार प्रकट करते हैं। माध्यमिक शिक्षा बोर्ड, राजस्थान एवं राजस्थान राज्य पाठ्यपुस्तक मण्डल को पुस्तक लेखन व प्रकाशन का कार्य करवाने के लिए हार्दिक बधाई व अभिनन्दन। पुस्तक लेखन में त्रुटियाँ रह सकती हैं, उन्हें दूर करने तथा पुस्तक को और अधिक प्रभावी व आकर्षक बनाने के लिए विद्वज्जन के सुझावों का स्वागत है।

संयोजक एवं लेखकगण

कक्षा – XII

भारत का इतिहास

पूर्णांक–80

1. भारत का वैभवपूर्ण अतीत – 10

(I) ऐतिहासिक स्त्रोतः साहित्यिक– विभिन्न भाषायी ग्रंथ, विदेशी यात्रियों के विवरण, वंशावलियां– पुरातात्विक एवं पुरालेखीय

(II) उपलब्धियां– सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक स्थिति, कला, साहित्य एवं विज्ञान

2. भारतीय इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठ – 15

(I) मौर्य काल –साम्राज्य स्थापना एवं प्रशासन ,अशोक का धम्म

(ii) गुप्त साम्राज्य की स्थापना– आर्थिक स्थिति, कला, साहित्य एवं विज्ञान

(iii) हर्षकालीन भारत

(iv) दक्षिण भारत – चोल प्रशासन, कला एवं साहित्य

(v) विजयनगर साम्राज्य उदय, कला एवं साहित्य का विकास

3. बाह्य आक्रमण एवं आत्मसातीकरण – 10

यूनानी, शक, हूण एवं कुषाण – उद्देश्य तथा प्रभाव

4. मुगल आकमण – उद्देश्य एवं प्रभाव 10

(i) अरब आक्रमण– दाहिर सेन, नागभट्ट, बप्पा रावल एवं अन्य

(ii) तुर्क आक्रमण – पृथ्वीराज चौहान, हम्मीर, रावल रतन सिंह, कुम्भा

(iii) मुगल आक्रमण – राणा सांगा, चन्द्रसेन, महाराणा प्रताप, दुर्गादास, शिवाजी एवं पेशवा।

5. उपनिवेशवादी आक्रमण – 10

(i) भूमिका, उत्पतिं, विस्तार

(ii) भारत में उपनिवेशवादी आक्रमण

(iii) 1857 की क्रान्ति का स्वरूप, कारण एवं परिणाम

6. आधुनिक स्वाधीनता आन्दोलन – 15

(i) सामाजिक आन्दोलन – ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज ,रामकृष्ण मिशन

(ii) क्रान्तिकारी आन्दोलन – जनजातीय प्रतिरोध, अभिनव भारत, हिन्दुस्थान सोशलिस्ट रिपब्लिकन ऐसोशिएशन, गदर पार्टी, आजाद हिन्द फौज

निःशुल्क वितरण हेतु

(iii) राजनैतिक आन्दोलन –

(अ)1885–1907 : 1885 के पूर्व की स्थिति, अंग्रेजी राज्य के प्रति जन भावना, विभिन्न संगठन, कांग्रेस की स्थापना, उद्देश्य, 1907 तक की कार्यप्रणाली, बंग भंग– कारण एवं प्रभाव।

(ब)1907–1919 : कांग्रेस में आंतरिक विरोध, इसके परिणाम, अंग्रेज सरकार की प्रतिक्रिया, 1909 एवं 1919 के अधिनियमों का आलोचनात्मक विश्लेषण, प्रथम विश्व युद्ध एवं भारत, जलियानवाला हत्याकांड।

(स) 1920–1947 : राजनैतिक वातावरण, असहयोग एवं खिलाफत आंदोलन– परिणाम एवं प्रतिकियाएं, 1922 से 1930 तक के घटनाकम, सविनय अवज्ञा आंदोलन, गोलमेज सम्मेलन, 1935 का अधिनियम, प्रांतीय सरकारों का निर्माण, 1942 का आंदोलन, द्वितीय विश्वयुद्ध एवं भारत, विभाजन एवं स्वतंत्रता, समस्याएं।

7. राजस्थान – (i) स्वाधीनता संग्राम– 1857 से 1947 तक 10
(ii) एकीकरण– 1947 से 1956 तक

विषय सूची

अध्याय	शीर्षक	पृष्ठ सं.
1	भारत का वैभवपूर्ण अतीत	1
2.	भारतीय इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठ	22
3.	बाह्य आक्रमण एवं आत्मसातीकरण	44
4.	मुगल आक्रमण : प्रकार और प्रभाव	58
5.	उपनिवेशवादी आक्रमण	85
6.	आधुनिक भारत का स्वाधीनता आंदोलन	106
7.	राजस्थान का स्वाधीनता संग्राम एवं एकीकरण	145

नि:शुल्क वितरण हेतु